



श्री परमात्मने नमः

धन्यमुनिदशा

भाग - 2

दिगम्बर मुनिदशा की महिमा, मुनिराज के उत्तरगुण इत्यादि का
स्वरूप दर्शानेवाले, पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के
मङ्गल प्रवचनों का अनुपम सङ्कलन

सङ्कलन, हिन्दी रूपान्तरण एवं सम्पादन :

पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन

बिजौलियां, जिला-भीलवाड़ (राज.)

: प्रकाशक :

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट

सोनगढ़ (सौराष्ट्र) - 364250

फोन : 02846-244334

: सह-प्रकाशक :

श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट

302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, नवयुग सी.एच.एस. लि.

वी. एल. मेहता मार्ग, विलेपार्ले (वेस्ट), मुम्बई-400 056

फोन : (022) 26130820

विक्रम संवत्
2077

वीर संवत्
2547

ई. सन
2021

—: प्रकाशन :—

वात्सल्य पर्व : मुनिरक्षा दिन, श्रावण शुक्ल पूर्णिमा
एवं
प्रशममूर्ति पूज्य बहिनश्री चम्पाबहिन की
108वीं जन्म-जयन्ती (भाद्र कृष्ण दूज)
के पावन अवसर पर

—: प्राप्ति स्थान :—

1. श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र) - 364250 फोन : 02846-244334
2. श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट
302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, नवयुग सी.एच.एस. लि.
वी. एल. मेहता मार्ग, विलेपार्ला (वेस्ट), मुम्बई-400 056
फोन : (022) 26130820, 26104912, 62369046
www.vitragvani.com, email - info@vitragvani.com

टाईप सेटिंग :
विवेक कम्प्यूटर
अलीगढ़ ।

प्रकाशकीय

पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के, परमपूज्य दिगम्बर जैन मुनिदशा की भावना, महिमा एवं मुनिराज के भेद-प्रभेद तथा उनके स्वरूप को दर्शानेवाले विविध प्रवचनों का अद्भुत सङ्कलन **धन्य-मुनिदशा (भाग-2)** का प्रस्तुत संस्करण सद्धर्म प्रेमी साधर्मिजनों को समर्पित करते हुए, हमें अत्यन्त प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है।

वर्तमान शताब्दी में दृष्टिगोचर दिगम्बर जिनधर्म की प्रभावना में पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी का अविस्मरणीय योगदान रहा है। पूज्यश्री ने स्थानकवासी श्वेताम्बर जैन सम्प्रदाय में जन्म लेकर, स्वयं बुद्ध की तरह न केवल सत्य का अनुसन्धान ही किया, अपितु उसे प्राप्त भी किया और प्रचारित भी किया। आज इसमें कोई मतभेद नहीं है कि यदि पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी का उदय नहीं हुआ होता तो दिगम्बर जैन समाज में आध्यात्मिक जागृति का नितान्त अभाव ही रहता।

विक्रम सम्वत् 1978 की वह पावन घड़ी, जिस दिन पूज्य गुरुदेवश्री के करकमलों में शासनस्तम्भ श्रीमद् भगवत् कुन्दकुन्दाचार्यदेव द्वारा विरचित समयसार परमागम आया, जिसे प्राप्त कर उन्होंने क्या नहीं पाया ? क्या नहीं छोड़ा ? भगवान समयसारस्वरूप शुद्धात्मा को पाया और मिथ्यामताग्रह का विष छोड़ा। तभी से लगातार 45 वर्षों तक पूज्यश्री के द्वारा वीतरागी जिनशासन की जो अभूतपूर्व प्रभावना हुई, वह आज देश-विदेश में अपनी जड़ें जमा चुकी है।

यद्यपि पूज्य गुरुदेवश्री आज सदेह उपस्थित नहीं हैं, तथापि उनकी वाणी कैसेट्स, सी.डी. एवं डी.वी.डी. में अवतीर्ण होकर तथा सत्साहित्य के रूप में प्रकाशित होकर, साथ ही वर्तमान सुलभ साधनों के माध्यम से इंटरनेट, यूट्यूब इत्यादि के रूप में प्रकाशित होकर इस पञ्चम काल के अन्त तक भव्यजीवों को मुक्तिमार्ग का बोध प्रदान करती रहेगी।

पूज्य गुरुदेवश्री के मङ्गल प्रभावना उदय में सैकड़ों जिन मन्दिरों एवं कई भव्य सङ्कुलों का निर्माण हुआ है, जो उनके द्वारा प्रसारित भगवान महावीर के जीव मात्र को हितकारी आध्यात्मिक सन्देशों के व्यापक प्रचार-प्रसार में संलग्न है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में समागत प्रवचनों का सङ्कलन पूज्य गुरुदेवश्री के विविध परमागमों पर हुए प्रवचनों से किया गया है, जो आत्मधर्म के प्राचीन अङ्कों, सद्गुरु प्रवचन प्रसाद दैनिक एवं विविध प्रवचन ग्रन्थों में गुजराती भाषा में प्रकाशित हो चुके हैं। इस ग्रन्थ में समाहित प्रवचनों का सुव्यवस्थित सम्पादन एवं हिन्दी अनुवाद कार्य पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन, बिजौलिया द्वारा सम्पन्न किया गया है। जो हमें मुनि भगवन्तों के सम्यक् स्वरूप का परिचय कराने के साथ-साथ उनके गरिमामय जीवन की उल्लेखनीय प्रस्तुति में भी कारणभूत है।

प्रस्तुत धन्य मुनिदशा (प्रवचन शृंखला) ग्रन्थ के भाग-1 का प्रकाशन तीर्थधाम मंगलायतन द्वारा अनेक वर्षों पूर्व किया जा चुका है। अब इस ग्रन्थ का भाग 2 और भाग 3 का प्रकाशन कर जन-जन तक पहुँचाने का सफल प्रयास किया जा रहा है।

प्रस्तुत ग्रन्थ www.vitragvani.com वेब साईट पर शास्त्रभण्डार, पूज्य गुरुदेवश्री के संकलित प्रवचन में भी उपलब्ध है। साथ ही वीतरागवाणी एप भी इसका लाभ प्राप्त किया जा सकता है।

सभी साधर्मीजन इस प्रवचन ग्रन्थ का स्वाध्याय करके निज आत्महित साधें – यही भावना है।

ट्रस्टीगण,
श्री कुन्दकुन्द कहान पारमार्थिक ट्रस्ट,
विलेपार्ला, मुम्बई

सम्पादकीय

वीतरागमार्ग के साधक / उपासक ज्ञानी धर्मात्माओं के अन्तःस्थल में वीतरागी देव-शास्त्र-गुरु के प्रति दृढ़ आस्था, समर्पण एवं उछलती हुई भक्ति विद्यमान होती है। प्रत्येक सम्यग्दृष्टि साधक का अन्तरङ्ग, संयम की उत्कृष्ट भावना से ओतप्रोत होता है। अपनी चारित्रिक निर्बलता के कारण संयम धारण न कर पाने पर भी उनके जीवन में संयम एवं संयमियों के प्रति अहो भाव विद्यमान रहता है।

जैनदर्शन के अनुसार वीतरागी देव तो पूर्णता को प्राप्त परमात्मा कहलाते हैं, वे कृतकृत्य एवं पूर्ण अतीन्द्रिय आनन्द के भोगी सर्वज्ञ होते हैं। उनकी वाणी एवं उसी परम्परा से कथित वीतरागी सन्तों, ज्ञानी धर्मात्माओं की वाणी, जिनवाणी कहलाती है। जो पूर्णता के लिए प्रयत्नशील हैं, अतीन्द्रिय आनन्द के भोजी एवं विषय-वासनाओं की भावना से अत्यन्त दूर, ज्ञान-ध्यान और तप में लीन हैं, वे मुनिराज ही हमारे गुरु कहलाते हैं।

मुनिराज की अन्तःपरिणति को दर्शाते हुए रत्नकरण्ड श्रावकाचार में कहा है कि —

विषयाशावशातीतो निरारम्भोऽपरिग्रहः ।

ज्ञानध्यानतपोरक्तः तपस्वी स प्रशस्यते ॥ 10 ॥

अर्थात् जो पाँच इन्द्रियों के विषयों की आशा, अर्थात् वाँछा से रहित हों; छह काय के जीवों का जिसमें घात होता है, ऐसे आरम्भ से रहित हों; अन्तरङ्ग-बहिरङ्ग समस्त परिग्रहों से रहित हों; ज्ञान-ध्यान-तप में आसक्त हों, वे तपस्वी, अर्थात् गुरु हैं, वे ही प्रशंसनीय हैं।

अनेक ग्रन्थों के आधार पर पण्डित टोडरमलजी ने मोक्षमार्गप्रकाशक ग्रन्थ (पृष्ठ-3) में मुनिदशा का सजीव चित्रण इस प्रकार किया है —

‘जो विरागी होकर, समस्त परिग्रह का त्याग करके, शुद्धोपयोगरूप मुनिधर्म अङ्गीकार

करके — अन्तरङ्ग में तो उस शुद्धोपयोग द्वारा अपने को आपरूप अनुभव करते हैं, परद्रव्य में अहंबुद्धि धारण नहीं करते, तथा अपने ज्ञानादिक स्वभाव ही को अपना मानते हैं, परभावों में ममत्व नहीं करते, तथा जो परद्रव्य व उनके स्वभाव ज्ञान में प्रतिभाषित होते हैं, उन्हें जानते तो हैं परन्तु इष्ट-अनिष्ट मानकर उनमें राग-द्वेष नहीं करते; शरीर की अनेक अवस्थाएँ होती हैं, बाह्य नाना निमित्त बनते हैं परन्तु वहाँ कुछ भी सुख-दुःख नहीं मानते तथा अपने योग्य बाह्य क्रिया जैसे बनती है, वैसे बनती है, खींचकर उनको नहीं करते तथा अपने उपयोग को बहुत नहीं भ्रमाते हैं, उदासीन होकर निश्चलवृत्ति को धारण करते हैं तथा कदाचित् मन्दराग के उदय से शुभोपयोग भी होता है — उससे जो शुद्धोपयोग के बाह्य साधन हैं, उनमें अनुराग करते हैं परन्तु उस रागभाव को हेय जानकर दूर करना चाहते हैं तथा तीव्र कषाय के उदय का अभाव होने से हिंसादिरूप अशुभोपयोगपरिणति का तो अस्तित्व ही नहीं रहा है — ऐसी अन्तरङ्ग (अवस्था) होने पर बाह्य दिगम्बर सौम्यमुद्राधारी हुए हैं। शरीर का सँवारना आदि विक्रियाओं से रहित हुए हैं; वनखण्डादि में वास करते हैं; अट्टाईस मूलगुणों का अखण्डित पालन करते हैं; बाईस परीषहों को सहन करते हैं; बारह प्रकार के तपों को आदरते हैं; कदाचित् ध्यानमुद्रा धारण करके प्रतिमावत् निश्चल होते हैं; कदाचित् अध्ययनादिक बाह्य धर्मक्रियाओं में प्रवर्तते हैं; कदाचित् मुनिधर्म के सहकारी शरीर की स्थिति के हेतु योग्य आहार-विहारादि क्रियाओं में सावधान होते हैं।

— ऐसे जैन मुनि हैं, उन सबकी ऐसी ही अवस्था होती है।’

वर्तमान शताब्दी के सर्वाधिक चर्चित व्यक्तित्व एवं हमारे जीवनशिल्पी पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के अन्तरङ्ग में ऐसे मुनि भगवन्तों के प्रति अपार भक्तिभाव तो था ही, वे स्वयं भी उस दशा की भावना भाते थे — जो उनके इन विचारों से स्पष्ट परिलक्षित होता है—

‘जैसे, पिता को देखते ही पुत्र को हर्ष होता है; उसी प्रकार अपने धर्मपिता को देखते ही धर्मात्मा के मन में हर्ष होता है। जिसे स्वप्न में भी ऐसे दिगम्बर सन्त के दर्शन के प्रति अरुचि का भाव आता है, वह जीव, पापी है। अरे! देवता भी जिनके चरणों में नमते हैं, कुन्दकुन्दाचार्यदेव जैसे महान सन्त भी जिनके लिये धन्य-धन्य कहते हैं — ऐसे दिगम्बर सन्त-मुनियों के प्रति जिस जीव को प्रमोद-भक्ति-बहुमान नहीं आता, वह जीव, मिथ्यादृष्टि है।

(अष्टपाहुड़ प्रवचन, 185)

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के आराधक वीतरागता के पिण्ड, मुनि चले आ रहे हों, वह

तो मानो साक्षात् मोक्षतत्त्व आया है। अहा! ऐसी मुनिदशारूप जिनमुद्रा जिसे नहीं रुचती, उसे आराधना का प्रेम ही नहीं है। ऐसी जिनमुद्राधारक मुनि के साक्षात् दर्शन होने पर मुमुक्षु जीव का हृदय आराधना के प्रति, भक्ति से उछल पड़ता है।

अरे! स्वप्न में भी जिसे ऐसी मुनिदशा के प्रति अरुचि आये अथवा उसके प्रति अवज्ञा हो, वह जीव गहन भववन में भटकता है, क्योंकि उसे आराधना के प्रति तिरस्कार है। धर्मी को तो स्वप्न में भी वीतरागी सन्त-धर्मात्मा का बहुमान आता है। स्वप्न में भी मुनि इत्यादि धर्मात्मा के दर्शन होने पर भक्ति से धर्मी का रोम-रोम उल्लसित हो जाता है।

(भावपाहुड़ पर प्रवचन से)

अहो! मुनिवर तो आत्मा के परम आनन्द में झूलते-झूलते मोक्ष की साधना कर रहे हैं। आत्मा के अनुभवपूर्वक दिगम्बर चारित्रदशा द्वारा मोक्ष की सिद्धि होती है। दिगम्बर साधु; अर्थात्, साक्षात् मुक्ति का मार्ग। अहो! ये तो छोटे सिद्ध हैं! अन्तर चिदानन्दस्वरूप में झूलते-झूलते बारम्बार शुद्धोपयोग द्वारा निर्विकल्प आनन्द का अनुभव करते हैं। पञ्च परमेष्ठी की पंक्ति में जिनका स्थान है, ऐसे मुनिराज की महिमा की क्या बात? ऐसे मुनिराज के दर्शन हों तो भी महान आनन्द की बात है। ऐसे मुनिवरों के तो हम दासानुदास हैं। हम उनके चरणाविन्द को नमन करते हैं। धन्य मुनिदशा! हम भी इस दशा की भावना भाते हैं।

(- गुरुदेवश्री के वचनामृत, 142, पृष्ठ 90)

सम्यग्दर्शनसहित चारित्रदशा होती है, वहाँ बाहर में भी दिगम्बर द्रव्यलिङ्ग होता है; इस प्रकार अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग वीतरागी जिनमुद्रा धारण करनेवाले सन्त मुनि स्वाधीन आत्मसुख का अनुभव करते हैं। आचार्यदेव स्वयं ऐसे स्वाधीन सुख का अनुभव करते हैं। ऐसी जिनमुद्रा धारक धर्मात्मा मुनियों के दर्शन में जिसे प्रमोद और भक्ति नहीं आती, वह जीव, आराधना से भ्रष्ट वर्तता हुआ संसार में ही भ्रमण करता है।

धर्मी जीव तो ऐसे आराधक मुनियों को देखते ही प्रमुदित होता है कि वाह धन्य आपकी आराधना! धन्य आपकी चारित्रदशा!! धन्य आपका अवतार!!! आप साक्षात् मोक्ष का साधन कर रहे हैं। इस प्रकार धर्मी जीव, प्रमोदपूर्वक अपनी रत्नत्रय की आराधना की भावना पुष्ट करता है।'

(भावपाहुड़ पर प्रवचन से)

मुनिदशा के सम्बन्ध में गुरुदेवश्री के चिन्तन की वास्तविक वस्तुस्थिति ऐसी होने पर भी कतिपय निहित स्वार्थों के कारण पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी एवं

उनके अनुयायियों पर मुनि विरोधी होने के आरोप सदा से लगाये जाते रहे हैं। यद्यपि वे आरोप, मात्र अनर्गल कल्पना ही हैं, तथापि उससे सामाजिक वातावरण तो दूषित होता ही है।

पूज्य गुरुदेवश्री पर मुनि विरोधी होने का अनर्गल आरोप शायद इसलिए भी लगाया गया कि उन्होंने कभी शिथिलाचार एवं शिथिलाचारियों का समर्थन नहीं किया। उन्होंने आगम, युक्ति और तर्क के आधार पर अपनी बात को रखा और उसमें शिथिलाचार के विरुद्ध एक सशक्त वातावरण का निर्माण किया। शायद यही कारण रहा कि शिथिलाचार के समर्थक वर्ग द्वारा उन्हें मुनि विरोधी कहा जाने लगा।

यदि शिथिलाचार का निषेध और मुनिराज के वास्तविक स्वरूप का प्रतिपादन ही मुनि-विरोध है तो आचार्य कुन्दकुन्द, वट्टकेर, सकलकीर्ति, गुणभद्र, समन्तभद्र इत्यादि सभी वीतरागी सन्त, मुनि-विरोधी सिद्ध हो जाएँगे, क्योंकि उन्होंने अपने ग्रन्थों में कहीं भी शिथिलाचार का समर्थन या पोषण नहीं किया है, अपितु उसके विरुद्ध दृढ़तापूर्वक अपनी लेखनी चलाई है।

पूज्य गुरुदेवश्री ने भी उन्हीं वीतरागी सन्तों की दिव्यदेशना को अपनी सरलतम भाषा में प्रस्तुत कर, सम्पूर्ण दिगम्बर जैन समाज पर अपरिमित उपकार किया है।

पूज्य गुरुदेवश्री के इन्हीं उपकारों से उपकृत होकर, मेरी भावना मुनिधर्म सम्बन्धी गुरुदेवश्री के प्रवचन, कहानियाँ एवं वचनमृतों के संकलन की रही, जिसे तीर्थधाम मङ्गलायतन प्रवास के दौरान वहाँ से प्रकाशित मङ्गलायतन पत्रिका के 'धन्य मुनिदशा' के 42 विशेषांक प्रकाशित किये गये थे। जिसमें आगम-आधार पर लिखे गये सम्पादकीय, गुरुदेवश्री के प्रवचन, वचनमृत और मुनि जीवन की प्रेरक कथाएँ, सम्पूर्ण दिगम्बर जैन समाज में लोकप्रियता के चरम तक पहुँचे हैं और विचारशील वर्ग द्वारा पूज्य गुरुदेवश्री के सन्दर्भ में मुनि विरोधी की मिथ्या धारणायें प्रक्षालित हुई हैं।

मङ्गलायतन प्रवास के दौरान ही इस ग्रन्थ का प्रथम भाग प्रकाशित हुआ था, तत्पश्चात् भाग-2 एवं भाग-3 का कार्य अवरुद्ध था, जिसे अब पूर्णता को प्राप्त कराया जा रहा है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के सन्दर्भ में

प्रस्तुत ग्रन्थ धन्य मुनिदशा (भाग-2) है। इसमें पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के

वीतरागी दिगम्बर जैन मुनि भगवन्तों की महिमा; मुनिराज के उत्तरगुण इत्यादि का विशद विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

आभार प्रदर्शन —

इस ग्रन्थ के प्रकाशन के पावन अवसर पर सर्व प्रथम **वीतरागी देव-शास्त्र-गुरु** के श्रीचरणों में वन्दन करता हूँ, क्योंकि यह सभी इन्हीं की वाणी का प्रसाद है।

इन प्रवचनों की अमूल्य भेंट देकर परम पूज्य मुनिभगवन्तों के अन्तर्बाह्य जीवन का परिचय प्रदान करते हुए उस धन्यदशा का बहुमान एवं भावना उत्पन्न करानेवाले परम उपकारी तारणहार **पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी** के प्रति अपनी विनयाञ्जलि समर्पित करता हूँ।

इस प्रवचन ग्रन्थ की सुन्दर टाइप सैटिंग के महत्त्वपूर्ण कार्य के लिए विवेककुमार पाल के प्रति हार्दिक धन्यवाद ज्ञापित करता हूँ।

सभी आत्मार्थी जीव इस ग्रन्थ का अध्ययन कर वीतरागी दिगम्बर जैन मुनिभगवन्तों का सम्यक् स्वरूप पहचानकर, उनकी अन्तर्बाह्य परिणति को समझकर अपने में मुनिदशा की उत्कृष्ट भावना जागृत करें — इसी भावना के साथ।

दिनांक, 22 अगस्त 2021

वात्सल्य पूर्व : मुनिरक्षा दिन

देवेन्द्रकुमार जैन

बिजौलियां, जिला-भीलवाड़ा (राज.)

अध्यात्मयुगसृष्टा पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

(संक्षिप्त जीवनवृत्त)

भारतदेश के सौराष्ट्र प्रान्त में, बलभीपुर के समीप समागत 'उमराला' गाँव में स्थानकवासी सम्प्रदाय के दशाश्रीमाली वणिक परिवार के श्रेष्ठीवर्य श्री मोतीचन्दभाई के घर, माता उजमबा की कूख से विक्रम संवत् 1946 के वैशाख शुक्ल दूज, रविवार (दिनाङ्क 21 अप्रैल 1890 - ईस्वी) प्रातःकाल इन बाल महात्मा का जन्म हुआ।

जिस समय यह बाल महात्मा इस वसुधा पर पधारे, उस समय जैन समाज का जीवन अन्ध-विश्वास, रूढ़ि, अन्धश्रद्धा, पाखण्ड, और शुष्क क्रियाकाण्ड में फँस रहा था। जहाँ कहीं भी आध्यात्मिक चिन्तन चलता था, उस चिन्तन में अध्यात्म होता ही नहीं था। ऐसे इस अन्धकारमय कलिकाल में तेजस्वी कहानसूर्य का उदय हुआ।

पिताश्री ने सात वर्ष की लघुवय में लौकिक शिक्षा हेतु विद्यालय में प्रवेश दिलाया। प्रत्येक वस्तु के हार्द तक पहुँचने की तेजस्वी बुद्धि, प्रतिभा, मधुरभाषी, शान्तस्वभावी, सौम्य गम्भीर मुखमुद्रा, तथा स्वयं कुछ करने के स्वभाववाले होने से बाल 'कानजी' शिक्षकों तथा विद्यार्थियों में लोकप्रिय हो गये। विद्यालय और जैन पाठशाला के अभ्यास में प्रायः प्रथम नम्बर आता था, किन्तु विद्यालय की लौकिक शिक्षा से उन्हें सन्तोष नहीं होता था। अन्दर ही अन्दर ऐसा लगता था कि मैं जिसकी खोज में हूँ, वह यह नहीं है।

तेरह वर्ष की उम्र में छह कक्षा उत्तीर्ण होने के पश्चात्, पिताजी के साथ उनके व्यवसाय के कारण पालेज जाना हुआ, और चार वर्ष बाद पिताजी के स्वर्गवास के कारण, सत्रह वर्ष की उम्र में भागीदार के साथ व्यवसायिक प्रवृत्ति में जुड़ना हुआ।

व्यवसाय की प्रवृत्ति के समय भी आप अप्रमाणिकता से अत्यन्त दूर थे, सत्यनिष्ठा, नैतिज्ञता, निखालिसता और निर्दोषता से सुगन्धित आपका व्यावहारिक जीवन था। साथ ही आन्तरिक व्यापार और झुकाव तो सतत् सत्य की शोध में ही संलग्न था। दुकान पर भी धार्मिक पुस्तकें पढ़ते थे। वैरागी चित्तवाले कहानकुँवर कभी रात्रि को रामलीला या नाटक देखने जाते तो उसमें से वैराग्यरस का घोलन करते थे। जिसके फलस्वरूप पहली बार सत्रह वर्ष की उम्र में पूर्व की आराधना के संस्कार और मङ्गलमय उज्ज्वल भविष्य की अभिव्यक्ति करता हुआ, बारह लाईन का काव्य इस प्रकार रच जाता है —

शिवरमणी रमनार तूं, तूं ही देवनो देव।

उन्नीस वर्ष की उम्र से तो रात्रि का आहार, जल, तथा अचार का त्याग कर दिया था।

सत्य की शोध के लिए दीक्षा लेने के भाव से 22 वर्ष की युवा अवस्था में दुकान का परित्याग करके, गुरु के समक्ष आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत अंगीकार कर लिया और 24 वर्ष की उम्र में (अगहन शुक्ल

9, संवत् 1970) के दिन छोटे से उमराला गाँव में 2000 साधर्मियों के विशाल जनसमुदाय की उपस्थिति में स्थानकवासी सम्प्रदाय की दीक्षा अंगीकार कर ली। दीक्षा के समय हाथी पर चढ़ते हुए धोती फट जाने से तीक्ष्ण बुद्धि के धारक - इन महापुरुष को शंका हो गयी कि कुछ गलत हो रहा है परन्तु सत्य क्या है ? यह तो मुझे ही शोधना पड़ेगा।

दीक्षा के बाद सत्य के शोधक इन महात्मा ने स्थानकवासी और श्वेताम्बर सम्प्रदाय के समस्त आगमों का गहन अभ्यास मात्र चार वर्ष में पूर्ण कर लिया। सम्प्रदाय में बड़ी चर्चा चलती थी, कि कर्म है तो विकार होता है न ? यद्यपि गुरुदेवश्री को अभी दिगम्बर शास्त्र प्राप्त नहीं हुए थे, तथापि पूर्व संस्कार के बल से वे दृढ़तापूर्वक सिंह गर्जना करते हैं — **जीव स्वयं से स्वतन्त्ररूप से विकार करता है; कर्म से नहीं अथवा पर से नहीं। जीव अपने उल्टे पुरुषार्थ से विकार करता है और सुल्टे पुरुषार्थ से उसका नाश करता है।**

विक्रम संवत् 1978 में महावीर प्रभु के शासन-उद्धार का और हजारों मुमुक्षुओं के महान पुण्योदय का सूचक एक मङ्गलकारी पवित्र प्रसंग बना —

32 वर्ष की उम्र में, विधि के किसी धन्य पल में श्रीमद्भगवत् कुन्दकन्दाचार्यदेव रचित 'समयसार' नामक महान परमागम, एक सेठ द्वारा महाराजश्री के हस्तकमल में आया, इन पवित्र पुरुष के अन्तर में से सहज ही उद्गार निकले — **'सेठ! यह तो अशरीरी होने का शास्त्र है।'** इसका अध्ययन और चिन्तन करने से अन्तर में आनन्द और उल्लास प्रगट होता है। इन महापुरुष के अन्तरंग जीवन में भी परम पवित्र परिवर्तन हुआ। भूली पड़ी परिणति ने निज घर देखा। तत्पश्चात् श्री प्रवचनसार, अष्टपाहुड़, मोक्षमार्गप्रकाशक, द्रव्यसंग्रह, सम्यग्ज्ञानदीपिका इत्यादि दिगम्बर शास्त्रों के अभ्यास से आपको निःशंक निर्णय हो गया कि दिगम्बर जैनधर्म ही मूलमार्ग है और वही सच्चा धर्म है। इस कारण आपकी अन्तरंग श्रद्धा कुछ और बाहर में वेष कुछ — यह स्थिति आपको असह्य हो गयी। अतः अन्तरंग में अत्यन्त मनोमन्थन के पश्चात् सम्प्रदाय के परित्याग का निर्णय लिया।

परिवर्तन के लिये योग्य स्थान की खोज करते-करते सोनगढ़ आकर वहाँ 'स्टार ऑफ इण्डिया' नामक एकान्त मकान में महावीर प्रभु के जन्मदिवस, चैत्र शुक्ल 13, संवत् 1991 (दिनांक 16 अप्रैल 1935) के दिन दोपहर सवा बजे सम्प्रदाय का चिह्न मुँह पट्टी का त्याग कर दिया और स्वयं घोषित किया कि अब मैं स्थानकवासी साधु नहीं; मैं सनातन दिगम्बर जैनधर्म का श्रावक हूँ। सिंह-समान वृत्ति के धारक इन महापुरुष ने 45 वर्ष की उम्र में महावीर्य उछाल कर यह अद्भुत पराक्रमी कार्य किया।

स्टार ऑफ इण्डिया में निवास करते हुए मात्र तीन वर्ष के दौरान ही जिज्ञासु भक्तजनों का प्रवाह दिन-प्रतिदिन बढ़ता ही गया, जिसके कारण यह मकान एकदम छोटा पड़ने लगा; अतः भक्तों ने इन परम

प्रतापी सत् पुरुष के निवास और प्रवचन का स्थल 'श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर' का निर्माण कराया। गुरुदेवश्री ने वैशाख कृष्ण 8, संवत् 1994 (दिनांक 22 मई 1938) के दिन इस निवासस्थान में मंगल पदार्पण किया। यह स्वाध्याय मन्दिर, जीवनपर्यन्त इन महापुरुष की आत्मसाधना और वीरशासन की प्रभावना का केन्द्र बन गया।

दिगम्बर धर्म के चारों अनुयोगों के छोटे बड़े 183 ग्रन्थों का गहनता से अध्ययन किया, उनमें से मुख्य 38 ग्रन्थों पर सभा में प्रवचन किये। जिनमें श्री समयसार ग्रन्थ पर 19 बार की गयी अध्यात्म वर्षा विशेष उल्लेखनीय है। प्रवचनसार, अष्टपाहुड, परमात्मप्रकाश, नियमसार, पंचास्तिकायसंग्रह, समयसार कलश-टीका इत्यादि ग्रन्थों पर भी बहुत बार प्रवचन किये हैं।

दिव्यध्वनि का रहस्य समझानेवाले और कुन्दकुन्दादि आचार्यों के गहन शास्त्रों के रहस्योद्घाटक इन महापुरुष की भवताप विनाशक अमृतवाणी को ईस्वी सन् 1960 से नियमितरूप से टेप में उत्कीर्ण कर लिया गया, जिसके प्रताप से आज अपने पास नौ हजार से अधिक प्रवचन सुरक्षित उपलब्ध हैं। यह मङ्गल गुरुवाणी, देश-विदेश के समस्त मुमुक्षु मण्डलों में तथा लाखों जिज्ञासु मुमुक्षुओं के घर-घर में गुंजायमान हो रही है। इससे इतना तो निश्चित है कि भरतक्षेत्र के भव्यजीवों को पञ्चम काल के अन्त तक यह दिव्यवाणी ही भव के अभाव में प्रबल निमित्त होगी।

इन महापुरुष का धर्म सन्देश, समग्र भारतवर्ष के मुमुक्षुओं को नियमित उपलब्ध होता रहे, तदर्थ सर्व प्रथम विक्रम संवत् 2000 के माघ माह से (दिसम्बर 1943 से) **आत्मधर्म** नामक मासिक आध्यात्मिक पत्रिका का प्रकाशन सोनगढ़ से मुरब्बी श्री रामजीभाई माणिकचन्द दोशी के सम्पादकत्व में प्रारम्भ हुआ, जो वर्तमान में भी गुजराती एवं हिन्दी भाषा में नियमित प्रकाशित हो रहा है। पूज्य गुरुदेवश्री के दैनिक प्रवचनों को प्रसिद्धि करता दैनिक पत्र **श्री सद्गुरु प्रवचनप्रसाद** ईस्वी सन् 1950 सितम्बर माह से नवम्बर 1956 तक प्रकाशित हुआ। स्वानुभवविभूषित चैतन्यविहारी इन महापुरुष की मङ्गल-वाणी को पढ़कर और सुनकर हजारों स्थानकवासी श्वेताम्बर तथा अन्य कौम के भव्य जीव भी तत्त्व की समझपूर्वक सच्चे दिगम्बर जैनधर्म के अनुयायी हुए। अरे! मूल दिगम्बर जैन भी सच्चे अर्थ में दिगम्बर जैन बने।

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ द्वारा दिगम्बर आचार्यों और मान्यवर, पण्डितवर्यों के ग्रन्थों तथा पूज्य गुरुदेवश्री के उन ग्रन्थों पर हुए प्रवचन-ग्रन्थों का प्रकाशन कार्य विक्रम संवत् 1999 (ईस्वी सन् 1943 से) शुरू हुआ। इस सत्साहित्य द्वारा वीतरागी तत्त्वज्ञान की देश-विदेश में अपूर्व प्रभावना हुई, जो आज भी अविरलरूप से चल रही है। परमागमों का गहन रहस्य समझाकर कृपालु कहान गुरुदेव ने अपने पर करुणा बरसायी है। तत्त्वजिज्ञासु जीवों के लिये यह एक महान आधार है और दिगम्बर जैन साहित्य की यह एक अमूल्य सम्पत्ति है।

ईस्वीं सन् 1962 के दशलक्षण पर्व से भारत भर में अनेक स्थानों पर पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा प्रवाहित तत्त्वज्ञान के प्रचार के लिए प्रवचनकार भेजना प्रारम्भ हुआ। इस प्रवृत्ति से भारत भर के समस्त दिगम्बर जैन समाज में अभूतपूर्व आध्यात्मिक जागृति उत्पन्न हुई। आज भी देश-विदेश में दशलक्षण पर्व में सैकड़ों प्रवचनकार विद्वान इस वीतरागी तत्त्वज्ञान का डंका बजा रहे हैं।

बालकों में तत्त्वज्ञान के संस्कारों का अभिसिंचन हो, तदर्थ सोनगढ़ में विक्रम संवत् 1997 (ईस्वीं सन् 1941) के मई महीने के ग्रीष्मकालीन अवकाश में बीस दिवसीय धार्मिक शिक्षण वर्ग प्रारम्भ हुआ, बड़े लोगों के लिये प्रौढ़ शिक्षण वर्ग विक्रम संवत् 2003 के श्रावण महीने से शुरु किया गया।

सोनगढ़ में विक्रम संवत् 1997 - फाल्गुन शुक्ल दूज के दिन नूतन दिगम्बर जिनमन्दिर में कहानगुरु के मङ्गल हस्त से श्री सीमन्धर आदि भगवन्तों की पंच कल्याणक विधिपूर्वक प्रतिष्ठा हुई। उस समय सौराष्ट्र में मुश्किल से चार-पाँच दिगम्बर मन्दिर थे और दिगम्बर जैन तो भाग्य से ही दृष्टिगोचर होते थे। जिनमन्दिर निर्माण के बाद दोपहरकालीन प्रवचन के पश्चात् जिनमन्दिर में नित्यप्रति भक्ति का क्रम प्रारम्भ हुआ, जिसमें जिनवर भक्त गुरुराज हमेशा उपस्थित रहते थे, और कभी-कभी अतिभाववाही भक्ति भी कराते थे। इस प्रकार गुरुदेवश्री का जीवन निश्चय-व्यवहार की अपूर्व सन्धियुक्त था।

ईस्वी सन् 1941 से ईस्वीं सन् 1980 तक सौराष्ट्र-गुजरात के उपरान्त समग्र भारतदेश के अनेक शहरों में तथा नैरोबी में कुल 66 दिगम्बर जिनमन्दिरों की मङ्गल प्रतिष्ठा इन वीतराग-मार्ग प्रभावक सत्पुरुष के पावन कर-कमलों से हुई।

जन्म-मरण से रहित होने का सन्देश निरन्तर सुनानेवाले इन चैतन्यविहारी पुरुष की मङ्गलकारी जन्म-जयन्ती 59 वें वर्ष से सोनगढ़ में मनाया शुरु हुआ। तत्पश्चात् अनेकों मुमुक्षु मण्डलों द्वारा और अन्तिम 91 वें जन्मोत्सव तक भव्य रीति से मनाये गये। 75 वीं हीरक जयन्ती के अवसर पर समग्र भारत की जैन समाज द्वारा चाँदी जड़ित एक आठ सौ पृष्ठीय अभिनन्दन ग्रन्थ, भारत सरकार के तत्कालीन गृहमन्त्री श्री लालबहादुर शास्त्री द्वारा मुम्बई में देशभर के हजारों भक्तों की उपस्थिति में पूज्यश्री को अर्पित किया गया।

श्री सम्मेदशिखरजी की यात्रा के निमित्त समग्र उत्तर और पूर्व भारत में मङ्गल विहार ईस्वी सन् 1957 और ईस्वी सन् 1967 में ऐसे दो बार हुआ। इसी प्रकार समग्र दक्षिण और मध्यभारत में ईस्वी सन् 1959 और ईस्वी सन् 1964 में ऐसे दो बार विहार हुआ। इस मङ्गल तीर्थयात्रा के विहार दौरान लाखों जिज्ञासुओं ने इन सिद्धपद के साधक सन्त के दर्शन किये, तथा भवान्तकारी अमृतमय वाणी सुनकर अनेक भव्य जीवों के जीवन की दिशा आत्मसन्मुख हो गयी। इन सन्त पुरुष को अनेक स्थानों से अस्सी से अधिक अभिनन्दन पत्र अर्पण किये गये हैं।

श्री महावीर प्रभु के निर्वाण के पश्चात् यह अविच्छिन्न पैंतालीस वर्ष का समय (वीर संवत् 2461 से 2507 अर्थात् ईस्वी सन् 1935 से 1980) वीतरागमार्ग की प्रभावना का स्वर्णकाल था। जो कोई मुमुक्षु, अध्यात्म तीर्थधाम स्वर्णपुरी / सोनगढ़ जाते, उन्हें वहाँ तो चतुर्थ काल का ही अनुभव होता था।

विक्रम संवत् 2037, कार्तिक कृष्ण 7, दिनांक 28 नवम्बर 1980 शुक्रवार के दिन ये प्रबल पुरुषार्थी आत्मज्ञ सन्त पुरुष — देह का, बीमारी का और मुमुक्षु समाज का भी लक्ष्य छोड़कर अपने ज्ञायक भगवान के अन्तरध्यान में एकाग्र हुए, अतीन्द्रिय आनन्दकन्द निज परमात्मतत्त्व में लीन हुए। सायंकाल आकाश का सूर्य अस्त हुआ, तब सर्वज्ञपद के साधक सन्त ने मुक्तिपुरी के पन्थ में यहाँ भरतक्षेत्र से स्वर्णपुरी में प्रयाण किया। वीरशासन को प्राणवन्त करके अध्यात्म युग सृजक बनकर प्रस्थान किया।

पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी इस युग का एक महान और असाधारण व्यक्तित्व थे, उनके बहुमुखी व्यक्तित्व की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने सत्य से अत्यन्त दूर जन्म लेकर स्वयंबुद्ध की तरह स्वयं सत्य का अनुसन्धान किया और अपने प्रचण्ड पुरुषार्थ से जीवन में उसे आत्मसात किया।

इन विदेही दशावन्त महापुरुष का अन्तर जितना उज्ज्वल है, उतना ही बाह्य भी पवित्र है; ऐसा पवित्रता और पुण्य का संयोग इस कलिकाल में भाग्य से ही दृष्टिगोचर होता है। आपश्री की अत्यन्त नियमित दिनचर्या, सात्विक और परिमित आहार, आगम सम्मत संभाषण, करुण और सुकोमल हृदय, आपके विरल व्यक्तित्व के अभिन्न अवयव हैं। शुद्धात्मतत्त्व का निरन्तर चिन्तन और स्वाध्याय ही आपका जीवन था। जैन श्रावक के पवित्र आचार के प्रति आप सदैव सतर्क और सावधान थे। जगत् की प्रशंसा और निन्दा से अप्रभावित रहकर, मात्र अपनी साधना में ही तत्पर रहे। आप भावलिङ्गी मुनियों के परम उपासक थे।

आचार्य भगवन्तों ने जो मुक्ति का मार्ग प्रकाशित किया है, उसे इन रत्नत्रय विभूषित सन्त पुरुष ने अपने शुद्धात्मतत्त्व की अनुभूति के आधार से सातिशय ज्ञान और वाणी द्वारा युक्ति और न्याय से सर्व प्रकार से स्पष्ट समझाया है। द्रव्य की स्वतन्त्रता, द्रव्य-गुण-पर्याय, उपादान-निमित्त, निश्चय-व्यवहार, क्रमबद्धपर्याय, कारणशुद्धपर्याय, आत्मा का शुद्धस्वरूप, सम्यग्दर्शन, और उसका विषय, सम्यग्ज्ञान और ज्ञान की स्व-पर प्रकाशकता, तथा सम्यक्चारित्र का स्वरूप इत्यादि समस्त ही आपश्री के परम प्रताप से इस काल में सत्यरूप से प्रसिद्धि में आये हैं। आज देश-विदेश में लाखों जीव, मोक्षमार्ग को समझने का प्रयत्न कर रहे हैं — यह आपश्री का ही प्रभाव है।

समग्र जीवन के दौरान इन गुणवन्ता ज्ञानी पुरुष ने बहुत ही अल्प लिखा है क्योंकि आपको तो तीर्थङ्कर की वाणी जैसा योग था, आपकी अमृतमय मङ्गलवाणी का प्रभाव ही ऐसा था कि सुननेवाला

उसका रसपान करते हुए थकता ही नहीं। दिव्य भावश्रुतज्ञानधारी इस पुराण पुरुष ने स्वयं ही परमागम के यह सारभूत सिद्धान्त लिखाये हैं :—

1. एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का स्पर्श नहीं करता।
 2. प्रत्येक द्रव्य की प्रत्येक पर्याय क्रमबद्ध ही होती है।
 3. उत्पाद, उत्पाद से है; व्यय या ध्रुव से नहीं।
 4. उत्पाद, अपने षट्कारक के परिणामन से होता है।
 5. पर्याय के और ध्रुव के प्रदेश भिन्न हैं।
 6. भावशक्ति के कारण पर्याय होती ही है, करनी नहीं पड़ती।
 7. भूतार्थ के आश्रय से सम्यग्दर्शन होता है।
 8. चारों अनुयोगों का तात्पर्य वीतरागता है।
 9. स्वद्रव्य में भी द्रव्य-गुण-पर्याय का भेद करना, वह अन्यवशपना है।
 10. ध्रुव का अवलम्बन है परन्तु वेदन नहीं; और पर्याय का वेदन है, अवलम्बन नहीं।
- इन अध्यात्मयुगसृष्टा महापुरुष द्वारा प्रकाशित स्वानुभूति का पावन पथ जगत में सदा जयवन्त वर्तों!
तीर्थङ्कर श्री महावीर भगवान की दिव्यध्वनि का रहस्य समझानेवाले शासन स्तम्भ श्री कहानगुरुदेव

त्रिकाल जयवन्त वर्तों!!

सत्पुरुषों का प्रभावना उदय जयवन्त वर्तों!!!



विषयानुक्रमणिका

1) मुनिधर्म का निरूपण.....	1	19) मुनिराज को लौकिकजनों.....	110
2) मुनिराज को सदैव आत्मस्वभाव.....	4	20) लौकिकजनों के परिचय.....	116
3) चैतन्यचन्द्र को निहारते हुए थकते.....	10	21) वन्दना प्रतिक्रमण में.....	121
4) मुनिराज : पर्याय में भी अत्यन्त.....	15	22) कब नष्ट हो जाता है चारित्र ?.....	126
5) संयमरूपी कल्पवृक्ष की शीतल.....	20	23) यदि दुःख से छूटने की भावना.....	132
6) मुनिराज की अलौकिक वृत्ति.....	27	24) दशलक्षण धर्म : वीतरागभाव.....	137
7) टङ्कोत्कीर्ण सत्य बात.....	31	25) दश धर्म : मात्र पुण्य के.....	173
8) तीव्र वैराग्यभावना एवं क्षमाभाव.....	40	26) ज्ञानी जीव का कमाल.....	177
9) मुनिराज : चैतन्यदेश के निवासी.....	46	27) बारह तप : तप से निर्जरा.....	184
10) निजधामवासी मुनिराज.....	51	28) स्वरूपरमणता की प्राप्ति ही.....	225
11) निज चैतन्य में मस्त : मुनिराज	62	29) उपयोग अन्दर गया सो गया....	228
12) समरसमय अचिन्त्यदशा के धनी.....	67	30) नित्यानन्दस्वरूप में स्थिरता.....	232
13) बाहर आये नहीं कि अन्दर.....	76	31) संवर की कारण : बारह भावना.....	239
14) क्यों होते हैं मुनिदशा में.....	79	32) पञ्चाचार का परमार्थ स्वरूप.....	253
15) मुनिराजों की भूमिका में.....	95	33) सम्यग्दर्शन सार है.....	257
16) शुभभाव में वर्तन लाचारी....	99	34) शील का परिवार.....	261
17) मुनिदशा की मर्यादा का उल्लंघन.....	104	35) अहो ! मुनिराज की समता.....	268
18) मोक्षमार्गी मुनिवरों को.....	106	36) समाधि परिणत : वीतरागी सन्त.....	277





नमः सिद्धेभ्यः

धन्यमुनिदशा

भाग- २

1

मुनिधर्म का निरूपण

अब, मुनिधर्म का व्याख्यान करते हैं —

जो रयणत्तयजुत्तो, खमादिभावेहिं परिणदो णिच्चं ।
सव्वत्थ वि मज्झत्थो, सो साहू भण्णदे धम्मो ॥३९२॥

जो रत्नत्रय से युक्त हो धारण करे दश धर्म को ।

सर्वत्र समताभावमय है धर्म वह साधु अहो ॥ ३९२ ॥

जो पुरुष, अर्थात् आत्मा; रत्नत्रय, अर्थात् निश्चय-व्यवहाररूप सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र से युक्त होवे, उसे ही साधु कहते हैं और उसे ही धर्म कहते हैं । देखो, यहाँ पहले यह बात की है कि मुनि को आत्मा की श्रद्धा होती है, वह निश्चयसम्यग्दर्शन है और देव-गुरु-शास्त्र की प्रतीति का विकल्प वर्तता है, वह व्यवहारसम्यग्दर्शन है । अखण्डआत्मा का ज्ञान, वह निश्चय है और शास्त्र का ज्ञान, वह व्यवहार (सम्यग्ज्ञान) है । स्वरूप में

लीनतापूर्वक वीतरागता, वह निश्चयचारित्र है और पञ्च महाव्रत, समिति, गुप्ति, अट्टाईस मूलगुणों का पालन, वह सब व्यवहारचारित्र है। इस प्रकार निश्चय और व्यवहार का स्वरूप है। जिसे ऐसे निश्चय-व्यवहार का पता नहीं है, वह इस प्रकार मुनिधर्म का विचार भी नहीं कर सकता है।

अब, मुनिधर्म की विशेष बात करते हैं कि क्षमादिभाव, अर्थात् उत्तम क्षमा से लेकर दश प्रकार के धर्मों से नित्य-निरन्तर परिणामसहित मुनि होते हैं, वे धर्म हैं। मुनि को संज्वलनकषाय की बहुत मन्दता होती है। वे सुख-दुःख के समय मध्यस्थ रहते हैं। अनुकूलता और प्रतिकूलता के संयोग के समय आनन्द में झूलते हैं, इसका नाम धर्म है। ऐसी मुनिपने की दशा होती है। जो उसे नहीं समझता, वह धर्म को भी नहीं समझता है। धर्म, धर्मों के बिना नहीं होता और चारित्र, वह मुख्यधर्म है, उसका मूल सम्यग्दर्शन है; इसलिए उसके बिना धर्म नहीं होता है।

मुनि, तृण-कञ्चन, लाभ-अलाभ, शत्रु-मित्र, निन्दा-प्रशंसा और जीवन-मरण इत्यादि में मध्यस्थ होते हैं, अर्थात् समभावरूप वर्तते हैं - जो ऐसे राग-द्वेषरहित हों, उन्हें साधु कहते हैं और वह धर्म है। जिसमें धर्म है, वह धर्म की मूर्ति है। साधु, आत्मलक्ष्मी कैसे प्रगट हो? - यह बतलाते हैं। फीचर इत्यादि के भाव कहकर जड़-लक्ष्मी प्राप्त करने को वे नहीं कहते, क्योंकि उन्हें लाभ-अलाभ में समभाव है। साधु, अपयश को नहीं गिनते हैं। श्रावक की दशा भी सर्वार्थसिद्धि के देवों से बढ़ गयी होती है। उन्हें अपयश, अनादेय, दुर्भाग्य - इनका उदय नहीं होता, ऐसा शास्त्र में कहा है क्योंकि उसमें श्रावक तथा मुनि को जुड़ान नहीं है। कोई श्रावक, पाँचवें गुणस्थानवाला हो और गरीब हो, कोई निन्दा करता हो परन्तु उसे वह नहीं गिनता है क्योंकि उसे दो कषाय का तो अभाव हो गया है; वह अपने को भाग्यवान मानता है।

आत्मा चिदानन्दस्वरूपी है, (श्रावक और मुनिराज को) उसकी रुचि नहीं छूटती। वे निन्दा आदि को नहीं गिनते हैं। बहुत जीवित रहूँ तो ठीक और अभी मरण न आवे तो ठीक - ऐसा मुनि नहीं मानते हैं। मुनि तो आहार लेने जाएँ, उस समय कोई रोता हो, आग लगी हो तो आहार लेने का विकल्प तोड़ देते हैं। स्वयं अन्तर में विचार करते हैं कि हम

शान्ति के मार्ग में चढ़े हुए हैं, उसमें यह कौलाहल किसका ? इस प्रकार स्वभाव के आश्रय से आहार का विकल्प तोड़ डालते हैं परन्तु खेद नहीं करते। अन्तर में तो शान्ति का रस प्रवाहित है। अभी तो चाहे जो व्यक्ति, साधुपना लेकर बैठ जाता है परन्तु यह साधु का मार्ग नहीं है; साधुपना ऐसा नहीं होता है।

भगवान महावीर ने चन्दनबाला की आँख में आँसू देखने के बाद आहार लिया था – यह बात मिथ्या है, यह सब कृत्रिम बनाया है। साधु का धर्म ऐसा है कि आँख में आँसू देख ले तो आहार नहीं लेते, अपितु आहार का विकल्प तोड़कर वापस चले जाते हैं, यह मुनिधर्म है। अब जिसे ऐसे धर्म का पता नहीं, उसे धर्म को धरनेवाले आत्मा का भी पता नहीं होता है। कोई जीव, अक्ल बिना नकल करके अपने को धर्मी मानता है तो वह मिथ्यादृष्टि है; इसलिए पहले मुनिधर्म का ज्ञान होना चाहिए।

यहाँ रत्नत्रयसहित कहने में तेरह प्रकार का चारित्र है, वह महाव्रत आदि मुनि का धर्म है, उसका वर्णन करना चाहिए, परन्तु यहाँ दश प्रकार के विशेष धर्मों का वर्णन है, उसमें महाव्रतादि का वर्णन भी गर्भित है – ऐसा समझना चाहिए। ●

(कार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा ३९२ पर पूज्य गुरुदेवश्री का प्रवचन)



ऐसे सन्तों की क्या बात करें ?

जिसे 'जिसे मोक्षमहल की प्रथम सीढ़ी' कहा, सम्यग्दर्शन कोई अलौकिक वस्तु है। मुनिधर्म की तो बात ही क्या कहें। तीन कषाय के अभाव सहित जिनके अन्तर में प्रचुर आनन्द का अनुभव है और बाह्य में जिसके वस्त्र का एक धागा भी नहीं है — ऐसे सन्तों की क्या बात करें ?

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, अध्यात्म रत्नत्रय, पृष्ठ ३९

मुनिराज को सदैव आत्मस्वभाव की ऊर्ध्वता

जिसने आत्मा को पहिचाना है, अनुभव किया है, उसे आत्मा ही सदा समीप वर्तता है, प्रत्येक पर्याय में शुद्धात्मद्रव्य ही मुख्य रहता है।

भगवान जिनेश्वरदेव ने जो कहा है, वह आत्मा शरीर, इन्द्रिय, वाणी और मन से तो सर्वथा भिन्न है ही, परन्तु उसकी दशा में भीतर जो दया, दान, व्रत, भक्ति आदि के शुभपरिणाम होते हैं, वह भी आत्मा का स्वभाव नहीं है। स्वभाव तो भीतर शुभाशुभ विभाव से भिन्न, ज्ञानानन्दशक्ति सम्पन्न अनुपम वस्तु है। ऐसे शुद्ध चैतन्य विज्ञानघनस्वरूप निज आत्मा को जिसने भीतर स्वभावसन्मुख दृष्टि करके पहिचाना, विकल्पों से छूटकर अनुभव किया, उसे अनुभूति के आधाररूप ऐसा निज ज्ञायक आत्मा ही सदा समीप-सदा अधिकरूप, मुख्यरूप, आश्रयरूप रहता है।

आत्मा वीतरागस्वरूप चैतन्यबिम्ब है। यदि वह वीतरागस्वरूप न हो तो पर्याय में पूर्ण वीतरागता प्रगट कहाँ से होगी? पूर्ण शुद्ध चैतन्य का ज्ञान किया हो, विज्ञानघन शुद्ध आत्मा को पर से तथा विभाव से भिन्न जाना हो, अनुभव किया हो तो आत्मा सदा प्रत्येक पर्याय में मुख्य रहेगा। जब से आत्मा का अनुभव हुआ, तभी से धर्म का प्रारम्भ कहा जाएगा। अतीन्द्रिय ज्ञानानन्दमय चैतन्यप्रभु का ज्ञान की वर्तमान पर्याय में ज्ञान होना-वेदन होना, वह धर्म का प्रथम सोपान है। उसके बिना चाहे जितने व्रत, तप, दया, दानादि करे, वह सब यदि कषाय को मन्द करे तो शुभराग है, धर्म नहीं है।

भगवान ने नव तत्त्व कहे हैं न? उनमें जो पुण्य, पाप, आस्रव और बन्धतत्त्व हैं, वे

विभावभाव हैं; ज्ञायक चैतन्यतत्त्व से भिन्न है - ऐसा जिसे ज्ञान और अनुभव हो, उसे आत्मा ही सदा समीप-अग्ररूप वर्तता है; चाहे जिस प्रसङ्ग में-परिणाम चाहे शुभ में आये या अशुभ में आये परन्तु भीतर दृष्टि में तो आत्मा ही सदा ऊर्ध्वरूप से वर्तता है। अहा! ऐसी बात कहीं अन्यत्र है ?

अनादि काल से परिभ्रमण करते हुए इस जीव ने अनन्त भव किये हैं; शुभभाव किये तो स्वर्ग में गया, अशुभभाव किये तो नरक में और तिर्यञ्चगति में गया। जिन्हें शुभ और अशुभभावों से भिन्न निजस्वभाव का ज्ञान नहीं है; वे सब जीव, अज्ञानी और मिथ्यादृष्टि हैं; भले ही व्रत, तपादि करते हों, तथापि शुभराग को धर्म या धर्म का कारण मानते हैं, इसलिए वे मिथ्यादृष्टि हैं। पूजा, भक्ति आदि में शरीर की जो क्रिया होती है, वह तो जड़ की दशा है, जड़ के कारण होती है; शुभाशुभभाव अशक्ति के कारण आते हैं परन्तु सम्यक्त्वी की दृष्टि में तो सदा आत्मा ही समीप रहता है; रागादि विभाव तो अत्यन्त पृथक् रूप से अति तुच्छरूप से वर्तते हैं। अहा! ऐसी बातें हैं!

अरे! परिभ्रमण करते हुए अनन्त काल बीत गया, अनन्त बार दुर्लभ मनुष्यभव प्राप्त किया, अनन्त बार मुनिव्रत धारण किये परन्तु भीतर आत्मा क्या अद्भुत वस्तु है? - उसकी प्रतीति कभी नहीं की। जिसने निजशुद्धात्मतत्त्व की यथार्थ प्रतीति कर ली, ज्ञान और अनुभव कर लिया, उसे प्रतिक्षण अपनी दृष्टि में शुद्धात्मा की ही अधिकता वर्तती है; चाहे जितना ऊँचा शुभराग हो, परन्तु वह अधिकता को नहीं पाता, सदा तुच्छरूप ही वर्तता है।

धर्मी को प्रत्येक पर्याय में निज शुद्धात्मद्रव्य ही मुख्य रहता है। दुनिया अनादि काल से भववन में भटक रही है; उसे न तो आत्मा का ज्ञान हुआ, न धर्म हुआ। धर्म की प्रथम सीढ़ी सम्यग्दर्शन है। जिसे सम्यग्दर्शन हुआ, उसे सम्यग्ज्ञान हो गया। धर्मी को सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान में सदा आत्मा की ही समीपता रहती है, किसी भी पर्याय के काल में एक समय भी आत्मा की समीपता नहीं हटती। अहा! प्रत्येक दशा में यह ज्ञायक वस्तु मुख्य रहे बिना जन्म-मरण का अन्त नहीं आएगा।

अरे! निगोद के, एकेन्द्रिय के, तिर्यञ्च के, नरक के अनन्त भव करके जीव थककर चूर-चूर हो गया है; यह मनुष्य भव भी कोई पहली बार नहीं है - ऐसे भव भी अनन्त मिल चुके हैं; यह कोई नयी बात नहीं है। नववें ग्रैवेयक का अहमिन्द्र भी अनन्त

बार हुआ परन्तु निज शुद्धात्मद्रव्य की महत्ता भासित नहीं हुई, इसलिए भवभ्रमण का अन्त नहीं आया।

महाव्रत के परिणाम भी राग, आस्रव और दुःखमय हैं। अज्ञानी उन्हें धर्म मान बैठा है। ज्ञायक आत्मा के आश्रय बिना सुख नहीं है। ज्ञायक का सम्यग्ज्ञान होने पर सुख होता है परन्तु व्यापार-धन्धे तथा अन्य सांसारिक पापों के आगे उसे यह तत्त्व समझने का अवकाश ही नहीं मिलता। सांसारिक कार्यों में धर्म तो नहीं है किन्तु पुण्य भी नहीं है। कदाचित् कषाय मन्द करे - दया, दान, भक्ति, स्वाध्याय आदि के पुण्यपरिणाम करे तो स्वर्ग मिलता है परन्तु उससे एक भी भव कम नहीं होता। पुण्य में धर्म मानना तो मिथ्यात्व है और मिथ्यात्व के गर्भ में तो अनन्त भव पड़े हैं। भव का अभाव करने के लिए निज शुद्धात्मद्रव्य का आश्रय लेना ही एकमात्र उपाय है।

विविध शुभभाव आयें, तब कहीं शुद्धात्मा विस्मृत नहीं हो जाता और वे भाव मुख्यता नहीं पाते।

गृहस्थदशा में वर्तते हुए ज्ञानी धर्मात्मा को भी दया, दान, पूजा, भक्ति आदि के विविध शुभपरिणाम आते हैं परन्तु उस समय भी उसे शुद्ध ज्ञायक आत्मा ही अधिक आश्रयभूत रहता है, विस्मृत नहीं हो जाता तथा वे शुभभाव आश्रयरूप से मुख्यपना नहीं पाते। हिंसा, झूठ, चोरी आदि पापभावों की तो बात ही दूर रही, परन्तु भीतर द्रव्यस्वभाव के आश्रय से वर्तती मन्दशुद्धि के साथ वर्तता हुआ जो दया, दानादि का शुभभाव, वह भी मुख्यता नहीं पाता। धर्मी को मुख्यता तो सदा एक निज शुद्धात्मद्रव्य की ही वर्तती है, वही सदा उसके समीप रहता है।

मुनिराज को पञ्चाचार, व्रत, नियम, जिनभक्ति इत्यादि सर्व शुभभावों के समय भेदज्ञान की धारा, स्वरूप की शुद्ध, चारित्रदशा निरन्तर चलती ही रहती है।

अहा! मुनिराज किन्हें कहा जाए? - जिनके अन्तर में शरीरादि परद्रव्य तथा रागादि विभावों से भिन्न चिन्मात्र निज शुद्धात्मद्रव्य की सहज प्रतीति, ज्ञान और स्थिरता के साथ-साथ विकल्प काल में पञ्चाचार, व्रत, नियम, पञ्च परमेष्ठी की भक्ति आदि शुभभाव हठरहित वर्तते हों, उन्हें मुनिराज कहते हैं।

मुनिराज को भूमिका के योग्य पञ्चाचार, व्रत, तप, जिनेन्द्रभक्ति आदि के शुभभाव आयें, उस काल भी भेदज्ञान की, अर्थात् शरीरादि और रागादि से भिन्न आत्मज्ञान की धारा तथा स्वरूपरमणता की शुद्धचारित्रदशा सतत चलती ही रहती है। मुनिराज तो स्वानुभूतियुक्त आत्मज्ञान तथा शुद्धचारित्रवान वीतरागी सन्त होते हैं। बाह्य में वे नग्न दिगम्बर; और अन्तर में उनको मुनि के योग्य आत्मशुद्धिसहित पञ्च महाव्रतादि के विकल्प होते हैं। विकल्प के समय भी 'राग से भिन्न मैं ज्ञानस्वरूप हूँ' - ऐसी भेदज्ञान की धारा तथा स्वरूपस्थिरता की निर्मलदशा निरन्तर चल ही रही है।

अरे ! ऐसी दशा सतत् प्रवाहित भेदज्ञान की धारा और स्वरूप की शुद्ध चारित्रदशा -वर्तमान में इस काल में तथा इस क्षेत्र में कहाँ दिखायी देती है ? वीतराग-सर्वज्ञ परमात्मा ने जैसा 'आत्मा' कहा है, दूसरे अज्ञानी 'आत्मा, आत्मा' कहते हैं वह नहीं' - उस अतीन्द्रिय आनन्द के नाथ का जो भेदज्ञान, उस सहित आत्मा में अति रमणता प्रगट हो, उसे भगवान चारित्र कहते हैं।

वीतराग-सर्वज्ञ के मार्ग में ही ऐसे सच्चे सन्त होते हैं। 'णमो लोए सव्वसाहूणं।' जिन्हें स्वरूप की सच्ची दृष्टि और रमणता नहीं है, वे भले ही 'साधु' नाम धारण कर लें किन्तु वे सब झूठे हैं। जो स्वरूप के आनन्द में रमते हों, वे आत्म-रामी हैं, जो राग में रमें वे हरामी-अज्ञानी हैं। वीतराग-सर्वज्ञ परमेश्वर के मार्ग में जो सन्त होते हैं, उनको स्वरूप की निर्मल दृष्टि एवं स्वरूप में रमणता होती है। ऐसे सन्तों को भूमिकानुसार शुभभाव आते हैं, तथापि भेदज्ञान और शुद्धचारित्र की धारा निरन्तर चलती ही रहती है।

शुभभाव नीचे ही रहते हैं; आत्मा ऊँचा का ऊँचा ही, ऊर्ध्व ही रहता है।

ज्ञानी धर्मात्मा को भूमिकानुसार शुभभाव आते अवश्य हैं परन्तु वे विभावभाव सदा नीचे ही रहते हैं; हृदय में उनकी महत्ता आश्रयरूप से किञ्चित् भी नहीं आती; उस समय भी अन्तर में आश्रयभूत शुद्धस्वभाव-ज्ञायक आत्मा-ऊँचे का ऊँचा ही, अर्थात् सर्वोपरि रहता है। अहा ! ऐसी बात है।

बात तो सादी भाषा में आती है, प्रभु ! क्या कहें ? अब समझने का प्रयत्न तो जीव को स्वयं करना है न ? देखो न, बचपन में शरीर की स्थिति पूर्ण करके अनेक जीव, दूसरे भव में चले जाते हैं। आत्मा का हित अब बाद में करेंगे - ऐसे वादों ही वादों में भव का

अन्त आ जाता है। भाई! आत्मा की सच्ची समझ इसी समय कर ले, नहीं तो मनुष्यभव का ऐसा महँगा अवसर मिलना कठिन है।

यहाँ तो कहते हैं कि धर्मी को शुभभाव के समय भी अन्तर में वर्तती हुई भेदज्ञान की धारा और स्वरूपरमणतारूप चारित्रदशा किञ्चित् भी हटती नहीं है, उसे किञ्चित् भी क्षति नहीं पहुँचती। अहा! कैसी अद्भुत दशा! समझने में भी कठिनाई होती है। आजकल तो उपदेशकों ने आत्मज्ञानशून्य बाह्यक्रियाओं में – व्रत ग्रहण करो, उपवास करो, अहिंसा का पालन करो, भक्ति करो, यह करो और वह करो आदि में धर्म मनवा दिया है। क्या किया जाए? जीवों का ऐसा ही भवितव्य! भगवान ने तो 'चारित्तं खलु धम्मो' कहा है। सम्यग्दर्शनपूर्वक स्वरूपरमणता, अर्थात् चारित्र, वहधर्म है। अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप प्रभु ज्ञायक आत्मा है। निज ज्ञायक आत्मा में श्रद्धान-ज्ञानपूर्वक उसमें विचरना, रमना, स्थिर हो जाना, अतीन्द्रिय आनन्द का भोजन करना, वह जिनेन्द्रदेव द्वारा प्ररूपित यथार्थ धर्म है। ऐसी चारित्रदशा मुनिराज को होती है। ऐसी सहजदशा, शुभभाव के काल में भी, मुनिराज को अन्तर में वर्तती रहती है।

'वचनमृत' के ३६६ वें बोल के इस तीसरे पैरे में चारित्रदशा की बात कही है। पहले पैरे में 'जिसने आत्मा को पहिचाना है, अनुभव किया है, उसको सदा आत्मा ही समीप वर्तता है....' इतना लेकर यहाँ दूसरे पैरे में, जो स्थिरता में आगे बढ़ गये हैं – ऐसे मुनिराज की बात ली है। सूक्ष्म बात है भाई! क्या करें? त्रिलोकीनाथ श्री सीमन्धर भगवान महाविदेहक्षेत्र में विराजते हैं, वर्तमान में विद्यमान हैं, पाँच सौ धनुष का शरीर है....

श्रोता : आपको दिखते हैं ?

दिखते हैं भीतर। उन सीमन्धर परमात्मा के पास वि.सं. ४९ में श्री कुन्दकुन्द आचार्यदेव गये थे और वहाँ से आकर इन समयसार, प्रवचनसारादि शास्त्रों की रचना की है।

ज्ञानी को-धर्मी को-सन्त को सामायिक, प्रतिक्रमण, जिनभक्ति आदि शुभभाव आयें, परन्तु उन विभावभावों की उन्हें कभी अधिकता नहीं होती; वे भाव सदा निम्न /गौण और महत्वहीन ही रहते हैं; उनको महत्ता एवं मुख्यता तो एकमात्र आश्रयभूत निज ध्रुव शुद्ध

ज्ञायक आत्मा की ही रहती है; शुद्ध आत्मा ही सदा उच्च का उच्च ही अर्थात् ऊर्ध्व ही रहता है। चैतन्यप्रकाश का तेज पुञ्ज - ऐसा जो निज ज्ञायक आत्मा से धर्मी की दृष्टि एक क्षण भी नहीं हटती। ज्ञानी को समय-समय पर शुभभाव आते हैं परन्तु वे नीचे रह जाते हैं, ऊपर तो भगवान आत्मा ही रहता है। अहा! ऐसी बात है!

धर्मी-सम्यक्त्वी हो या मुनि हो, जिसने आत्मा को जाना है और अंशतः अनुभव किया है, उसे शुभभाव के समय भी, शुभभाव विभाव एवं बन्ध का कारण है, इसलिए भगवान आत्मा ही ऊर्ध्व रहता है। अहा! ऐसी बात है। दुनिया को उसकी खबर नहीं है। अरे रे! दुनिया खड़ी है कहीं और मार्ग रह गया है कहीं - अन्तर में।

.....सब कुछ पीछे रह जाता है, आगे एक शुद्धात्मद्रव्य ही रहता है।

जिसे भिन्न आत्मा का ज्ञान और रमणता वर्तती है, उसे समस्त शुभाशुभभाव-पीछे रह जाते हैं; आगे अर्थात् मुख्य तो एक निज शुद्धात्मद्रव्य ही रहता है।

मेहमान का स्वागत-सत्कार करते हैं, तब कहते हैं कि - 'आपका ही यह घर है' परन्तु भीतर समझता है कि वह आगन्तुक है, चला जाएगा; उसी प्रकार शुभाशुभभाव भी आगन्तुक हैं, आत्मा के घर की वस्तु नहीं हैं - ऐसा ज्ञानी समझता है।

अनादि काल से परिभ्रमण करता हुआ यह जीव, अरे! अनन्त बार अरबपति सेठ हुआ, अनन्त बार नववें ग्रैवेयक का अहमिन्द्र हुआ। वे सब वैभव पुण्य से प्राप्त किये होंगे या पाप से? नरक के भव भी अनन्त किये हैं। सर्वज्ञ परमात्मा कहते हैं कि जीव ने नरक की अपेक्षा स्वर्ग के भव असंख्यातगुने अनन्त बार किये हैं परन्तु वे पुण्यबन्ध के कारणभूत व्रत और उपवासादि के शुभभाव, धर्म नहीं हैं, विकल्प हैं। शुक्ललेश्या के परिणाम भी धर्म नहीं हैं, पुण्यबन्ध का कारण है। अरे! आत्मा और उसका धर्म क्या अद्भुत वस्तु है? - उसकी जगत् को खबर नहीं है। यहाँ तो कहते हैं कि पापभाव तो संसार में भटकने का कारण हैं ही परन्तु ज्ञानी को जो शुभभाव आये, वह भी बन्ध का कारण है। धर्मी जीव को ऊर्ध्वता, अधिकता और महत्ता सदैव शुद्धभाव की-शुद्धात्मस्वभाव की वर्तती है; शुभभाव उसे नीचे, महत्वहीन और गौण ही रहते हैं। शुभाशुभभाव सब पीछे रह जाते हैं, आगे एकमात्र शुद्धात्मद्रव्य ही रहता है। ●

(वचनमृत बोल 236 पर पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी का प्रवचन, वचनमृत प्रवचन, भाग-4 से सङ्कलित)

चैतन्यचन्द्र को निहारते हुए थकते नहीं

अहा! आत्मा अलौकिक चैतन्यचन्द्र है, जिसका अवलोकन करने से मुनियों को वैराग्य उछल पड़ता है।

क्या कहते हैं ? कि अन्दर जो यह आत्मा है, वह तो शीतल आनन्द एवं शान्तरस से भरपूर चैतन्यचन्द्र है। वह आश्चर्यकारी आत्मा, लौकिक चन्द्र-सूर्य के प्रकाश से रहित अतीन्द्रिय ज्ञानानन्द के शान्त-शीतल प्रकाशमय अलौकिक चैतन्यचन्द्र है।

आत्मा जो कि अन्तर में ज्ञानानन्द से भरपूर त्रैकालिक वस्तु है, वह इस देह से भिन्न है ही परन्तु भीतर जो दया-दानादि का राग आता है, उससे भी भिन्न है तथा ज्ञान, आनन्द आदि जो गुणभेद, वे भी व्यवहार से हैं। वास्तव में जिसे आत्मा की प्रतीति करना हो, आत्मा के तल में जाना हो, उसे व्रतादि के परिणामरूप पुण्य का तथा गुण-गुणी के भेद का भी लक्ष्य छोड़ना चाहिए।

चैतन्यचन्द्र ऐसा यह भगवान आत्मा, वह अस्ति / अस्तित्ववान वस्तु है, अलौकिक वस्तु है; लौकिक वस्तुओं के साथ उसका जरा भी मेल नहीं है। जिसके अस्तित्व में 'यह शरीर है', 'यह राग है' - ऐसा जानने में आता है, वह ज्ञाता जानने में आये, तब चैतन्यचन्द्र का सच्चा अवलोकन होता है। परलक्ष्यी ज्ञान में-वकालत या डॉक्टरी के ज्ञान में-आत्मा नहीं आता।

अरे ! आनन्द का कन्द ऐसा भगवान आत्मा अन्तर में विद्यमान है, उसकी जीव को कहाँ खबर है ? यहाँ तो कहते हैं कि निमित्त का, राग का अथवा भेद का लक्ष्य छोड़कर, अन्दर जो चैतन्यस्वरूप है, उसका अवलोकन करना। जीव की पर्याय का पर

की ओर झुकाव है, वह मिथ्याभाव है, दुःखदशा है; उसे अपने अवलोकन में लगाना ।

चैतन्यचन्द्र ऐसा जो ज्ञायकभाव, उसका अवलोकन करने से मुनियों को वैराग्य उल्लसित हो जाता है । सम्यग्दृष्टि को अपने शुद्धचैतन्य का अभेद अवलोकन तथा प्रतीति है परन्तु उसे आनन्द अल्प है और मुनियों को आत्मा की प्रतीतिपूर्वक पर का एवं राग का सम्बन्ध विशेष छूट गया है, इसलिए आत्मा के उग्र अवलोकन में वैराग्य /उदासीनता उल्लसित हो जाती है । अहा ! धर्म का ऐसा उपदेश है ।

प्रश्न : सेवा करना, दया पालना धर्म नहीं है ?

उत्तर : पर की सेवा करना, दया पालना धर्म है – ऐसा अज्ञानी लोग कहते हैं । भाई ! कौन किसकी सेवा कर सकता है ? योगसार में कहा है कि —

कोण कोनी समता करे, सेवे, पूजे कोण,
कोनी स्पर्शास्पर्शता, ठगे कोईने कोण ?
कोण कोनी मैत्री करे, कोनी साथे क्लेश;
ज्यां देखुं त्यां सर्व जीव, शुद्ध बुद्ध ज्ञानेश ॥४० ॥

परजीव की सेवा कर सकता हूँ या दया पाल सकता हूँ – यह मान्यता मिथ्याभ्रम है । यहाँ तो ऐसा कहना है कि यह आत्मा चिदानन्दस्वरूप वस्तु है न ? शरीर-प्रमाण भले हो परन्तु उससे भिन्न अस्तित्वस्वरूप-उपस्थितिस्वरूप शाश्वत् तत्त्व है न ? तत्त्व है तो उसके सामर्थ्य में इतना सत्त्व भरा है कि जिसके अवलोकन से पर की ओर का वैराग्य उल्लसित हो जाता है ।

प्रश्न : स्त्री, पुत्र तथा परिवार को छोड़कर जङ्गल में रहे, वह वैरागी नहीं ?

उत्तर : नहीं, सच्चा वैरागी उसे कहा जाता है, जिसे अपने निज पदार्थ का अवलोकन करने से, अपने ज्ञानानन्दस्वभाव की महानता भासित होने से, पर के प्रति सहज उदासीनता हो जाए ! अपना अवलोकन करे, उसे पर के प्रति सहज वैराग्य उत्पन्न हो जाता है । जिसे अपने अवलोकन की खबर नहीं है और स्त्री, परिवार आदि को छोड़ दे, संन्यासी हो जाए, वह सच्चा वैरागी नहीं है; वह पर का त्यागी नहीं है किन्तु धर्म का त्यागी है, क्योंकि उसने आत्मा का धर्म अनादि से छोड़ दिया है ।

मेरी वस्तु में शरीर, वाणी आदि कोई परवस्तु तो है ही नहीं परन्तु परवस्तु के लक्ष्य से जो रागादि उत्पन्न हों, वह भी मेरी वस्तु का स्वभाव नहीं है तथा यह ज्ञान, आनन्दादि मेरे गुण और उन्हें धारण करनेवाला मैं यह गुणी – ऐसे गुण-गुणी के भेद भी जिसमें नहीं हैं – ऐसा यह भगवान आत्मा शीतल-शीतल, शुद्ध प्रकाश एवं आनन्द से भरपूर चैतन्यचन्द्र है। ऐसी चैतन्यस्वरूप अपनी वस्तु के पूर्ण अस्तित्व की प्रतीति तो सम्यग्दृष्टि को भी होती है परन्तु मुनिदशा में अपनी वस्तु का-आत्मस्वभाव का उग्र अवलोकन करने से, उस ओर की विशेष उन्मुखता रखने से, पर की ओर का वैराग्य एवं उदासीनता उल्लसित हो जाते हैं।

अपने पूर्ण स्वरूप का ज्ञान और परवस्तु के राग से रहितता – इस प्रकार धर्मी को ज्ञान एवं वैराग्य नाम की दो शक्तियाँ होती हैं। अज्ञानी अनादि से आत्मा से विरक्त और राग में रक्त है। ज्ञानी, आत्मा में रक्त और राग से विरक्त है। ऐसी बात है भाई! बाह्य संयोगों का त्याग करके जीवन में अभिमान किया है कि 'मैं त्यागी हूँ' परन्तु भाई! जिसके अवलोकन से अन्तर में सच्चा त्याग-वैराग्य एवं उदासीनता-परिणमती है – ऐसे इस, जन्म-मरण से रहित शान्त-शान्त चैतन्यचन्द्र की दृष्टि अनादि काल में कभी नहीं की।

मुनि शीतल-शीतल चैतन्यचन्द्र को निहारते हुए अघाते ही नहीं, थकते ही नहीं। सम्यग्दृष्टि गृहस्थ को आत्मज्ञान है परन्तु वह बारम्बार अन्तरोन्मुख नहीं हो सकता; मुनि तो बारम्बार अन्तर-आनन्द में लीन हो जाते हैं; वे तो अतीन्द्रिय आनन्द में विशेषरूप से प्रविष्ट हो गये हैं।

लोगों को वस्तुस्वरूप की खबर नहीं है; वे मानते हैं कि बाह्य क्रिया / पर का कार्य करे और राग करे, पर की दया पाले, वह आत्मा। वह तो खाक भी आत्मा नहीं है। सुन भाई! पर की दया कौन पाले? दया का भाव भी राग है, स्वरूप की हिंसा है। जिसके अवलोकन से सन्तों को तृप्ति नहीं होती, थकते नहीं हैं – ऐसे पूर्ण चैतन्यघन प्रभु आत्मा का स्वरूप कोई और ही है! अहाहा! अन्तर-आनन्द.... आनन्द.... आनन्द। यह बात कैसे बैठे? भगवान आत्मा वस्तु भीतर विद्यमान है न! वस्तु है तो वह स्वयं कोई दुःखरूप नहीं हो सकती; वस्तु कहीं विकृतस्वरूप नहीं हो सकती; वस्तु कभी अपूर्ण नहीं हो

सकती और वह कभी पराश्रित नहीं हो सकती कि उसे पर के आधार से रहना पड़े। अहा! वस्तु का निज स्वरूप जो स्वतन्त्र, निर्विकार, सम्पूर्ण, सुखरूप और स्वाधीन है। अपना जो निर्मल स्वरूप, उसमें जिनकी दृष्टि एवं विशेष स्थिरता हुई है – ऐसे मुनि बारम्बार अन्तर-आनन्द का अनुभव करते हुए अपने शान्त-शान्त चैतन्यचन्द्र को निरखते हुए तृप्त ही नहीं होते। अन्तर-आनन्दरूप जो भगवान, उसका राग से भिन्न होकर, जिन्हें अनुभव हुआ, वे मुनिराज अनुभव करते हुए थकते ही नहीं; उनका उपयोग बारम्बार अन्तरोन्मुख हो जाता है।

‘मुनि छठवें-सातवें गुणस्थान में झूलते हैं’ वह शास्त्रभाषा है। पूर्णानन्द का विशेष अनुभव करने के लिये छठवें से एकदम सातवें में जाते हैं। पूर्णानन्द का अनुभव करते हुए वे थकते नहीं अथवा तृप्त नहीं होते। अहा! ऐसा मार्ग है।

आत्मा का अनुभव करना, वह मार्ग है। जीव ने यह कभी नहीं किया; इसलिए अज्ञानसहित चार गतियों में भ्रमण कर रहा है। शास्त्र का ज्ञान करे, वह भी आत्मा के अनुभव बिना, अज्ञान है; आत्मा का ज्ञान करना ही ज्ञान है। आगम का ज्ञान होता है परन्तु स्वलक्ष्यी होकर हो तो उसे सच्चा आगमज्ञान कहा जाता है। प्रवचनसार में ‘आगमचेष्टा तदो जेष्टा’ – आगम प्रवर्तन मुख्य है – ऐसा कहा है परन्तु आगमचेष्टा किसे कहना? अपने स्वरूप का लक्ष्य करके जो आगम का अभ्यास करता है, वह चेष्टा-जेष्टा, ज्येष्ठ-ज्येष्ठ है। आत्मा के लक्ष्य बिना जितना शास्त्रज्ञान और बाह्य जानकारी करना, वह तो ज्ञान की निम्नता है, हलकापना है। भगवान आत्मा कौन है और कैसा है? – उसकी प्रतीति बिना सब जानकारी अज्ञान और पाखण्ड है। पर के ज्ञातृत्व में तो ज्ञान रुक जाता है, दब जाता है; रागी को राग उत्पन्न होता है।

प्रश्न : आत्मा को रागरहित कहते हो परन्तु अभी तो राग को जानना भी कठिन है ?

उत्तर : भाई! भीतर जो विकल्प उठते हैं कि ‘मैं ज्ञायक हूँ, शुद्ध हूँ, अभेद हूँ, अखण्ड हूँ’ वह भी राग है। भगवान ‘अस्ति’ तत्त्व है, वह वीतरागस्वरूप है। जिसे कल्याण करना हो, उसे राग का लक्ष्य छोड़कर अन्तर में चैतन्यप्रभु को देखना। बारम्बार आनन्द का रसास्वादन करने के लिये मुनि वहीं उपयोग को लगाते हैं। बाह्य में नग्नता,

स्त्री-परिवार को छोड़ देना, वह मुनिपना है ही नहीं। अन्तर में चैतन्यचन्द्र को निहारते - निहारते जो अतीन्द्रिय आनन्द की तृप्ति का वेदन करते हैं, उन्हें मुनि कहा जाता है।

यह चैतन्यचमत्कारमय आत्मा तो राग से भिन्न तथा अतीन्द्रिय आनन्द का पिण्ड है। जिस प्रकार एक म्यान में दो तलवारें नहीं रहतीं; उसी प्रकार जिसे दया, दानादि शुभराग का प्रेम है, उसे आत्मा का प्रेम नहीं है, आत्मा के प्रति द्वेष है। परमात्मप्रकाश में कहा है कि जिसे शुभराग का प्रेम है, उसे आत्मा हेय है, वह पूर्ण आत्मा का अनादर करता है। धीरे-धीरे समझकर अन्तर में जाना; वस्तु तो यह है, बाकी सब थोथे हैं।

प्रश्न : प्रारम्भ में तो शुभराग का प्रेम करना चाहिए न ?

उत्तर : बिलकुल नहीं। शुभराग का प्रेम भी अज्ञान है। लोकसेवा का भाव भी राग है। अहा! हिन्दुस्तान की सच्ची विद्या तो आत्मज्ञान है। आत्मज्ञान की विद्या अन्य किसी देश में नहीं है। वर्तमान में तो आत्मज्ञान की बात ही भुला दी है। यह करो और वह करो, देशसेवा, रोगियों की सेवा आदि पर की तथा राग की क्रिया में लोग धर्म मान बैठे हैं। मद्रास गये, तब राज्यपाल ने प्रार्थना की थी कि - हमारे राजभवन में पधारो, हमें आपका स्वागत करना है। वहाँ राजभवन के उद्यान में हजारों हिरन पाल रखे थे और मानते थे कि उनकी दया पालने से धर्म हो जाएगा। भाई! पर के लक्ष्य से तो राग होता है; भले पुण्य हो परन्तु उससे धर्म नहीं होगा। राग से भिन्न भीतर चैतन्यप्रभु आता है, वह 'वस्तु' है या नहीं? वह वस्तु क्या वर्तमान दशा में जो राग होता है, उतनी ही है? राग और राग को जाननेवाली वर्तमान प्रगट दशा — बस इतनी ही क्या आत्मवस्तु है? आत्मवस्तु तो अन्दर ध्रुववस्तु है, त्रिकाल आनन्दकन्द है।

यहाँ तो यह बात चलती है कि मुनि शीतल-शीतल चैतन्यचन्द्र को निहारते हुए तृप्त ही नहीं होते, थकते ही नहीं। ●

(वचनमृत बोल 91 पर पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी का प्रवचन, वचनमृत प्रवचन, 1/258)

मुनिराज : पर्याय में भी अत्यन्त कृतकृत्य

मुनि एक-एक अन्तर्मुहूर्त में स्वभाव में डुबकी लगाते हैं।

मुनि उन्हें कहते हैं, जो अन्तर्मुहूर्त में-अल्प काल में-छठवें से सातवें में - भीतर अप्रमत्तदशा में चले जाते हैं। गुणों के अगाध समुद्र में, उसके धरातल में जो पहुँच गये हैं, जिनकी दृष्टि ध्रुव ज्ञायकतत्त्व को प्राप्त हो गयी है, तदुपरान्त जिन्हें आनन्द की स्थिरता जम गयी है - ऐसे मुनि एक-एक अन्तर्मुहूर्त में स्वभाव में-आनन्द की दशा में-डुबकी लगाते हैं, अर्थात् उन्हें उग्र आनन्द प्रगट होता है। अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव हुआ है, उनको भी जब पञ्च महाव्रत का विकल्प आता है, तब वह भी बोझ है, दुःख है। बाह्य में आयें तब भी दृष्टि तो ध्रुव पर लगी है। दूसरे ही क्षण फिर भीतर चले जाते हैं, दृष्टि जहाँ है, उस द्रव्य में लीनता करते हैं।

मुनिपने में छठवें-सातवें गुणस्थान का काल अन्तर्मुहूर्त है, वह सामान्य वस्तु है परन्तु श्रेणी चढ़ने से पूर्व के अन्तर्मुहूर्त में तो हजारों-हजारों बार छठवें-सातवें जाएँ-आयें - ऐसा पाठ 'धवला' टीका में है। अन्तर में विकल्प आया परन्तु फिर उसे छोड़कर भीतर डुबकी लगाते हैं। पञ्च महाव्रत का विकल्प आये परन्तु वहाँ उन्हें अच्छा नहीं लगता, रुचता नहीं है; व्रत का विकल्प उठता है, वह दुःख है।

48 मिनट में 2880 सेकेण्ड होते हैं। हजारों बार छठवें-सातवें जाने में यदि 2880 सेकेण्ड लगें तो एक बार जाने में कितना समय लगेगा। पौन सेकेण्ड से भी कम समय लगेगा। मुनि छठवें में आते हैं और एकदम सातवें में घुस जाते हैं - अतीन्द्रिय आनन्ददशा में डुबकी लगाते हैं; उसे मुनिदशा कहा जाता है। उन्हें 'णमो लोए सव्वसाहूणं'

में नमस्कार किया जाता है। जिनके अन्तर्दृष्टि हुई है, अनुभव में आनन्द का नाथ आया है और आनन्द में चरना-रमना, ऐसा चारित्र जिनके हुआ है - ऐसे सन्त, बाह्य से विमुख होकर स्वभाव में डुबकी लगाते हैं। वे चलते-फिरते दिखें, घण्टा-पौन घण्टा बोलते दिखायी दें, तथापि उसी समय भी क्षण-क्षण अन्तर आनन्द में डुबकी लगाते रहते हैं।

प्रश्न : मुनि को तो बहुत सरल हो गया है ?

उत्तर : सरल किस प्रकार हुआ ? स्वयं पुरुषार्थ से चारित्र प्रगट किया है, इसलिए सरल हो गया है। सम्यग्दर्शन के उपरान्त स्वरूप का उग्र-तीव्र आश्रय लेकर जिन्होंने अन्तर में चारित्र प्रगट किया है - ऐसे सन्तों को-मुनियों को बारह अङ्ग तथा चौदह पूर्व की अन्तर्मुहूर्त में रचना करनेवाले गणधर का भी नमस्कार पहुँचता है। अहा ! वह मुनिदशा कैसी होगी ? - भाई !

केवलज्ञानी भगवान राजा हैं और गणधर उनके मन्त्री; भगवान के मन्त्री का वन्दन जिनको पहुँचता हो, वे सन्त कैसे होंगे ? भाई ! कोई कहते हैं कि 'णमो लोए सव्वसाहूणं' में 'सर्व' के अर्थ में अन्यमत के साधु भी लेना चाहिए। वह बात झूठी है; उसमें अन्यमती साधुओं की बात ही नहीं है। लोक में सर्व भिन्न-भिन्न क्षेत्र में वर्तते हों, उन सबको नमस्कार करता हूँ - ऐसा अर्थ है; इसलिए जैनदर्शन के सन्त जो भिन्न-भिन्न क्षेत्र और काल में हों, उन्हें यह नमस्कार लागू होता है; अज्ञानियों को लागू नहीं होता।

मुनि शीघ्र-शीघ्र स्वरूप में डुबकी लगाते हैं-आनन्द में सराबोर हो जाते हैं। विकल्प के काल में भी आनन्द तो है परन्तु अन्तरोन्मुख हों, तब तो आनन्द... ! आनन्द... ! विशेष आनन्द है। आनन्द का वेदन करते हैं परन्तु 'आनन्द को वेदता हूँ, अनुभवता हूँ' - ऐसा भी विकल्प वहाँ नहीं है। जब तक स्वभाव की महिमा न आए, तब तक राग के -बाह्य-दया-दान के विकल्प की महिमा नहीं छूटती।

अरे ! द्रव्य की ऐसी शक्ति और ऐसा सत्त्व अखण्ड है, उसकी महिमा एवं आश्चर्यकारी स्थिति जिसके ख्याल में नहीं आये, उसकी पर्यायबुद्धि नहीं टूटती, पर्याय के प्रति महिमा नहीं छूटती। अहा ! एक समय की पर्याय के निकट, उसी क्षेत्र में अखण्ड तत्त्व विद्यमान है। उस क्षेत्र में भले ही विकार का अथवा पर्याय का अंश भिन्न हो परन्तु

दूसरा स्वभाव का अंश उसी क्षेत्र में वहीं का वहीं है; उसी में मुनि विराजमान हैं। उसमें जो स्थिर होता है, उसे बाहर आना अच्छा नहीं लगता।

४०१ वें बोल में आता है कि ज्ञानी का परिणमन विभाव से विमुख होकर स्वरूप की ओर ढल रहा है। ज्ञानी निजस्वरूप में परिपूर्णरूप से स्थिर हो जाने को तरसते हैं। इसी समय स्वरूप में पूर्णरूप से स्थिर होकर केवलज्ञान होता हो तो हमें और कुछ नहीं चाहिए। जिसने दृष्टि में निज भगवान को लिया, पूर्णानन्द के नाथ ऐसे अचिन्त्य अखण्ड तत्त्व की जिसे प्रतीति हुई और ज्ञान में प्रत्यक्षरूप से उसका स्वाद आया, वह ज्ञानी अन्तर में जाने को तरसता है। यह विभावभाव हमारा देश नहीं है। पञ्च महाव्रतादि शुभ का विकल्प उठे, वह हमारा देश नहीं है। इस परदेश में हम कहाँ से आ पहुँचे? हमें यहाँ अच्छा नहीं लगता। सम्यग्दृष्टि को राग में आना अच्छा नहीं लगता। राग तो परदेश है, यहाँ हमारा कोई नहीं है। दया, दान, व्रत और भक्ति आदि के परिणामों में हमारा कोई नहीं है।

जहाँ ज्ञान, श्रद्धा, चारित्र, आनन्द, वीर्यादि अनन्त गुणरूप हमारा परिवार निवास करता है, वह हमारा स्वदेश है। अनन्त आनन्द एवं ज्ञानादि अनन्त गुण का धाम हमारा स्वदेश है। अब हम स्वरूप-स्वदेश की ओर जा रहे हैं। उस ओर हमारा झुकाव हो गया है। हमें शीघ्र ही अपने मूल वतन में जाकर आराम से रहना है, जहाँ सब हमारे-अपने हैं। वतन अर्थात् देश, रहने का मूल स्थान। यह असंख्य प्रदेशी अनन्त गुणों का धाम ही हमारा वतन, स्थान और देश है। वहाँ हमारा गुण-परिवार निवास करता है। अहा! ऐसी वस्तु है! उसका जहाँ अनुभव हुआ, वहाँ आनन्द में से बाहर निकलते हुए उसे क्या हुआ?... कि अरे! हम तो परदेश में आ पहुँचे! यह सारा विभावभाव का देश हमारा नहीं है, यह हमारा परिवार नहीं है; हमें तो शीघ्र ही मूल वतन में जाकर शान्ति से-आराम से रहना है, जहाँ सब हमारे हैं-अपने हैं।

श्री नियमसार में भी आता है कि —

निधि पामीने जन कोई निज वतने रही फल भोगवे।

त्यम ज्ञानी परजन संग छोड़ी ज्ञाननिधि ने भोगवे ॥ १५७ ॥

ज्ञानी, ज्ञाननिधि प्राप्त करके, स्वयं गुप्त रहकर उसे भोगता है। कोई मनुष्य परदेश

से दो-पाँच करोड़ रुपये कमाकर लाया हो तो उसका ढिंढोरा नहीं पीटता परन्तु स्वदेश में आकर गुप्तरूप से रहता है। उसी प्रकार ज्ञाननिधि को पाकर ज्ञानी आत्मा, आनन्द के नाथ प्राप्त हुए हैं, उसे पाकर, स्वयं भीतर एकान्त में उसका अनुभव करता है; उसका बाहर ढिंढोरा नहीं पीटते हैं। कोई हमें जाने, माने और हमारी प्रतिष्ठा बढ़े – ऐसी सब भावनाएँ तो अपना प्रचार करने की हैं, अन्तर में जाने की नहीं हैं। यह तो दृष्टान्त दिया है। अपने इस अधिकार में तो यह चलता है कि —

अन्तर में निवास के लिए महल मिल गया है, उसके बाहर आना अच्छा नहीं लगता। कहाँ निवास करना उसकी खबर नहीं थी। जहाँ प्रतीति हुई कि इस आत्मा में रहने जैसा है, यही अच्छा निवासस्थान है; अन्तर में आनन्दधाम में निवास करना अच्छा है, वहाँ अब उसके बाहर आना अच्छा नहीं लगता।

मुनि किसी प्रकार का बोझ नहीं लेते। प्रवचनसार की चरणानुयोगसूचक चूलिका में आया है न कि मुनि को कर्मप्रकर्म नहीं होता – मुनि कोई कार्य सिर पर नहीं लेते। 'पाठशाला का ध्यान रखना पड़ेगा; पैसा उगाहने के लिए तुम्हें जाना पड़ेगा, तीर्थ के लिए चन्दा ईकट्टा करना पड़ेगा' – ऐसे कोई कार्य मुनि अपने सिर पर लेते ही नहीं। किसी भी प्रकार का बोझ मुनि अपने सिर पर नहीं रखते।

अन्दर जाएँ तो अनुभूति और बाहर जाएँ तो तत्त्वचिन्तन आदि.....

आत्मध्यान और स्वाध्याय यह दो काम मुनि को होते हैं। ध्यान में रहते हैं; ध्यान में न रह सकें तो स्वाध्याय करते हैं। है वह शुभभाव। इन दो के अतिरिक्त अन्य कोई कार्य मुनि को नहीं होते। 'हमें पञ्च कल्याणकपूर्वक जिनबिम्ब-प्रतिष्ठा करना है, उसमें आपको आना पड़ेगा।' ऐसा आग्रह मुनि को नहीं होता। उनके अन्तर में आनन्द वर्तता है। मुनि को (उनकी भूमिका के) योग्य विकल्प उठे, वह भी बोझरूप लगता है, तब फिर 'आपको आना पड़ेगा और ध्यान रखना पड़ेगा' – ऐसी जिम्मेदारी मुनि क्यों अपने सिर लेंगे ?

साधकदशा इतनी बढ़ गयी है कि द्रव्य से तो कृतकृत्य हैं ही परन्तु पर्याय में भी अत्यन्त कृतकृत्य हो गये हैं।

वस्तु तो स्वभाव से अखण्ड है, पूर्ण है परन्तु साथ ही मुनि को पर्याय में तीन कषाय के अभाव की आनन्ददशास्वरूप अत्यन्त कृतकृत्यता-वीतरागी प्रचुर स्वसंवेदनदशा प्रगट हुई है। पूर्ण कृतकृत्यता तो केवली को है परन्तु मुनि को भी अत्यन्त कृतकृत्यपना हुआ है। अन्तर में रहना, वह मुनि का सहज निवास है, बाहर आना उन्हें बोझरूप लगता है। ●

(वचनामृत, बोल 113 पर पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी का प्रवचन, वचनामृत प्रवचन, 1/327)

प्रतिकूलता में भी सन्तों को दुःख नहीं

बाह्य प्रतिकूल संयोग होने पर भी सन्तों को दुःख नहीं होता, क्योंकि चैतन्यमूर्ति आत्मा अस्पर्श स्वभावी है, वह परसंयोगों को स्पर्श नहीं करता; अतः उसे संयोगों का दुःख नहीं है।

धर्मात्मा को अन्तर स्वभाव की दृष्टि से आत्मा के परम आनन्द का स्पर्श हुआ है, आनन्द का अनुभव हुआ है और फिर विशेष लीनता होने पर वीतरागी चारित्रदशा प्रगटी है, उसमें परम आनन्द की लहरें बढ़ गई हैं।

भगवान वन में अकेले रहते थे, इसलिए दुःखी थे — ऐसा नहीं है। वे तो अन्तर के चैतन्यवन में आत्मा के आनन्द की मस्ती में रहते थे। वास्तव में भगवान वन में रहे ही नहीं, वे तो शरीर में भी नहीं रहते थे, पञ्च—महाव्रत के शुभराग में भी नहीं रहते थे; वे तो अपने आत्मस्वभाव में रहकर आत्मा के आनन्द में झूलते थे।

सिद्ध भगवन्तों को नमस्कार करके भगवान ने दीक्षा ली। इसके पश्चात् आत्मध्यान में लीन होते ही उन्हें मनःपर्ययज्ञान प्रगट हो जाता है।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, राजकोट : वीर सं. २४७६, फाल्गुन शुक्ल दशमी, दीक्षाकल्याणक दिवस

संयमरूपी कल्पवृक्ष की शीतल छाया में...

मुनिराज को शुद्धात्मतत्त्व के उग्र अवलम्बन द्वारा आत्मा में से संयम प्रगट हुआ है।

अब मुनिराज की बात करते हैं। अहा! मुनिराज कहा किन्हें जाए? सहज दर्शन, सहज चारित्र, सहज-आनन्दादि अनन्त गुणरूप आश्चर्यों का भण्डार – ऐसे निज ज्ञायक भगवान आत्मा के उग्र अवलम्बन द्वारा जिन्हें आत्मा में से वीतराग संयमदशा प्रगट हुई है, उन्हें मुनिराज कहा जाता है। 'शुद्धात्मद्रव्य के उग्र अवलम्बन द्वारा' – ऐसा क्यों कहा? शुद्धात्मतत्त्व का अवलम्बन तो गृहस्थदशा में स्थित अविरत सम्यग्दृष्टि को भी है, सम्यग्दृष्टि देव, तिर्यञ्च और नारकी भी हैं परन्तु चारित्रदशा में शुद्धात्मतत्त्व का जितना उग्र अवलम्बन हो, उतना असंयमदशा में नहीं होता, मन्द होता है।

मुनिराज को निज शुद्धात्मतत्त्व के उग्र आश्रय से आत्मा में से वीतराग संयमदशा प्रगट हुई है। संयमदशा आत्मा के आश्रय से प्रगट होती है; छह काय के जीवों की दया पालने अथवा पाँच इन्द्रियों के विषयों को छोड़ने के शुभविकल्प से नहीं। शुभविकल्प भी राग है; राग से वीतराग संयम कदापि प्रगट नहीं होता। अहा! त्रिलोकनाथ सर्वज्ञ परमात्मा ने मुनिराज का जो स्वरूप कहा है, वही यहाँ बहिन की वाणी में आया है।

अरे रे! ऐसी बातें जगत् को कठिन लगती हैं, परन्तु क्या हो? भाई! मरकर कहाँ डेरा होगा, इसकी कोई खबर है? कोई स्नेही-सम्बन्धी नहीं – ऐसे अनजाने संयोग में, अनजाने क्षेत्र में, अनजाने काल में, कहीं जा गिरेगा। आश्चर्यकारी निज 'ज्ञाता' तत्त्व को जिसने नहीं देखा और जिसे संयोग में ही आश्चर्य लगा, वह अपने परिणाम के अनुसार

जन्म-मरण के संयोगों में ही भटकेगा। यहाँ तो उसका अभाव कैसे हो ? – उसकी बात है। यहाँ तो मुनिराज को संयमदशा किस प्रकार प्रगट हुई – यह बात कही है।

प्रथम सम्यग्दर्शन प्रगट होने पर अन्तर में अंशतः अतीन्द्रिय आनन्द आये, तब अन्तरस्वरूप में रक्त होता है और पर से तथा विभाव से विरक्त होता है – यह बात 387 वें बोल में कही। अब, भूमिका में वृद्धि होने पर जो सच्ची मुनिदशा होती है, वह निज त्रिकालशुद्ध आत्मा के उग्र अवलम्बन से प्रगट होती है, यह बात कहते हैं।

शुद्धात्मतत्त्व के अन्तर्मुख उग्र अवलम्बन द्वारा आत्मा में से जो सहज संयमदशा प्रगट हो – ऐसा मुनिपना है। अरे! आजकल कहाँ दिखायी देता है? बाह्य पञ्च महाव्रतों का पालन करें और नग्न होकर फिरे, इसलिए वे मुनि हैं – ऐसा नहीं है। वस्त्र-पात्रसहित मुनिपना मानें-मनायें वे तो मुनि हैं ही नहीं; वे तो गृहीतमिथ्यादृष्टि कुलिङ्गी हैं परन्तु जो वस्त्ररहित नग्न होकर महाव्रतादि शुभराग में धर्म मानकर अटक गये हैं, वे भी मिथ्यादृष्टि ही हैं। उनको शुद्धात्मतत्त्व का जघन्य आलम्बन भी नहीं है, तो उग्र आलम्बनरूप संयमदशा की तो बात ही कहाँ रही? ऐसी बात जगत को असहनीय लगती है परन्तु क्या हो? वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा जिनेश्वरदेव का आदेश तो इस प्रकार है कि निज शुद्धात्मद्रव्य के उग्र आलम्बन द्वारा ही आत्मा में से संयम प्रगट होता है। सं + यम; 'सं' अर्थात् आत्मा के सम्यग्दर्शन तथा अनुभवपूर्वक, 'यम' अर्थात् स्वरूपस्थिरता। अरे! ऐसी सहज मुनिदशा तो वर्तमान में देखने को भी मिलना कठिन है। आत्मा में से मुनिराज को संयम प्रगट हुआ है; किस कारण? कि – 'शुद्धात्मतत्त्व के उग्र अवलम्बन द्वारा' – ऐसा कहकर कारण भी बतलाया है।

सारा ब्रह्माण्ड पलट जाए, तथापि मुनिराज की यह दृढ़ संयमपरिणति नहीं पलट सकती।

मुनिराज तो उन्हें कहते हैं कि जिनके अन्तर में स्वभाव के आश्रय से प्रचुर स्वसंवेदनस्वरूप अतीन्द्रिय आनन्द की धारा बहती हो। आत्मा के जघन्य आलम्बन से जो दृष्टि और ज्ञान हुए, उनमें भी साथ ही अतीन्द्रिय आनन्द के अंश का वेदन है परन्तु मुनिदशा में वह शुद्धात्मावलम्बन उग्र कोटि का होने से आनन्द की धारा विशेष होती है।

ध्रुव ज्ञायकस्वभाव का उग्र अवलम्बन लेने के कारण आत्मा में से संयम प्रगट हुआ है; महाव्रत के विकल्पों से अथवा नग्नता से प्रगट नहीं हुआ है। अहा! सूक्ष्म बात है भाई!

भगवान कुन्दकुन्दाचार्य तो ऐसा कहते हैं कि बाह्य में वस्त्ररहित नग्नतारूप द्रव्यलिङ्ग हो और अन्तर में मिथ्यात्व तथा अविरति के विकल्परहित संयमचारित्र प्रगट हो, वह एक ही मुनिमार्ग है, शेष सब उन्मार्ग हैं। अहा! यह तो नग्न सत्य है। परम सत्य परमात्मा जिनेश्वर की यह पुकार है।

शाश्वत जो त्रिकालशुद्ध निज आत्मद्रव्य, उसके उग्र आलम्बन से मुनिराज को जो दृढ़ संयम परिणति प्रगट हुई है, वह सारा ब्रह्माण्ड पलट जाए, तथापि बदल जाए – चलित हो जाए – ऐसी नहीं है। शाश्वत द्रव्यस्वभाव कभी अपने स्वरूप से चलित नहीं होता, वैसे ही उसके उग्र अवलम्बन द्वारा प्रगट हुई मुनिराज की दृढ़ संयमपरिणति भी चलित हो-बदल जाए – ऐसा नहीं है। ऐसी बात है, समझ में आता है कुछ ?

बाहर से देखने पर तो मुनिराज आत्मसाधना के हेतु वन में अकेले बसते हैं परन्तु अन्तर में देखें तो अनन्त गुण से भरपूर स्वरूपनगर में उनका निवास है।

वीतराग जैनमुनि कैसे होते हैं ? उसकी यह बात है। सच्चे जैनमुनि के-वीतराग दिगम्बर सन्त के दर्शन भी इस काल में दुर्लभ हो गये हैं; आजकल तो भारतदेश में ऐसे सच्चे भावलिङ्गी मुनि कोई दिखायी नहीं देते। क्या हो ? लोगों को असह्य लगता है।

बाहर से देखने पर आत्मज्ञानी संसारविरक्त मुनिराज आत्मसाधना हेतु निर्जन वन में एकाकी निवास करते हैं परन्तु अन्तर में देखने से उनका निवास सहजज्ञान एवं सहज-आनन्दादि अनन्त गुणों से परिपूर्ण ऐसे निज स्वरूपनगर में है। सर्वज्ञ वीतराग परमात्मा जिनको मुनि कहते हैं और जिन्होंने निज ज्ञायकस्वभाव के उग्र आलम्बन द्वारा आत्मा में से संयमपरिणति प्रगट की है – ऐसे निर्ग्रन्थ दिगम्बर साधक सन्त वन में एकाकी निवास करते हैं परन्तु भीतर देखने पर वे अकेले नहीं हैं, अनन्त गुणरूप वस्ती से भरपूर ऐसे निज चैतन्यनगर में उनका निवास है। अहा! उन्होंने भीतर स्वरूपनगर में 'वास्तु' (गृहप्रवेश) किया है।

इस वाक्य में (1) 'बाहर से देखने पर' के सामने 'अन्तर से देखने पर', (2) 'वन

में' के सामने 'स्वरूपनगर में' और (3) 'एकाकी' के सामने 'अनन्त गुण से भरपूर' – ऐसे तीन प्रकार से शब्दों का मेल आ गया है। अनन्त गुणों से भरे हुए निज स्वरूपनगर में आत्मसाधना हेतु मुनिराज का निवास है। पञ्च महाव्रतों का पालन करें, छह काय के जीवों की दया पालें – इसमें तो धूल भी साधकपना नहीं है; अन्तर में शुद्धात्मा की साधना करे, उसे साधु कहते हैं। अहा! भाषा तो देखो! प्रत्येक शब्द में गहरे भाव भरे हैं।

बाहर से देखने पर भले ही वे क्षुधावन्त हों, तृषावन्त हों, उपवासी हों परन्तु अन्तर में देखा जाए तो वे आत्मा के मधुररस का आस्वादन कर रहे हैं।

आत्मस्वरूप की साधना में लीन उन मुनिवरो को दो, चार या छह दिनों तक विधिपूर्वक, अधःकर्म या उद्देशिक आदि दोषरहित, निर्दोष आहार का योग नहीं बना हो, वे क्षुधावन्त-तृषावन्त हों, उपवासी हों, पेट-पीठ मिल गये हों, तथापि अन्तर में देखने पर वे आत्मा के मधुररस का आस्वादन कर रहे हैं, अतीन्द्रिय आनन्दामृत के भोजन से तृप्त-तृप्त हो रहे हैं। अहा! ऐसी दशा को मुनिपना कहा जाता है।

वीतराग सर्वज्ञ द्वारा कथित मुनिपना कोई अलौकिक है। जो साधनारूप पर्याय में प्रचुर आनन्द के स्वाद का अनुभव कर रहे हैं, उन्हें मुनि कहते हैं। बाहर से देखने पर क्षुधा, तृषा या उपवास हो परन्तु अन्तर में वे भगवान् आत्मा के आनन्दामृत का रसास्वादन कर रहे हैं। अरे! मुनिपना कैसा होता है? उसकी लोगों को खबर नहीं है, श्रद्धा नहीं है।

बाहर से देखने पर भले ही उनके चारों ओर घनघोर अन्धेरा व्याप्त हो परन्तु अन्तर में देखो तो मुनिराज के आत्मा में आत्मज्ञान का उजाला फैल रहा है।

अहा! अषाढ़ मास की घनघोर मेघाच्छन्न रात्रि हो, वन में चारों ओर घोर अन्धकार व्याप्त हो परन्तु मुनिराज के अन्तर में आत्मज्ञान का-आत्मानुभूति का उजाला फैल रहा है। अहा! यह कैसी बात है! चैतन्य की जो अनन्त शक्ति है, उसमें से उसके उग्र अवलम्बन द्वारा मुनिराज के अन्तर में प्रकाश का ज्वार आया है। बाहर भले ही अन्धेरा हो परन्तु उनके अन्तर में आत्मज्ञान का अनुपम प्रकाश फैल गया है।

बाहर से देखने पर भले ही मुनिराज सूर्य के प्रखर ताप में ध्यान करते हों परन्तु अन्तर में वे संयमरूपी कल्पवृक्ष की शीतल छाया में विराजमान हैं।

पहले अन्धकार की बात कही, अब यहाँ ताप की बात करते हैं। बाहर से देखने पर मुनिराज भले ही सूर्य के प्रचण्ड ताप में-शरीर जलता हो ऐसी तेज धूप में-ध्यान करते हों परन्तु अन्तर में स्वरूपरमणतारूप कल्पवृक्ष की शीतल छाया में विराज रहे हैं। अतीन्द्रिय ज्ञान-आनन्दस्वभावी भगवान आत्मा के उग्र अवलम्बन द्वारा पर्याय में जो अतीन्द्रिय शीतल छाया प्रगट हुई है, उसमें वे मुनिराज विराज रहे हैं।

कल्पवृक्ष सम संयमकेरी अति शीतल जहँ छायाजी,
चरण-करण-गुणधार महामुनि, मधुकर मन ललचायाजी।

मुनिराज, सूर्य के प्रचण्ड ताप में नहीं, किन्तु शीतल स्वभाव के आश्रय से प्रगट हुई संयम की कल्पवृक्ष समान शीतल छाया में विराज रहे हैं।

उपसर्ग का प्रसङ्ग आए, तब मुनिराज को ऐसा लगता है कि - 'अपनी स्वरूपस्थिरता के प्रयोग का मुझे अवसर मिला है, इसलिए उपसर्ग मेरा मित्र है।'

उन वनवासी मुनिवरों को अनेक प्रकार के बाहरी उपसर्ग आते हैं - बिच्छू या सर्प काटें, कोई दुष्ट मनुष्य प्रहार करे, पूर्व भव का विरोधी जीव, पार्श्वनाथ भगवान को कमठ की भाँति, देव होकर उपसर्ग करे - पत्थर, पानी और अग्नि आदि की वर्षा करे, तब उनको अन्तर में ऐसा लगता है कि 'अहा! यह तो मेरी स्वरूपस्थिरता के प्रयोग का, मेरी सहजदशा की परीक्षा का मुझे अवसर प्राप्त हुआ, इसलिए यह उपसर्ग मेरा मित्र है।'

श्रीमद् राजचन्द्रजी ने भी कहा है न! कि —

एकाकी विचरूँगा कब श्मशान में,
अरु पर्वत में बाघ सिंह संयोग जो,
अडोल आसन अरु मन में नहीं क्षोभ हो,
परममित्र का मानो पाया योग जो... अपूर्व...

अहा! जिनका लक्ष्य निज द्रव्यसामान्य पर है, दृष्टि और संयम के आश्रयभूत त्रिकालशुद्ध ज्ञायकभाव के उग्र आलम्बन से स्वरूपरमणता की शीतल छाया जिनके प्रगट हुई है, उन मुनिवरों को कोई भी बाह्य उपसर्ग स्वरूपस्थिरता से च्युत नहीं कर सकता। उपसर्ग की प्रतिकूलता के समय भी उनके अन्तर की आनन्दधारा सतत् प्रवाहित होती है।

आत्म लीनता मन-वच-काया योग की,
मुख्यरूप से रही देहपर्यन्त जब।
भयकारी उपसर्ग परीषह हो महा।
किञ्चित् न होवे स्थिरता का अन्त जब।.... अपूर्व....

अहा! मुनिराज कहते हैं कि 'उपसर्ग तो मेरी स्वरूपस्थिरता की परीक्षा करने का अवसर है।'

अन्तरङ्ग मुनिदशा अद्भुत है; वहाँ देह में भी उपशमरस के ढाले ढल गये होते हैं।

वास्तव में वह अन्तरङ्गदशा अद्भुत है। अन्तर में ज्ञायकस्वभाव के उग्र आलम्बन से कषाय की तीन चौकड़ी का अभाव हुआ है, इसलिए परिणति में तो सुख तथा शान्ति की धारा खूब बढ़ गयी है परन्तु बाहर शरीर की मुद्रा में भी मानों उपशमरस ढल गया होता है। शरीर की मुद्रा भी ऐसी शान्त... शान्त... शान्त,..... मानो संसार से बिलकुल मृतप्राय हो गये हों - ऐसी सहज हो जाती है।

प्रश्न : यह तो चौथे काल के मुनि की बात है न ?

उत्तर : अरे, यह तो पञ्चम काल के मुनि की बात है। पञ्चम काल में मुनिपना कैसा होता है ? - वह यहाँ बतलाते हैं। चौथे काल के हों अथवा पञ्चम काल के हों, मुनियों के स्वरूप में कोई अन्तर नहीं होता। 'एक होय त्रिकाल में परमारथ का पन्थ।' तीनों काल में मुनिपना एक ही प्रकार का होता है। जैसे वस्तु का मूलस्वरूप तीनों काल पवित्र एवं शुद्ध एक ही प्रकार का होता है, वैसे ही उसके आलम्बन से प्रगट होनेवाली पवित्रता एवं शुद्धता-मुनिदशा भी तीनों काल एक प्रकार की ही होती है। शुभयोग से-शुभभाव से वह पवित्रदशा प्रगट नहीं होती; शुभ तो निमित्त के आश्रय से प्रगट होता है, वह कहीं आत्मा का स्वरूप नहीं है।

ज्ञायकस्वभाव के उग्र आलम्बन से अन्तर में शान्ति एवं आनन्द की प्रचुर धारा बहे - ऐसी सहज मुनिदशा के बिना मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती। अकेले सम्यग्दर्शन, ज्ञान और (मात्र अनन्तानुबन्धी कषाय के अभाव से प्रगट होनेवाले) स्वरूपाचरणचारित्र से मुक्ति

हो जाए - ऐसा नहीं है। उसे मुक्ति अवश्य होगी, यह बात सत्य है परन्तु इतने मात्र से (असंयमदशा के या देशसंयमदशा के दर्शन-ज्ञान-चारित्र से) नहीं। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानपूर्वक स्थिरता अपेक्षा से स्वभाव के उग्र अवलम्बन से प्रचुर स्वसंवेदनयुक्त सहज मुनिदशा प्रगट करके स्वरूप में पूर्ण स्थिरता होने पर मुक्ति प्राप्त होती है।

मुनिदशा, वह साधन और मुक्ति, वह साध्य - यह भी व्यवहारनय का कथन है। मुनिदशापूर्वक ही मुक्ति होती है, इसलिए मुनिदशा को साधन और मुक्ति को साध्य कहा है। वास्तव में तो त्रैकालिक शुद्ध द्रव्यस्वभाव का स्थिरता भाव से पूर्ण आलम्बन लेते हैं, तब केवलज्ञानादि पूर्णदशा-मुक्ति प्रगट होती है। केवलज्ञान, द्रव्यस्वभाव के पूर्ण आलम्बन द्वारा प्रगट होता है।

मुनिराज के शरीर में भी मानों उपशमरस ढल गया है। शान्त.... शान्त.... शान्त, शरीर में, अरे! वचन में भी कहीं चपलता या चंचलता दिखायी न दे - ऐसे शान्तरस के साँचे में ढल गये हैं। ऐसे मुनिराज को निर्ग्रन्थ गुरु कहा जाता है। उनके शरीर की नग्नता निमित्तरूप होती ही है परन्तु वह कहीं..... अरे! महाव्रत के शुभविकल्प भी, चारित्र नहीं है; उनसे मोक्ष नहीं है। मोक्ष तो, अन्तर में शुद्धात्मद्रव्यस्वभाव के उग्र आलम्बन से जो स्वरूपस्थिरता प्रगट होती है, उससे होता है। वह स्वरूपस्थिरता ही मुनिदशा है। अन्तर में प्रगट होनेवाली वह सहज मुनिदशा अद्भुत है; शरीर में भी प्रशमरस ढल गया होता है; मुनिराज की मुखमुद्रा से भी शान्तरस झरता है। अहा! ऐसी बात है। ●

(वचनामृत बोल 388 पर पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी का प्रवचन, वचनामृत प्रवचन, भाग-4, पृष्ठ-171)



मुनिराज की अलौकिक वृत्ति

अखण्ड द्रव्य को ग्रहण करके प्रमत्त-अप्रमत्त स्थिति में झूले, वह मुनिदशा।

टाँकनी से पत्थर में उत्कीर्ण चित्र की भाँति, जिसका त्रिकाल टड्कोत्कीर्ण पूर्णस्वरूप सदा शुद्ध है - ऐसे चैतन्यमूर्ति भगवान आत्मा का-शाश्वत् एकरूप पदार्थ का आश्रय करके, स्वरूप में विशेष स्थिरता होने पर, प्रमत्त-अप्रमत्त स्थिति में झूले, वह मुनिदशा है। 'धवला' में आया है कि केवलज्ञान प्राप्त करने में अन्तिम अन्तर्मुहूर्त काल रहे, तब छठवाँ-सातवाँ गुणस्थान हजारों बार आता-जाता है। अखण्ड द्रव्य का आश्रय ग्रहण करके क्षण में प्रमत्त और क्षण में अप्रमत्त - इस प्रकार अन्तर्मुहूर्त में हजारों बार झूले की भाँति झूलते हैं, उसे मुनिदशा कहते हैं।

मुनिराज स्वरूप में निरन्तर जागृत हैं। अनादि से राग की एकता में जो सोते पड़े थे वे अब, राग की भिन्नता करके, भीतर ज्ञान और आनन्द में जागकर, जागृत जीते हैं। जागृत जीव-ज्ञायक पर्याय में जागता खड़ा है। समयसार की पाँचवीं गाथा की टीका में यहाँ तक लिया है कि जिस प्रकार अरहन्तदेव निर्मल विज्ञानघन में निमग्न हैं, उसी प्रकार हमारे गुरु-मुनि भी विज्ञानघन में निमग्न हैं। देव और गुरु दोनों विज्ञानघन में निमग्न हैं, इसलिए एक अपेक्षा से दोनों समान हैं। अहा! ऐसी होती है मुनिदशा! उसमें कायों का काम नहीं है।

मुनि को आत्मा के आनन्द का वीररस जागा है, इसलिए वे निरन्तर जागृत हैं। भले छठवें गुणस्थान में आयें, तथापि अन्तर में तो निरन्तर जागृत ही हैं। ज्ञाता-दृष्टापना और शुद्धपरिणति छठवें में भी वर्तती है। अहा! ऐसी है मुनिदशा की व्याख्या!

मुनिराज जहाँ जागते हैं, वहाँ जगत् सोता है; जगत् जहाँ जागता है, वहाँ मुनिराज सोते हैं।

मुनि अतीन्द्रिय आनन्द में जागते हैं, वहाँ जगत् सोता है; अतीन्द्रिय ज्ञान की जागृति की जगत् को खबर नहीं है। 'मोक्षपाहुड़' में आता है न! —

**योगी सोता व्यवहार में वह जागता निज कार्य में।
जो जागता व्यवहार में वह सुप्त आत्म कार्य में॥**

मुनि जहाँ जागते हैं, वहाँ गृहस्थ सोते हैं और गृहस्थ जहाँ जागते हैं, वहाँ मुनि सोते हैं। गृहस्थ, राग में जागते हैं; वहाँ मुनि सोते हैं, वीतराग हो गये हैं। मुनिराज की स्वरूप में जागृति है। भले छठवें गुणस्थान में आये, महाव्रतादि के प्रमादजनित विकल्प आये, तथापि त्रैकालिक ज्ञान-दर्शनस्वभाव का अवलम्बन लेकर पर्याय में ज्ञाता-दृष्टापने की जागृति उग्रता से प्रगट हुई है; इसलिए वे जागतीज्योति चैतन्य में ही बैठे हैं; नग्नदशा में या पञ्च महाव्रत के विकल्प में वे नहीं बैठे हैं। नग्नदशा तो अजीव शरीर की अवस्था है और पञ्च महाव्रत, आस्रव है। जागती ज्योति, अजीव एवं आस्रव में नहीं रही है। अहा! मुनिराज का ऐसा स्वरूप है।

वस्त्र-पात्र की गठरियाँ रखें और उसमें मुनिपना मानें-मनायें, वह तो गजब की बात है। स्त्री को मुनिपना और केवलज्ञान का होना मानें, स्त्री को तीर्थङ्कर मानें, मल्लिनाथ तीर्थङ्कर स्त्री थे - ऐसा कहें - वह सब मिथ्यात्व और कोरी गप्प है। अरे भाई! ऐसा नहीं होता। जिनके दास चक्रवर्ती, बलदेव-वासुदेव तथा इन्द्र भी स्त्री नहीं होते, ऐसे उन तीन लोक के अधिपतियों के स्वामी तीर्थङ्कर को स्त्री मनायें - वह तो प्रभु! बड़ा फेरफार कर डाला!

यहाँ तो, दिगम्बर सम्प्रदाय में जन्म लिया है, उन्हें भी खबर नहीं है कि सच्ची मुनिदशा कैसी होती है। मुनिराज जागते हैं, वहाँ जगत् सोता है। जागृतदशा क्या? और सुप्तदशा क्या? उसकी जगत् को खबर नहीं है। अन्तर में चैतन्य की जागृतदशा की अर्थात् ज्ञान, दर्शन एवं आनन्दरूप दशा की जगत् को खबर नहीं है।

जगत् जहाँ जागता है, वहाँ मुनिराज सोते हैं। जगत् के प्राणी तो पुण्य और पाप के

राग में जागते ही पड़े हैं; स्त्री-पुत्र-परिवार वह सब पर हैं, उन्हें अपना मानते हैं। जो अपना नहीं है, उसे अपना मानकर जगत् के जीव राग और विकार में जागते हैं, निर्विकार में अजागृत हैं-सोते हैं। लोग पर में और राग में जागते हैं, वहाँ मुनिराज सो गये हैं, उस ओर का राग छूट गया है। उस ओर का मुनि को लक्ष्य ही नहीं है, भीतर ज्ञान और आनन्द की जागृति में लगे हैं।

यहाँ तो मुनि की बात लेना है न? मुनि को प्रचुर स्वसंवेदन होता है। प्रचुर विशेषण का प्रयोग करने में हेतु है। सम्यग्दर्शन होने पर वेदन सम्यक् आता है परन्तु प्रचुर नहीं आता। मुनिदशा में तीन कषाय का अभाव होने से, प्रचुर स्वसंवेदन होता है। आत्मा के अतिरिक्त जो रागादि के विकल्प में सावधानी करके पड़े हैं, वे स्वरूप से सो गये हैं - विमुख हो गये हैं; अज्ञान-अन्धकार को जागृतदशा मानकर पड़े हैं। संसारी जीव, पुण्य - पाप के भाव और उसके फलरूप कुटुम्ब-परिवार में सावधान होकर जागते हैं, उसमें मुनिराज सो गये हैं, उनके प्रति सावधानी छूट गयी है और अन्तर में अतीन्द्रिय आनन्ददशा में लीन हो गये हैं। 'समाधितन्त्र' में कहा है ना! —

सोता जो व्यवहार में वह जागता निज कार्य में।

जागृत जो व्यवहार में, वह सोता आत्म कार्य में॥

मुनिराज, व्यवहार में सो गये हैं और निजकार्य में सदा जागृत हैं। जगत्, व्यवहार में-पर में और विभाव में जागृत है और निज आत्मा के कार्य में सोता है; अज्ञान-अन्धकार में पड़ा है।

मुनिराज जो निश्चयनयाश्रित, मोक्ष की प्राप्ति करें।

यहाँ समयसार की 271 वीं गाथा का आधार दिया है। जिन्हें व्यवहार का आश्रय नहीं है, वे निश्चय से जागृत हैं। स्वरूप के आश्रय से जो जागृतदशा हुई, उससे मुनिराज निर्वाण की प्राप्ति करते हैं; व्यवहार के आश्रय से नहीं।

अन्यमत में भी आता है कि जगत् जहाँ सोता है, वहाँ धर्मी जागते हैं और जहाँ धर्मी जागते हैं, वहाँ जगत् सोता है परन्तु यहाँ यह बात अलौकिक है। मुनिराज, निजघर में जागते हैं और परघर से सो गये हैं; लोक, परघर में जागता है और निजघर से सो गया है।

ज्ञानी की सावधानी अन्तर में है, पर में सावधानी छूट गयी है।

‘मुनिराज जो निश्चयनयाश्रित.....’ का अर्थ ऐसा है कि निश्चय जो त्रैकालिक द्रव्य है, उसके आश्रय से जो निर्मलपरिणति प्रगट हो, उससे निर्वाण की प्राप्ति होती है। निश्चय तो त्रैकालिक द्रव्य है, उसके आश्रय से वीतरागपरिणति हुई, वह भी निश्चय है। यह वीतरागपरिणति, वह पर्याय का निश्चय है। यहाँ निश्चयद्रव्य, निर्मलपर्याय का आश्रय है; पर्याय ने आश्रय किया है द्रव्य का; उस आश्रय लेनेवाली पर्याय को भी निश्चय कहा है और उस निश्चय के आश्रय से-निश्चयरूप परिणमने से मुनि, मुक्ति को प्राप्त करते हैं। ब्रतादि के विकल्परूप व्यवहार है, वह बात यहाँ नहीं लेना है। ‘परमार्थवचनिका’ में द्रव्य, वह निश्चय और मोक्षमार्ग की पर्याय, वह व्यवहार – ऐसा कहा है; वह यहाँ नहीं लेना है। यहाँ तो द्रव्य के आश्रय से जो परिणति प्रगट हुई, वह शुद्धपरिणति निश्चय है। मोक्ष और मोक्ष का मार्ग पर्याय है। मोक्षमार्ग की पर्याय के आश्रय से वास्तव में मोक्ष नहीं होता, द्रव्य के आश्रय से मोक्ष होता है परन्तु द्रव्य के आश्रय से प्रगट हुआ मोक्षमार्ग का परिणमन द्रव्य की जाति का है, राग की जाति का नहीं है, व्यवहार की जाति का नहीं है – ऐसा बतलाने के लिये मोक्षमार्गरूप पर्याय को यहाँ निश्चय कहा है।

(वचनमृत प्रवचन, 1/187)

हम भी उस ही पन्थ के पथिक

अहो! धन्य यह मुनिदशा!! मुनिराज फरमाते हैं कि हम तो चिदानन्दस्वभाव में झूलनेवाले हैं; हम इस संसार के भोग हेतु अवतरित नहीं हुए हैं। अब हम अपने आत्मस्वभाव में प्रवृत्त होते हैं। अब हमारे स्वरूप में विशेष लीन होने का अवसर आया है। अन्तर आनन्दकन्दस्वभाव की श्रद्धासहित उसमें रमणता हेतु जागृत हुए हमारे भाव में अब भङ्ग नहीं पड़ना है। अनन्त तीर्थङ्करों ने जिस पन्थ में विचरण किया, हम भी उस ही पन्थ के पथिक हैं।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, जिणसासणं सव्वं, ७५, पृष्ठ ४

मोक्षमार्ग में विहरवान वीतरागी सन्तों की टङ्कोत्कीर्ण सत्य बात

आगमज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान, संयमभाव एक साथ होने पर भी निर्विकल्प वीतरागी ज्ञान हुए बिना, अल्प राग का सद्भाव भी मोक्षमार्ग में बाधक ही है – ऐसा प्रवचनसार गाथा 239 में कहते हैं। यदि देहादिक के प्रति परमाणु जितनी भी मूर्च्छा विद्यमान हो तो वह भले ही सर्व आगमधर हो परन्तु सिद्धि को प्राप्त नहीं होता।

सातवें गुणस्थान के योग्य निर्विकल्प श्रद्धा, ज्ञान, चारित्रलक्षण आत्मज्ञान हो और छठवें गुणस्थान का अन्तर्मुहूर्त काल, जो अंशतः रागदशा है, उसमें आगम का ज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान और संयतपना होने पर भी, मात्र उतना शुभराग मोक्षकार्य के लिए अकिञ्चित्कर है, वह मोक्षमार्ग नहीं है। जहाँ अपूर्ण दशा, अर्थात् छठवें गुणस्थान के योग्य वीतरागता को मोक्ष का साधन नहीं कहा तो अकेला शुभरागरूप व्यवहाररत्नत्रय, मोक्ष का साधन कैसे होगा? क्योंकि वह बन्ध का कारण है। शरीर की क्रिया तो मोक्ष का कारण नहीं है, किन्तु शुभराग भी मोक्ष का कारण नहीं है।

नियमसार गाथा-2 की टीका में स्पष्ट कहा है कि मोक्षमार्ग परम निरपेक्ष ही होता है; इसलिए स्व से सापेक्षरूप अपने शुद्धात्मा के आश्रय से ही होता है तथा पर से निरपेक्ष ही होता है – ऐसा समझना चाहिए। मोक्षमार्गप्रकाशक में कहा है कि – ‘मोक्षमार्ग दो नहीं हैं, किन्तु मोक्षमार्ग का निरूपण दो प्रकार से है। जहाँ यथार्थ मोक्षमार्ग नहीं है, किन्तु मोक्षमार्ग का निमित्त है व सहचारी है, उसे उपचार से मोक्षमार्ग कहा है।’ इसलिए वास्तव में तो एक वीतरागभाव ही मोक्षमार्ग सिद्ध हुआ। यहाँ सातवें गुणस्थान से मोक्षमार्ग कहा

है और छठवें गुणस्थान के राग को भी मोक्षमार्ग में बाधक माना है ।

शरीरादि के प्रति अणुमात्र भी मूर्च्छा हो तो वह समस्त आगम को जानता हुआ भी सिद्धि को प्राप्त नहीं होता । यहाँ सम्यग्ज्ञानी की बात है ।

श्रुतज्ञानी समस्त आगम के सार को हस्तामलकवत् जानता है तथा भूत, वर्तमान और भविष्यत को स्वोचित ज्ञान के विकास द्वारा जानता है ।

आत्मा का स्वभाव त्रिकाल की स्वोचित पर्यायों के साथ समस्त द्रव्यों को जानता है, इसलिए वह ज्ञानी साधु भूत, वर्तमान और भावी पर्यायों के साथ समस्त द्रव्य समूह को जाननेवाले ऐसे अपने आत्मा को जानता है, श्रद्धा करता है और संयमित रखता है । उस पुरुष के आगमज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान और संयतपना – यह तीनों एक साथ होने पर भी, यदि उस पुरुष के किञ्चित्मात्र सञ्चलनकषायरूपी चारित्र मल में युक्तता के कारण शरीरादि के प्रति अल्प मूर्च्छा द्वारा मलिनता रहने से निर्मल, निर्विकारी शुद्ध उपयोग में परिणत होकर सातवें गुणस्थान के योग्य ज्ञानात्मक आत्मा का अनुभव नहीं करता तो वह पुरुष मात्र उतने (किञ्चित्) मोहमल कलङ्करूप जो कीले के साथ बँधे हुए कर्मों से न छूटता हुआ सिद्ध (मुक्त) नहीं होता । इससे सातवें गुणस्थान के निर्विकल्प शुद्धोपयोगी आत्मज्ञान से शून्य आगमज्ञान-तत्त्वार्थश्रद्धान संयतत्व का युगपत्पना भी अकिञ्चित्कर ही है, तब निमित्त और शुभराग कथञ्चित् मोक्षमार्ग कहाँ रहा ?

साधु परमेष्ठी बारम्बार सातवें गुणस्थान में से च्युत होकर बारम्बार छट्टे गुणस्थान में आते हैं, वह अपवादिक, सास्त्रव एवं गौण मुनिपना है । उसमें जितना राग है, वह हेय है – बाधक ही है; यहाँ यह भलीभाँति स्पष्ट किया है ।

भावश्रुतज्ञान में सम्यग्ज्ञानी को अपने विकास के योग्य सर्व स्व-पर, द्रव्य-गुण-पर्यायों का स्वरूप बराबर भासित होता है; भेद, मात्र प्रत्यक्ष = परोक्ष ज्ञान का है । सम्यग्ज्ञानरूप से केवलज्ञान और श्रुतज्ञान समान हैं, वह बात गौण करके, राग का अंश सर्वथा बाधक ही है – यह बतलाना है । छट्टे गुणस्थान में बारम्बार आनेवाले संयमी मुनि हैं । स्वाश्रय के बल से तीन कषायों का अभाव किया है, सातवें गुणस्थान में बारम्बार आते हैं, किन्तु छट्टे गुणस्थान के काल में उन्हें कर्मक्षय का कारण ऐसा साक्षात् मोक्ष का उपाय

नहीं है, इसलिए उस पुरुष को मन्दप्रयत्नरूप निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनों होने पर भी, किञ्चित् मोहवश 28 मूलगुण - व्यवहाररत्नत्रय और शरीरादि के प्रति अल्प रागरूप अस्थिरता रहती है। यद्यपि राग में एकत्वबुद्धि नहीं है, राग को करने योग्य नहीं मानते, तथापि छट्टे गुणस्थान के योग्य राग (विकल्प) होने से इतनी मात्र मलिनदशा में रहने से निरुपराग ज्ञानानन्द उपयोग में अपने को परिणत करके अकेले अखण्ड ज्ञानात्मक आत्मा का अनुभवन नहीं करता, अर्थात् सातवें गुणस्थान के योग्य निर्विकल्प शुद्धता को ग्रहण करके अखण्ड आनन्दधारा में निश्चल नहीं रहता तो वह पुरुष मात्र उतने (किञ्चित्) मोहमलरूप जो कीला, उसके साथ बँधे हुए कर्मों से न छूटता हुआ, सिद्ध परमात्मपद प्राप्त नहीं करता।

सच्चे भावलिङ्गी मुनि को छट्टे गुणस्थान के काल में अट्ठाईस मूलगुण, छह आवश्यक आदि शुभविकल्प आते हैं, वह मोहमल की कीली है, उतना अजागृतभाव है, प्रमाद है, उसमें मोक्ष का उपाय नहीं होता।

प्रथम श्रद्धा में यह वीतरागता ही मोक्षमार्ग है - ऐसा स्पष्टरूप से स्वीकार करना चाहिए। अहो! देखो.... मोक्षमार्ग में झूलते हुए वीतरागी सन्तों की टङ्कोत्कीर्ण स्पष्ट बात।

स्वभावोन्मुख होते ही प्रथम श्रद्धा में, दृष्टि में, निर्णय में वीतरागता, यथार्थता और स्वतन्त्रता का स्वीकार तथा विरुद्ध बात का निषेध हो जाता है, उसका नाम अनेकान्त मार्ग है। कथञ्चित् शुभराग भी मोक्षमार्ग और कथञ्चित् वीतरागभाव मोक्षमार्ग - इस प्रकार संशयवाद, खिचड़ीवाद वीतरागमार्ग में नहीं है - ऐसा निर्धार करने के पश्चात् मोक्षमार्ग में पूर्ण वीतरागता न हो, वहाँ भूमिकानुसार कैसा राग निमित्तरूप से होता है, वह बतलाने के लिए तथा उसका आश्रय छुड़ाने और निश्चय भूतार्थ का आश्रय कराने के लिए शुभव्यवहार को उपचार से अर्थात् असद्भूतव्यवहारनय से मोक्षमार्ग कहा जाता है। ज्ञानी तो भूतार्थ के आश्रय से समस्त व्यवहार को हेय मानते हैं। 'हत' कहकर उसका खेद प्रगट किया है, तथापि वह होता है - ऐसा जानना, वह व्यवहारज्ञान का प्रयोजन है।

यहाँ छट्टे गुणस्थान के राग को भी मोक्षमार्ग के लिए अकिञ्चित्कर कहा है, उससे यह प्रगट होता है कि किसी भी प्रकार के राग से कल्याण नहीं है। देखो, जिसे व्यवहार मोक्षमार्ग कहा जाता है, उसी को बन्ध का कारण कहा है। सन्तों ने कुछ भी गुप्त नहीं रखा है - स्पष्ट बात की है।

छट्टे गुणस्थान का शुभराग भी मोक्ष के लिए अकिञ्चित्कर है ही, किन्तु अंशतः स्वोन्मुखतासहित तत्त्वार्थश्रद्धान, आगमज्ञान तथा छट्टे गुणस्थान का संयतपना भी मोक्ष के लिये किञ्चित् कार्यकारी नहीं होता। शरीर की नग्नदशा हुई, उससे आत्मा को लाभ हो - ऐसा नहीं होता।

यहाँ दृष्टि में-श्रद्धा में तो प्रथम से ही सर्व रागादि को विरुद्ध जानकर उसका त्याग हो गया है, किन्तु चारित्र में किञ्चित्मात्र शुभराग, जिसे व्यवहाररत्नत्रय कहा है, वह भी आस्रवतत्त्व है; इसलिए मोक्षमार्ग में बाधक ही है। - इस प्रकार प्रथम से ही मोक्षमार्ग का निरालम्बी स्वरूप जानना चाहिए।

भूतार्थ स्वभाव के आश्रय से जितना मोक्षमार्ग / वीतरागभाव विकसित हुआ, उसमें किसी भी समय राग की अपेक्षा नहीं है। छट्टे गुणस्थान में भावलिङ्गी मुनि को 28 मूलगुण, छह आवश्यक आदि शुभविकल्प आते हैं और उतने अंश में चैतन्य की जागृति रुकती ही है, इसलिए वह अशुद्ध उपयोग है, शुद्धोपयोग नहीं है; इसलिए आचार्यदेव, ज्ञानी के शुभ उपयोग को मोक्ष के लिए अकिञ्चित्कर कहते हैं।

शास्त्ररचना करूँ, मुनिसंघ को उपदेश दूँ, भगवान के दर्शन, तीर्थ यात्रा करूँ - इत्यादि राग की वृत्ति उठती है, किन्तु वह चैतन्य की जागृति को रोकनेवाली है, पुण्यबन्ध का कारण है। कोई कहे कि मुनिदशा में जो शुभराग रहता है, वह संवर-निर्जरा का कारण है - तो ऐसा नहीं है। किसी भी प्रकार का राग हो, वह बन्धन-संसार का मार्ग है।

सर्व रागादि विभाव से निरपेक्ष अखण्ड स्वभाव में ढलना ही मोक्षमार्ग है। उस मोक्षमार्ग को वर्तमान वर्तती हुई शुद्ध पर्याय का आश्रय नहीं है, किन्तु अखण्डानन्द शुद्धात्मद्रव्य का ही आश्रय है।

श्री पद्मप्रभमलधारिदेव श्री नियमसार में कहते हैं कि मुनियों को 'मैं ज्ञानानन्द हूँ'

इत्यादि भेद-विकल्प उठते हैं, उन्हें मोक्ष होगा या नहीं, कौन जाने ? अर्थात् विकल्परायण को मोक्ष नहीं होगा।

प्रश्न : ज्ञानी के भोग को (अशुभभाव को) निर्जरा का कारण कहा है तो ज्ञानी के शुभभाव से निर्जरा (धर्म) क्यों नहीं ?

उत्तर : नहीं; क्योंकि वह आस्रवतत्त्व होने से बन्ध का ही कारण है। जहाँ ज्ञानी के भोग को निर्जरा का हेतु कहा है, वहाँ तो निर्मलश्रद्धा की मुख्यता से तथा राग का स्वामित्व नहीं है, उस अपेक्षा से कहा गया है। वैसे लक्षण दृष्टि से तो ज्ञानी को भी कोई भी राग, बन्ध का ही कारण है। मुनिदशा के योग्य शुभराग-मन्दकषाय, व्यवहाररत्नत्रय होता है, वह भी आस्रवतत्त्व होने से बन्ध का ही कारण है; निर्जरा का कारण नहीं है - यह अनेकान्त सिद्धान्त प्रथम से ही मानना चाहिए। पश्चात् भूमिकानुसार जो शुभरागरूप निमित्त होता है, उसका ज्ञान कराने के लिए उपचार से उसे निर्जरा का कारण कहना, वह व्यवहार है, किन्तु तत्त्वदृष्टि से वैसा नहीं है।

पण्डित टोडरमलजी ने चौथे गुणस्थान से आत्मज्ञान लिया है और यहाँ तो मोक्षमार्ग का निर्विकल्प आत्मज्ञान सातवें गुणस्थान से कहा है। देखो, यह शास्त्र के कर्ता आचार्यदेव पञ्चम काल के मुनि थे। वे जानते हैं कि इस काल में साक्षात् मोक्ष की योग्यता नहीं है, तथापि जैसी वस्तुस्थिति मोक्षमार्ग के लिए है, वह स्पष्ट बतला दी है। मुनि को बारम्बार (प्रत्येक अन्तर्मुहूर्त के पश्चात्) छट्टा गुणस्थान आता है, किन्तु उतनेमात्र राग का भी नकार वर्तता है। शास्त्र का राग आता है, तथापि उसे भी तोड़कर निर्विकल्प शुद्धोपयोग में स्थिर रहना चाहते हैं और उस दशा को मोक्षमार्ग कहना चाहते हैं।

शास्त्र में अनेक प्रकार से कथन आता है। जहाँ द्रव्यदृष्टि की मुख्यता से कथन आये, वहाँ समयसारजी में कहा है कि चतुर्थ गुणस्थान में गृहस्थदशा हो या चार गतियों में से किसी भी गति में हो, किन्तु सम्यग्दर्शन हुआ वहाँ 'स एव मुक्तः' हो गया; वहाँ निश्चयश्रद्धा की अपेक्षा से, स्वामित्व अपेक्षा से समझना चाहिए। साथ ही अविनाभावी स्वरूपाचरणचारित्र भी होता ही है, किन्तु उतने से मोक्षमार्ग नहीं हो जाता। यहाँ सम्यक्त्व के उपरान्त वीतरागचारित्र की बात है; इसलिए कहा है कि छट्टे गुणस्थान की शुद्धता और

शुभव्यवहार है, वह मोक्ष की रचना के लिए अयोग्य है। वह जीव उतने अंश में शरीरादिक के प्रति मूर्च्छा द्वारा मलिन होने से, अपने को निर्मल निर्विकारी उपयोग में परिणत करके ज्ञानात्मक आत्मा का सतत अनुभवन नहीं करता तो वह पुरुष, मात्र उतने (किञ्चित्) मोहमलकलङ्करूप कीली के साथ बँधे हुए कर्मों से नहीं छूटता हुआ सिद्ध नहीं होता। इससे निश्चित होता है कि निर्विकल्प आत्मज्ञानशून्य आगमज्ञान-तत्त्वार्थश्रद्धान-संयतत्व का एक साथ होना भी अकिञ्चित्कर ही है। शुभराग कथञ्चित् किञ्चित् सहायक है - ऐसा नहीं है। देखो, यह आचार्यदेव की स्पष्टरूप से निःशङ्क घोषणा है।

अब, इन तीन के साथ निर्विकल्प आत्मज्ञान का होना किस प्रकार है सो बतलाते हैं -

पंच समिदो तिगुत्तो पंचेन्द्रिय संवुडो जिदकसाओ ।

दंसणणाणसमग्गो समणो सो संजदो भणिदो ॥ 240 ॥

पाँच समितियुक्त, पाँच इन्द्रियों के संवरवाला, तीन गुप्तिसहित, जितकषाय एवं दर्शन-ज्ञान से परिपूर्ण - ऐसा जो श्रमण, उसे संयत कहा है।

जो पुरुष अनेकान्त चिह्नवाले शास्त्रज्ञान के बल से सकल पदार्थों के स्वरूप को जानते हुए, विशद् एक पूर्ण ज्ञानस्वरूप ऐसे अपने आत्मा की श्रद्धा करता है, अनुभव करता है तथा ऐसे आत्मा में ही नित्य निश्चल रहना चाहता है... यहाँ अनेकान्त के अनेक अर्थ अस्ति-नास्ति से प्रसिद्ध होते हैं। प्रत्येक द्रव्य अपने द्रव्यरूप से है, अन्य द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावरूप से नहीं है; अन्य के आधार से भी नहीं है। द्रव्य, द्रव्यरूप से है; गुण-पर्याय के भेदरूप से नहीं है। गुण-पर्याय अपनेरूप है, अन्यरूप हैं। पर्याय, पर्यायरूप से है, द्रव्य-गुणरूप से नहीं है। द्रव्य सत्, गुण सत् नित्य है, अनित्य नहीं है। एक समयस्थित पर्याय सत् अनित्य ही है, नित्य किसी काल में नहीं है। उसमें भी उत्पाद सत् उत्पाद के आश्रय से है; व्यय, व्यय के आश्रय से है और ध्रुव, ध्रुव के आश्रय से है; कोई भी किसी अन्य के आश्रित नहीं है। इस प्रकार प्रत्येक द्रव्य में स्वतन्त्र सत्पने से अस्ति-नास्तिपना है; वह परसत्ता से निरपेक्षता तथा स्वसत्ता से सापेक्षता बतलाता है।

सर्वज्ञ कथित ऐसे आगमज्ञान के बल से सर्वज्ञस्वभावी आत्मा की श्रद्धा करता हुआ, उसका अनुभव करता हुआ तथा आत्मा में ही नित्य निश्चलवृत्ति को चाहता हुआ,

संयम के साधनरूप बनाये हुए मुनित्व योग्य शरीरपात्र को पाँच समिति से अंकुशित प्रवृत्ति द्वारा प्रवर्तित करता हुआ, इस प्रकार क्रमशः पाँच इन्द्रियों के निश्चल निरोध द्वारा जिसके काय-वचन-मन का व्यापार विराम को प्राप्त हुआ है - ऐसा होकर, चिद्वृत्ति का परद्रव्य में भ्रमण रुक जाने से, कषाय के साथ ज्ञान को ज्ञेय-ज्ञायकपना होने पर भी, रागादि अपनी चारित्रपर्याय में उत्पन्न होते हैं। जैसा राग हो, वैसा ज्ञेयरूप से ज्ञात होने पर भी, लक्षण भेद से परस्पर भेद जानता होने से, उत्पन्न होने से पूर्व टाल देता है, स्वभाव में सतत् जागृत रहता है।

यहाँ साधक को चारित्रगुण की एक पर्याय में एक समय में एक साथ चार बोल हैं - ऐसा जानता है।

अंशतः मलिनता में (1) भाव आस्रव और (2) भाव बन्ध।

अंशतः निर्मलता में (3) भाव संवर (4) भाव निर्जरा।

उनका समय एक, द्रव्य एक, क्षेत्र एक और भाव में भेद है।

इस प्रकार भावरूप एक समय की एक पर्याय में चार भेद हैं।

द्रव्यस्वभाव के आश्रय से जितनी निर्मलता हुई, वह संवर, निर्जरा और मोक्षमार्ग है और उसी समय जितने अंश में निमित्त, व्यवहार के आश्रय में रुकना हुआ, उतना रागभाव है और उसका नाम आस्रव तथा बन्ध है; दोनों के स्वभाव में भेद है। आकुलतारूप विभाव है और निराकुल शान्ति, वह स्वभावभाव है। इस प्रकार लक्षणभेद से स्वभाव भेद को जानकर, शुभराग को भी पररूप से, अर्थात् विरोधी शक्तिरूप से निश्चित करके, स्वाश्रय के बल से सर्व रागादि को कुशल मल्ल की भाँति अत्यन्त मर्दन कर-करके एक साथ मार देता है।

अहो! यह तो वीतराग धर्म का पारायण है। सत्य समझने के लिए सूक्ष्म परीक्षा होना चाहिए। आत्मा अनन्त शक्ति का भण्डार है, उसके आश्रय से निर्मल भेदज्ञान का बल उत्पन्न होता है; उसमें कषायकण तथा त्रैकालिक अकषाय स्वभाव को भिन्न जानकर, स्वाश्रित अखण्ड ज्ञानधारा से रागधारा (कर्मधारा) को पररूप निश्चित करके,

उग्ररूप से स्वोन्मुखता के बल से एकाग्र होने पर रागांश नष्ट होते हैं, अर्थात् उत्पन्न नहीं होते।

राग उत्पन्न हुआ और उसी समय उसका मर्दन करके मार डालना नहीं बनता, किन्तु त्रैकालिक द्रव्यस्वभाव में रागादि नहीं हैं; द्रव्यस्वभाव, रागादि का अकारक है और उसके आश्रय से निर्मल पर्याय प्रगट हुई, वह भी रागादि का कारण नहीं है तथा द्रव्यस्वभाव में रागादि का त्रिकाल अभाव है, इसलिए राग का ग्रहण-त्याग उसमें नहीं है, किन्तु वर्तमान पर्याय में अपने विपरीत पुरुषार्थ से रागादि उत्पन्न होते हैं, वे चैतन्य की जागृति को रोकनेवाले हैं, आकुलतामय ही हैं - इस प्रकार उनका विरोधी स्वभाव जानकर, राग को सर्व प्रकार से बाधक जानकर, ध्रुव ज्ञानानन्द स्वभाव में उग्र एकाग्रता से निश्चल होता है, वहाँ राग की उत्पत्ति नहीं होती; इसलिए कहा है कि - उग्ररूप से स्वभावभावोन्मुख होने पर अक्रम से राग का छेदन कर डालता है - ऐसा व्यवहार से कहा जाता है।

राग का नाश करो यह उपदेशवचन है। रागादि का व्यय किया नहीं जा सकता; असंख्य समय का स्थूल उपयोग है, वह समय-समय के राग को कैसे पकड़ सकेगा? और जिस समय राग आया, उसी समय उसका नाश कैसे होगा? अभी राग हुआ नहीं है तो उसे टालना क्या? है, वह दूसरे समय टल जाएगा और पर्याय के लक्ष्य से प्रति समय नया-नया राग होता रहेगा ही; इसलिए जिसमें अंशमात्र भी राग नहीं है - ऐसे त्रैकालिक भूतार्थ-स्वभावोन्मुख हुआ, वहाँ राग की उत्पत्ति ही नहीं हुई - उसका नाम राग का त्याग है।

प्रथम चतुर्थ गुणस्थान में भूतार्थस्वभाव का ग्रहण करनेवाली निर्मल श्रद्धा का उत्पाद तथा मिथ्यात्वादि का व्यय होता है; पश्चात् विशेष स्वोन्मुखतारूप भेदज्ञान के बल से क्रमशः अव्रत, प्रमाद, कषाय, योग के नाम से विभाव की उत्पत्ति का अभाव होता है। वस्तुस्वरूप ऐसा ही है। यहाँ अक्रम से नाश करता है - ऐसा उग्र पुरुषार्थ बतलाने के लिए कहा है।

अन्तरचिदानन्द स्वरूप में लीन होनेवाले मुनि, रागादि परद्रव्य से शून्य, अर्थात्

परद्रव्य के अंशमात्र आलम्बन से रहित, अर्थात् सातवें गुणस्थान में रागादि व्यवहारभावों से निरपेक्ष होने के कारण विशुद्ध दर्शन-ज्ञानमात्र स्वभाव से परिपूर्णतः विद्यमान निज-आत्मतत्त्व में नित्य निश्चल परिणति उत्पन्न हुई है; इसलिए वह आत्मा साक्षात् संयत ही है और उसी को आगमज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान तथा संयतपने की एकता के साथ शुद्धोपयोगरूप आत्मज्ञान का युगपत्पना सिद्ध होता है और वह मोक्षमार्ग में शोभायमान होता है। ●

(श्री प्रवचनसार गाथा 239-240, पर भाद्रपद शुक्ला 13,
दिनाङ्क 12-09-62 को पूज्य गुरुदेवश्री का प्रवचन)



मुनिराज की क्रीड़ा और उनका क्रीड़ास्थल

जैसे कोई फूलों की सुगन्ध लेने बाग में जाए और वहाँ उनकी सौरभ में तल्लीन हो जाए, वैसे ही मुनिराज राग की क्रीड़ा छोड़कर चैतन्य के बाग में खेलते-खेलते कर्म के फल का नाश करते हैं और अतीन्द्रिय आनन्द के फल का वेदन करते हैं, अनुभव करते हैं। चैतन्य के बाग में क्रीड़ा करनेवाले मुनिराज को सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानपूर्वक चारित्र हुआ है, आनन्दादि अनन्त गुण खिल उठे हैं, अन्तर्निमग्नदशा तीव्र प्रगट हुई है। अहा! मुनिपना बड़ी अद्भुत वस्तु है!

भाई! बाग में हजारों पुष्पवृक्ष होते हैं, उसी प्रकार मुनिराज को भगवान आत्मा के बाग में अनन्त गुण निर्मल पर्यायोरूप से खिल उठे हैं, क्योंकि चारित्र है ना! मुनिराज आत्म-उद्यान में खेलते-खेलते, लीला करते-करते, किञ्चित दुःख बिना अन्तर में अनन्त आनन्द की धारा में निमग्न रहकर कर्म के फल का नाश करते हैं। वास्तव में तो उस समय कर्मफल उत्पन्न ही नहीं होता, उसे 'नाश करते हैं' — ऐसा कहा जाता है।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, वचनामृत प्रवचन, पृष्ठ २०९

तीव्र वैराग्यभावना एवं क्षमाभाव का सुन्दर उपदेश

यहाँ भावशुद्धि के लिए सरल परिणाम का उपदेश है। अपने दोषों को, गुणों से अधिक ऐसे धर्मात्मा गुरु के निकट सरलता से, मान-प्रतिष्ठा छोड़कर निवेदन करे। जो भी दोष हों, उन्हें मन-वचन-काय की सरलता से प्रगट कर दे। अपनी महत्ता छोड़कर, बालक के समान सरल बनकर अपने दोषों की निन्दा करना, वह भावशुद्धि का कारण है। गुरु के समक्ष निष्कपट भाव से प्रगट करने पर दोष दूर हो जाते हैं।

दुर्जन पुरुषों के वचनरूपी बाण, अर्थात् निष्ठुर-कड़वे वचन सहकर भी सज्जन-धर्मात्मा, क्षमाभाव धारण करते हैं। स्वभाव की शान्ति को साधनेवाले मुनि, शरीर और वचन के ममत्व से रहित हैं, अबन्ध-अकषाय परिणाम से उन्हें सहन करते हैं। सामनेवाले के वचन को पकड़ नहीं रखते और अपने मान-अपमान या शरीर की ममता नहीं है। अरे! मेरा अपमान हुआ - ऐसी शल्य भी नहीं रखते और वचन का भी ममत्व नहीं है कि इसने मुझसे ऐसा कहा, इसलिए मैं उसे कुछ कहूँ, जिससे दूसरी बार वह कुछ न कहे। अन्तर में चैतन्य के उपशमभाव की साधना में लीन मुनि, जगत् के वचनों के क्लेश में नहीं पड़ते; उन्हें ऐसा अवकाश ही कहाँ है कि उसमें पड़ें? वचन का उपद्रव आये या शारीरिक उपसर्ग हो, तथापि मुनि अपनी शान्ति से चलायमान नहीं होते, क्षमा छोड़कर क्रोध नहीं करते। जिन्हें शरीर में या वचन में ममत्व नहीं है, वे उन्हें शुद्धपरिणामों से सहन कर सकते हैं। अरे! जिसके अन्तर में कषायाग्नि सुलग रही है, वह घर में रहे या वन में वास करे परन्तु उसे तो सर्वत्र आग तो लगी है और जो अन्तर की चैतन्यशान्ति में वर्तता है, उसे सर्वत्र

शान्ति ही है; बाह्य उपद्रव आयें या देव आकर उपसर्ग करें, तथापि उसे शान्ति ही है।

जगत् में राजपाट कोई भी शरणभूत नहीं हैं। भय में एक चैतन्य निर्भयराम ही शरणभूत है; उसकी शरण में किसी भी प्रतिकूलता को मुनि शान्तिपूर्वक सहन करते हैं। दुर्वचन सुनकर क्रोध करे तो वह महान कैसा? जो मुनिवर, क्षमा द्वारा क्रोध को जीतते हैं, वे ही महान हैं। हजारों योद्धाओं को जीतनेवाले योद्धा की अपेक्षा क्रोध को जीतनेवाले मुनि महान हैं। अरे मुनि! दुष्ट जीव के वचनों को तू अपने पाप नाश का कारण बना।

क्षमावन्त मुनिवरों की प्रशंसा देव और मनुष्य करते हैं।

मुनि कैसे हैं? -

‘ भव-भोग-तन वैराग्य धार, निहार शिवतप तपत हैं.... ’

अहा! भव से उदास, शरीर से उदास, संसारभोगों से उदास.... ऐसे वैराग्यवन्त मुनिवर, मोक्ष के हेतु चैतन्य की आराधना करते हैं.... ऐसे मुनि जगत् में पूज्य होते हैं।

अरे जीव! तू क्रोध को छोड़ और क्षमागुण को धारण कर! मुनि को सम्बोधन है, किन्तु उपदेश सर्व जीवों के लिए है। सामनेवाले जीवों के परिणाम उनके पास हैं, दूसरों के परिणाम की जिम्मेवारी अपने ऊपर नहीं है, किन्तु अपने परिणामों में जीव को क्षमा धारण करना चाहिए। सांसारिक प्रतिकूलता के प्रसङ्ग पर सन्त-मुनि तो तुरन्त अन्तर में चैतन्य की शान्ति के कुँ में गहराई तक उतर जाते हैं.... श्रावक भी मुनि का भक्त और उपासक है; उसे भी ऐसी परिणाम शुद्धि प्रगट करने योग्य है। पञ्चम काल में प्रतिकूलता तो होती है, इसलिए तू अति सावधानीपूर्वक क्षमाभाव बनाए रखना।

अनादि काल से सञ्चित ऐसी जो क्रोध ज्वाला, उसे दुःखदायक जानकर, तू क्षमारूपी जल द्वारा बुझा! मन-वचन-काया से सर्व जीवों पर क्षमा प्रगट करके चिदानन्द की शान्ति को साधना।

माता, बालक से कहती है कि हे भाई! तू सयाना है.... तुझे ऐसा नहीं करना चाहिए। उसी प्रकार आचार्यदेव कहते हैं कि - हे क्षमावन्त! हे क्षमागुण के धारक! तेरे

भाव को न जाननेवाले अन्य तेरी निन्दा करें, तथापि तू क्षमा धारण करना। अरहन्त क्षमा में शूरवीर हैं। हे मुनि! तू भी क्षमा में शूरवीर हो! क्रोध करे, वह वीर नहीं है, वह तो निर्बल है। क्षमा तो आत्मा का स्वभाव है, उससे आत्मा की महानता है परन्तु सच्ची क्षमा कब रख सकता है? तो कहते हैं कि जब शरीर और मान का महत्त्व छोड़कर उससे भिन्न चैतन्य को जाने तब सच्ची क्षमा प्रगट होती है।

मेरे चैतन्य में जगत् के शब्दों का प्रवेश ही कहाँ है? तो फिर शब्द कहनेवाले के प्रति मैं क्रोध क्यों करूँ? सामनेवाले व्यक्ति के शब्दों से हानि नहीं होती, किन्तु क्रोध से ही हानि होती है। क्रोध करनेवाला स्वयं को ही हानि पहुँचाता है, किन्तु गाली देनेवाला कोई हानि नहीं पहुँचाता। इसलिए हे जीव! क्रोध का प्रसङ्ग उपस्थित होने पर तू अपने चैतन्य के शान्त क्षमाजल द्वारा उस क्रोधाग्नि को बुझा देना।

करोड़ों पूर्व वर्षों का संयम हो, परन्तु क्रोध द्वारा उसका फल क्षण भर में दग्ध हो जाता है। चैतन्य की साधनावाला मुनित्वरूप जो वृक्ष है, वह मोक्षफल देने की तैयारीवाला है परन्तु यदि उसमें क्रोधरूपी अग्नि लग जाए तो वह वृक्ष को जला देती है। इसलिए हे मुनि! संयमादि की रक्षा के हेतु तू क्षमाभाव धारण करना, भेदज्ञान की भावना के बल से क्षमाभाव प्रगट करना; क्रोध को प्रगट नहीं होने देना। चैतन्य की भावना के अतिरिक्त क्रोध नष्ट करने का अन्य कोई उपाय नहीं है।

अब, उत्तम बोधि रत्नत्रय की सिद्धि के हेतु एकदम वैराग्य भावना भाने का उपदेश देते हैं -

दीक्खाकालाईयं भावय अविचार दंसणविसुद्धो ।

उत्तम बोहिणिमित्तं असार साराणि मुणि ऊण ॥ 110 ॥

देखो, यह वैराग्य का उपदेश! संसार को असार जानकर स्वरूप की साधना के लिए जब वैराग्यपूर्वक मुनिदीक्षा ग्रहण की, उस समय के तीव्र वैराग्य को उत्तम बोधि के निमित्त, हे जीव! तू स्मरण कर। उसकी भावना भा! विशुद्ध चित्त से, अर्थात् सम्यग्दर्शनादि निर्मल परिणामसहित होकर तू उत्कृष्ट वैराग्य की भावना कर। मुनि होते समय समस्त जगत् से उदास होकर स्वरूप में ही रहने की कैसी उग्र भावना थी! मानो अब कभी स्वरूप

से बाहर आना ही नहीं है - ऐसे उत्तम वैराग्य समय की भावना को पुनः पुनः भाकर, हे जीव ! तू अपने रत्नत्रय की निर्मलता कर ।

जिसने चिदानन्दस्वभाव को ही सार जाना और संसार को असार जाना, वह जीव चैतन्य की उग्रभावना द्वारा भावशुद्धि प्रगट करता है । चिदानन्दस्वभाव पवित्र-अकषाय है, उसकी भावना से कषाय नष्ट होकर सम्यग्दर्शनादि पवित्र भाव प्रगट होते हैं । चैतन्य को साधने के लिए जो वैराग्य की धारा उल्लसित हुई, अथवा रोग के काल में जो वैराग्यभावना जागृत हुई या मरण प्रसङ्ग आ जाने पर जैसी वैराग्यभावना होती है - ऐसे वैराग्य को निरन्तर ध्यान में रखकर तू बारम्बार उसकी भावना भाना । वैराग्यभावना को शिथिल न होने देना । जो आराधना प्रारम्भ की उसका जीवनपर्यन्त निर्वाह करना ।

आराधक जीव को तीव्र रोग आदि प्रतिकूल प्रसङ्गों पर वैराग्य की विशेष धारा उल्लसित होती है । प्रतिकूलता आने पर वह आर्तध्यान नहीं करता, किन्तु स्वभावोन्मुख होता है और तीव्र वैराग्य द्वारा रत्नत्रय की आराधना को पुष्ट करता है । मुनि की भाँति श्रावक को भी यह उपदेश लागू होता है । हे जीव ! सम्यग्दर्शन की निर्मलता प्रगट करके, संसार को असार जानकर अन्तर्मुख होकर सारभूत ऐसे चैतन्य की भावना भा.... वैराग्य के प्रसङ्ग का स्मरण करके उसकी भावना भा कि जिससे तेरे रत्नत्रय की शुद्धता होकर केवलज्ञान की प्राप्ति हो । सार क्या और असार क्या ? उसे जानकर तू सारभूत आत्मा की भावना कर ।

दीक्षा काल के उग्र वैराग्य प्रसङ्ग की बात लेकर आचार्यदेव कहते हैं कि - अहा ! दीक्षा के समय शान्त चैतन्य समुद्र में लीन हो जाने की जो भावना थी... मानो चैतन्य के आनन्द में से कभी बाहर ही न आऊँ - ऐसी वैराग्यभावना थी... उस काल की विरक्तदशा की धारा को तू बनाए रखना... जिस संसार को छोड़ते हुए कभी मुड़कर नहीं देखा, वैराग्य से क्षणभर में संसार का त्याग कर दिया... अब आहारादि में कहीं पर भी राग मत करना । उसी प्रकार जिसे चैतन्य को साधना है, उसे समस्त संसार को असार जानकर परम वैराग्यभावना से सारभूत चैतन्यरत्न की भावना द्वारा सम्यग्दर्शनादि की शुद्धता प्रगट करनी चाहिए ।

भव, भोग और तन - तीनों से अत्यन्त उदास होकर अन्तर में चैतन्योन्मुख हो, मुनियों की पूजा में आता है कि -

**भव भोग तन वैराग्यधार, निहार शिवतप तपत हैं।
तिहुँ जगतनाथ अराध साधु, सु पूजनीक गुण जपत हैं ॥**

जीवन में उत्कृष्ट वैराग्य के जो प्रसङ्ग हों, जब वैराग्य की वीणा झनझना उठी हो, ऐसे अवसर की वैराग्यधारा को बराबर बनाए रखना; पुनः पुनः उसकी भावना करना। कोई महान प्रतिकूलता, अपयश आदि उपद्रवों के समय जागृत हुई तेरी उग्र वैराग्यभावना को अनुकूलता के समय भी बनाए रखना; अनुकूलता में वैराग्य को भूल नहीं जाना।

धर्मात्मा प्रतिकूलता से घिर नहीं जाते; परिणामों को बिगड़ने नहीं देते किन्तु ऐसे प्रसङ्ग पर वैराग्य की धारा उल्लसित होती है। प्रतिकूलता में आर्तध्यान नहीं करता, किन्तु पुरुषार्थ की प्रबलता करके वैराग्य में वृद्धि करता है। ज्यों-ज्यों धर्मी को वेदना की तीव्रता होती है, त्यों-त्यों उसके वीर्य की विशेष स्फुरणा जागृत होती है। ऐसे वैराग्य की तीव्र भावना द्वारा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की उत्तमता प्रगट होती है और अल्प काल में केवलज्ञान हो जाता है।

किसी ऐसे प्रसङ्ग पर, जब कि जीवन-मरण की भी आशङ्का हो - धर्मात्मा जीवों के वैराग्य और आराधना का जोर बढ़ जाता है। ऐसे वैराग्य की धारा को निरन्तर बनाए रखकर तू रत्नत्रयधर्म की शुद्धता प्रगट करना - ऐसा भावशुद्धि का उपदेश है। भावशुद्धि के बिना भले ही बाह्य में त्यागी हो जाए, तथापि बाह्य विषयों में उसे लुब्धता तो पड़ी ही है। चैतन्य के ओर की चेतना तो है नहीं; इसलिए आहार में-भय में-मैथुन में या परिग्रह में कहीं न कहीं परविषय में परिणाम को रोकता है। आत्मवशता तो है नहीं, इसलिए इन्द्रिय विषयों के वश ही वर्तता है - ऐसे भाव से जीव अनादि काल से संसारवन में भ्रमण करता है। इसलिए अरे जीव! अब तो तू वह भाव छोड़ और आत्मवश होकर भावशुद्धि प्रगट कर। अनन्त बार आहार के जिन परमाणुओं का ग्रहण किया, उनकी गृद्धि छोड़। जगत् का भय छोड़कर चैतन्य की साधना के लिए सावधान हो। अतीन्द्रिय चैतन्य की सन्मुखता द्वारा तीव्र वैराग्यभावना प्रगट करके मैथुन संज्ञा को या परद्रव्य के ममत्वरूप परिग्रह संज्ञा

का तू छेदन कर डाल। जिस भाव से तू भव वन में भटका, उस भाव का सेवन अब छोड़ और चैतन्य के सेवन द्वारा भावशुद्धि प्रगट कर। जगत् के मान-पूजादि की अभिलाषा छोड़कर तू अपने आत्मा के सुधार के लिए निकला है न! तो ऐसी भावशुद्धि प्रगट कर कि जिससे तेरा भवभ्रमण दूर हो.... और मोक्ष की प्राप्ति हो। ●

(भावप्राभृत गाथा 106 से 110 के प्रवचन, आत्मधर्म (गुजराती), सितम्बर 1965 से)



गणधरों के द्वारा नमस्कार योग्य मुनिदशा

अहो! मुनिदशा कैसी होती है? इसका भी लोगों को भान नहीं है। गणधरदेव भी जब नमस्कार-मन्त्र बोलते हैं, तब 'णमो लोए सव्व साहूणं' — इस पद के द्वारा, गणधर भगवान का नमस्कार सब मुनियों के चरणों में पहुँचता है, तो यह मुनिदशा कैसी होगी? तीन लोक के नाथ भगवान महावीर, सीमन्धर आदि अनन्त तीर्थङ्करों के धर्मवजीर, ऐसे गणधर जब शुभराग के समय नमस्कार मन्त्र बोलते हैं, तब उसमें साधु के चरणों में भी नमस्कार आ जाता है। अहा! गणधरदेव भी जिसे नमस्कार करें, वह पद कैसा होगा?

गणधरों में दो घड़ी में द्वादशाङ्ग की रचना करने की ताकत है - ऐसी सामर्थ्य भले अन्य मुनिवरों में न हो तो भी जिन्होंने मात्र दो घड़ी पहले आठ वर्ष की उम्र में साधु होकर आत्मा में लीनतारूप चारित्रदशा प्रगट की है - ऐसे मुनिवरों को भी गणधरदेव का नमस्कार हो जाता है। आठ वर्ष का राजकुमार अभी-अभी मुनि हुआ हो और गणधर लाखों वर्ष पहले मुनि हुए हों तो भी वे कहते हैं— 'सर्व सन्त मुनियों के चरणों में नमस्कार हो।' इसमें आठ वर्ष की उम्र में साधु होनेवाले राजकुमार भी आ जाते हैं। गणधरदेव कहते हैं कि जिसमें हमारा नमस्कार झेलने की ताकत हो — ऐसे सन्तों को हम साधु कहते हैं, उन सन्तों का चारित्र आनन्दमय है, वे सन्त दुःखी नहीं हैं।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, महा-महोत्सव प्रवचन

मुनिराज : चैतन्यदेश के निवासी

मुनिराज का निवास चैतन्यदेश में है।

अब, मुनिराज की बात कहते हैं। पूर्णानन्द का नाश ऐसा जो निज भगवान आत्मा वह मुनिराज का निवास है; वन में, गुफा में, शरीर में, वाणी में या अट्टाईस मूल गुणों के शुभविकल्प में उनका निवास नहीं है। ज्ञानानन्दस्वरूप चैतन्य देश में अंशतः निवास तो अविरत सम्यग्दृष्टि का भी है, परन्तु निचली भूमिका होने से उसे भूमिका के अनुरूप शुभाशुभ विकल्प अधिक आते हैं और स्वानुभव परिणत भावलिङ्गी मुनिराज को अन्तर में स्थिरता-शुद्धता अत्यन्त बढ़ गई होने से अति अल्प विकल्प आते हैं। यद्यपि छठवें गुणस्थान की अपेक्षा सातवें गुणस्थान का समय आधा है और सातवें की अपेक्षा छठवें का काल दुगुना है; छठवें में प्रमाद के विकल्प होते हैं तथापि मुनिराज कहते हैं कि 'हम तो स्वदेश में वास करते हैं।' अहा! चैतन्यदेश ही मुनिराज का निवास है। अहा! चैतन्य जिनका बादशाह है, चैतन्यस्वभाव जिनका स्वदेश है ऐसे वीतराग मुनिराज का निवास वास्तव में निज आत्मा ही है।

उपयोग तीक्ष्ण होकर गहरे-गहरे चैतन्य की गुफा में चला जाता है।

उपयोग अर्थात् जानने-देखने का वर्तमान व्यापार। तीक्ष्ण अर्थात् सूक्ष्म। मुनिराज का उपयोग सूक्ष्म होकर गहरे-गहरे चैतन्य की गुफा में चला जाता है। अहा! देखो, इसका नाम मुनिपना। अरे रे! सच्चा मुनिपना अभी सुनने को नहीं मिला, वहाँ मुनि कहाँ से हो गये? अरे! मुनिपना कहा किसे जाए? वस्त्र-पात्र सहित मुनिपने की मान्यता वह तो गृहीत मिथ्यात्व है। बाह्य से नग्नता हो, अट्टाईस मूलगुणों का यथार्थ रीति से पालन करते हों,

परन्तु अन्तर में वस्तुस्वरूप की प्रतीति न हो तो वह भी मिथ्यादृष्टि है। यद्यपि वर्तमान में नग्न दिगम्बर वेश धारण किया होने पर भी, अट्टाईस मूलगुणों का भी ठिकाना देखने में नहीं आता। यहाँ तो सम्यग्दृष्टि भावलिङ्गी मुनिराज की बात चल रही है। मुनिराज का उपयोग-अन्तर्मुख चैतन्यव्यापार सूक्ष्म होकर गहरे-गहरे चैतन्य के धरातल में-चैतन्य की गुफा में चला जाता है, स्वरूपरमणता में विशेष स्थिर होता जाता है। उपयोग बाहर जाने पर राग का उत्थान होता है, भीतर जाने पर राग का शमन होकर स्वरूपस्थिरता बढ़ती जाती है, गहरे-गहरे चैतन्यगुफा में चला जाता है। समयसार की ४९ वीं गाथा पर श्री जयसेनाचार्यदेवकृत टीका में कहा है न! कि शुद्ध निश्चयनय से जो पुद्गलद्रव्य के सर्व वर्णादि गुणों तथा शब्दादि पर्यायों से रहित है, जो सर्व द्रव्येन्द्रिय, भावेन्द्रिय तथा मनोगत रागादि विकल्पों का विषय नहीं है, जो धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य, कालद्रव्य और शेष अन्य जीवों से भिन्न है तथा जो अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख तथा अनन्तवीर्यस्वरूप है वही शुद्धात्मा है और वही दुर्लभ, अपूर्व एवं उपादेय है - ऐसा समझकर निर्मोह और निरञ्जन ऐसी जो निज शुद्धात्मसमाधि उससे समुत्पन्न जो सुखामृत रस उसकी अनुभूतिस्वरूप गिरिगुफा की खोह में स्थिर होकर सर्व तात्पर्यरूप से उसका (शुद्धात्मा का) ध्यान करना।

बहिन ने पहले (३५५ वें बोल में) सम्यग्दर्शन की बात कही और अब इसमें (३५६ वें बोल में) स्वरूप स्थिरता की-मुनिपने की बात कहती हैं। भाई! मुनिपना किसे कहा जाता है? कि जिनका निवास चैतन्यदेश है और जिनका उपयोग सूक्ष्म होकर गहरे-गहरे चैतन्य की स्वानुभूतिस्वरूप गुफा में बारम्बार चला जाता है उन्हें मुनिराज कहा जाता है। अहा! धन्य वह मुनिदशा!

बाहर आने पर मुरदे जैसी दशा होती है।

अन्तर में जो स्वानुभव की जगमगाती ज्योति-जीवन्तज्योति प्रगटरूप से वर्त रही है, उसमें मुनिराज सदा जागृत रहते हैं; विकल्प से वे मृत हो गये हैं, कदाचित् व्रतादि के विकल्प उठें और उपयोग बाहर आये तब उनकी दशा विकल्प और बाह्य पदार्थों के प्रति मुरदे जैसी नीरस और निरुत्सुक होती है। बहिन के ४०१ वें बोल में आता है न! कि ज्ञानी

निजस्वरूप में परिपूर्णरूप से स्थिर होने को तरसते हैं। कदाचित् दया, दान, शास्त्रस्वाध्यायादि के विकल्प उठें तब उनको अन्तर में ऐसा लगता है कि 'यह विभावभाव हमारा देश नहीं है; इस परदेश में हम कहाँ आ पहुँचे ? हमें यहाँ अच्छा नहीं लगता। यहाँ हमारा कोई नहीं है, अब हम स्वरूपस्वदेश की ओर जा रहे हैं। हमें त्वरासे अपने मूल वतन में जाकर आराम से रहना है, जहाँ सब हमारे हैं।'

अहा! विकल्प में आने की भी रुचि जिनको उड़ गई है ऐसे मुनिराज की अन्तरदशा का क्या कहना! उपयोग बाह्य में या विकल्प में आने पर उनकी दशा मुरदे समान हो गई होती है। अहा! मुनिदशा तो ऐसी कोई अद्भुत वस्तु है!

शरीर के प्रति राग छूट गया है।

मुनिराज को देहातीत निज भगवान आत्मा में सानुभव प्रचुर स्थिरता के कारण आनन्द की उग्र दशा परिणमित हो गई है, इसलिए उनका देहादि सर्व पदार्थों के प्रति राग छूट गया है।

शान्ति का सागर उमड़ा है।

सागर में जैसे ज्वार आता है वैसे ही मुनिराज को अन्तर में चैतन्यसागर में शान्ति एवं आनन्द का ज्वार आया है। अन्तर में शान्ति का सागर उछला है। चतुर्थ गुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टि को शान्ति तो प्रगट हुई है परन्तु वह अल्प है; मुनिराज की शान्ति में अत्यन्त वृद्धि हो गई है। मुनिराज स्वरूपगुप्त हो गये हैं। प्रचुर स्वसंवेदन ही उनका भावलिङ्ग है। समयसार की पाँचवीं गाथा की टीका में कहा है न! कि निरन्तर झरता-आस्वाद में आता, सुन्दर जो आनन्द उसकी छापवाला जो प्रचुर स्वसंवेदनस्वरूप स्वसंवेदन वही मुनिराज का निजवैभव है।

चैतन्य की पर्याय की विविध तरङ्गें उछल रही हैं।

समुद्र में ज्वार आये तब लहरें उछलकर किनारे आती हैं, वैसे ही मुनिराज को चैतन्य महासागर में साधना का ज्वार आया है और इसलिए भीतर चैतन्य की पर्याय में श्रद्धा, ज्ञान, शान्ति, आनन्द, स्वच्छत्व, प्रभुत्व आदि अनन्त गुणों की यथासम्भव निर्मल तरङ्गें उछल रही हैं।

ज्ञान में कुशल हैं, दर्शन में प्रबल हैं, समाधि के वेदक हैं।

मुनिराज ज्ञान में, सम्यक्विवेक-स्व-पर का तथा स्वभावविभाव का यथार्थ भेदविज्ञान-परिणमित होने से कुशल हैं, प्रवीण हैं, चतुर हैं; त्रिकालशुद्ध ज्ञायकभाव के आश्रयरूप श्रद्धा का बल अन्तर में धाराप्रवाह सतत वर्तता होने से दर्शन में प्रबल हैं; और भीतर स्वभाव के अवलम्बन द्वारा स्वरूपस्थिरता अत्यन्त बढ़ गई होने से समाधि के-शान्ति के वेदक हैं। जिस प्रकार पिता की झलक पुत्र में आती है, वैसे ही मुनिराज में, सर्वज्ञ पिता के धर्मपुत्र होने से सर्वज्ञ परमात्मा की-उनकी शान्ति, समाधि, सुख की झलक आती है। शान्ति का कारण तो राजकाज में लगे हुए सम्यग्दृष्टि को भी होता है परन्तु वह अल्प है, मुनिराज के समान प्रचुर नहीं है। सम्यग्दृष्टि को तो कषाय की एक चौकड़ी का अभाव हुआ है, मुनिराज को कषाय की तीन चौकड़ी का अभाव हुआ है; अन्तर में साधना बहुत बढ़ गई है; उनके अन्तर में तो शान्ति का सागर उमड़ा है; वे ज्ञान में प्रवीण हैं, श्रद्धा में सुदृढ़ हैं, स्वरूपरमणता में रत हैं और समाधि के वेदक हैं।

अन्तर में तृप्त-तृप्त हैं।

जैसे, ब्राह्मण लड्डू खाकर मन्थर-सुस्त होने से धीमी चाल से चलता है, वैसे ही मुनिराज को अन्तर में साधना का आनन्द इतना अधिक बढ़ गया है कि जिससे वे स्वरूपमन्थर हो गये हैं, स्वरूप में स्थिर हो गये हैं, अन्तर में तृप्त-तृप्त हैं।

मुनिराज मानो वीतरागता की मूर्ति हों इस प्रकार परिणमित हो गये हैं।

वचनमृत के ४१७ वें बोल में ऐसा आता है कि जैसे, पिता की झलक पुत्र में दिखती है वैसे ही जिन भगवान की झलक मुनिराज में दिखाई देती है; परन्तु यहाँ विशेष कहा है मुनिराज मानो वीतरागता की मूर्ति हों, जिनबिम्ब हों इस प्रकार परिणमित हो गये हैं। आत्मा स्वभाव से जिस प्रकार जिनस्वरूप है वैसे ही मुनिराज पर्याय में भी मानो वीतराग जिनबिम्ब हों तदनुसार परिणमित हो गये हैं।

देह में वीतरागदशा छा गई है।

अहा! मुनिराज को अन्तर में अकषाय का पिण्ड ढल गया है। स्तवन में आता है न! —

उपशमरस बरसे रे प्रभु तेरे नयन में,
हृदय कमल में दया अनन्त उभराय जो;
मुखमण्डल पर प्रसन्नता प्रसरी हुई,
चरणकमल में भक्तिरस रेलाय जो ।

जिनके शरीर में वीतरागदशा छा गई है, मुखमण्डल पर वीतरागता छलक रही है ऐसे मुनिराज की दशा का क्या कहना ? वे तो वीतरागरस के ढेर-पिण्ड हो गये हैं ।

जिन नहीं किन्तु जिन सरीखे हैं ।

मुनिराज भले ही वर्तमान में जिन नहीं हैं, केवलज्ञानी नहीं हैं, तथापि उनको 'जिनसमान' कहा जाता है । चतुर्थ गुणस्थानवर्ती सम्यक्त्वी भी 'जिन' तो कहे जाते हैं, परन्तु मुनिराज तो अन्तर में स्वरूपरमणता बढ़ जाने से 'जिनवर' कहे जाते हैं और तीर्थङ्कर-केवली भगवन्तों को 'जिनवर वृषभ' कहा जाता है । सम्यक्त्वी जिनेन्द्र के लघुनन्दन हैं और मुनिराज जिनेन्द्र के युवराज हैं । इसलिए मुनिराज को जिन नहीं किन्तु 'जिनसमान' कहा जाता है । आया कुछ समझ में ?.... ऐसी बातें हैं ।

मुनिराज देह में स्थिर चलते-फिरते हैं, अन्न-जल ग्रहण करते हैं, तथापि कहते हैं कि वे 'जिनसमान' हैं । भाई ! बाह्यक्रिया को मत देख, वह सब तो जड़ का परिणामन है, ऊपरी है; भीतर भगवान अन्तरात्मा तो गहरे-गहरे द्रव्यस्वभाव में पड़ा है; पूर्ण द्रव्यस्वभाव जिन ने अन्तर्गत किया है उन्हें 'जिन' नहीं किन्तु 'जिनसमान' कहा जाता है । ●

(वचनमृत प्रवचन, भाग-4, पृष्ठ-06)



निजधामवासी मुनिराज

अहो! मुनिराज तो निजात्मधाम में निवास करते हैं।

जो यथार्थ सच्चे मुनि हैं वे तो निजात्मधाम में निवास करते हैं। 'शुद्ध, बुद्ध, चैतन्यघन, स्वयंज्योति सुखधाम;' वह मुनिराज का निजात्मधाम है, उसमें वे निवास कर रहे हैं। अविरत सम्यग्दृष्टि निज शुद्धात्मधाम में अल्प निवास करते हैं, देशविरति श्रावक विशेष वसते हैं और मुनिराज तो अति उग्ररूप से बस गये हैं। निरन्तर झरते निजानन्दमुद्रित प्रचुर स्वसंवेदन की उग्र दशा मुनिराज को प्रगट हो गई है। उन्होंने अपना निवास निजात्मधाम में स्थापित किया है।

उसमें विशेष-विशेष एकाग्र होते-होते वे वीतरागता को प्राप्त करते हैं।

मुनिराज का निवास शरीर और रागादि विभाव नहीं है परन्तु अशरीरी और अरागस्वरूप निजानन्दधाम है। वे निजानन्दधाम में, ज्ञानादि अनन्तानन्त गुणसमृद्धि से परिपूर्ण भगवान निज चैतन्यस्वभाव में अधिकाधिक लीन होने पर वीतरागदशा को प्राप्त करते हैं। अन्तर में जो प्रगट 'महाव्यक्त' टङ्कोत्कीर्ण शाश्वत् चैतन्यधाम है उसमें बसे हुए मुनिराज अन्तर में विशेष-विशेष एकाग्र होते-होते सातिशय अप्रमत्तदशा प्रगट करके, क्षपकश्रेणी लगाकर बारहवें गुणस्थान में पहुँच जाते हैं, सम्पूर्ण वीतरागता को प्राप्त करते हैं।

निजात्मधाम में एकाग्रता बढ़ते-बढ़ते वीतराग हुआ जाता है, पञ्च महाव्रतादि के विकल्प प्राप्त करते-करते नहीं। निजात्मधाम में निवास करनेवाले मुनिराज को छठवीं भूमिका में अट्टाईस मूलगुण के शुभ विकल्प आते अवश्य हैं परन्तु उनमें उनका निवास नहीं है; वे उन्हें नहीं रुचते-अच्छे नहीं लगते, वे तो निजानन्दधाम में पूर्णरूप से जम जाने

के लिए प्रयत्नशील हैं। निजात्मस्वरूप में स्थिरता करते-करते वे पूर्ण वीतराग हो जाते हैं। अहा! ऐसी वस्तुस्थिति है।

वीतराग चैतन्य जिनबिम्ब ऐसे निज ज्ञायकस्वभाव में निवास करके उसमें अत्यन्त लीन होते-होते अन्तर में जो शक्तिरूप वीतरागता थी वह पर्याय में व्यक्त हो जाती है। मुनिदशा में वीतरागता प्रगट हुई थी परन्तु अभी वह अपूर्ण थी, अंशतः वीतरागता तो चतुर्थ गुणस्थान में सम्यग्दृष्टि को भी प्रगट हो जाती है। सम्यग्दर्शन भी वीतराग पर्याय है, सम्यग्ज्ञान भी वीतराग पर्याय है और सम्यग्चारित्र भी वीतराग पर्याय है। उस रत्नत्रयस्वरूप वीतरागी पर्यायरूप उग्रता से परिणमते-निजानन्दधाम में उग्रतापूर्वक लीन होते-होते मुनिराज सम्पूर्ण वीतरागता को प्राप्त करते हैं।

वीतरागता होने से उन्हें ज्ञान की अगाध अद्भुत शक्ति प्रगट होती है।

मुनिराज को निज पूर्ण विज्ञानघन स्वभाव के अवलम्बन द्वारा परिपूर्ण वीतरागता होने से ज्ञान की दशा में अगाध अद्भुत शक्ति अर्थात् केवलज्ञान प्रगट होता है। वीतरागता से ही केवलज्ञान होता है न? वास्तव में तो केवलज्ञान त्रैकालिक ध्रुव ज्ञायकस्वभाव के आश्रय से प्रगट होता है परन्तु यहाँ साधन लेना है न? मनुष्य शरीर या वज्रऋषभनाराच संहनन आदि निमित्त साधन नहीं हैं, महाव्रतादि का शुभभावरूप व्यवहार भी साधन नहीं है – यह बतलाने के लिए पूर्ण वीतरागतारूप पूर्व की शुद्ध पर्याय को केवलज्ञान का साधन कहा है; नहीं तो केवलज्ञान पूर्व की वीतराग पर्याय से भी प्रगट नहीं होता किन्तु त्रैकालिक द्रव्यस्वभाव के पूर्ण आलम्बनभाव से प्रगट होता है; केवलज्ञान की शक्ति में से पर्याय में केवलज्ञान की व्यक्ति होती है।

बारहवें गुणस्थान में पूर्ण वीतरागता और तेरहवें गुणस्थान में केवलज्ञान होता है न! इसलिए कथन तो ऐसा होगा न! कि मोक्षमार्ग से ही केवलज्ञान और मोक्ष होता है। साधन बतलाना हो वहाँ कथन ऐसा ही आता है। वैसे, वास्तव में तो चैतन्यस्वरूप भगवान आत्मा में एकाग्रता होने पर जैसे सम्यग्दर्शन हुआ, विशेष एकाग्रता होने पर चारित्र हुआ, वैसे ही उसमें पूर्ण एकाग्रता होने पर वीतरागता और फिर केवलज्ञान होता है।

पञ्च महाव्रतादि के विकल्पों को साधन कहा है, वह व्यवहारनय का कथन है;

वास्तव में वे साधन नहीं हैं। वीतरागता को केवलज्ञान का साधन कहना वह भी सद्भूतव्यवहार है; वास्तव में तो अन्तर में करणशक्तियुक्त भगवान् आत्मा स्वयं ही साधन है, जो कि अनन्तानन्त अपार अपरिमित ज्ञान के सातिशय सामर्थ्यवान् अचिन्त्य तत्त्व है। त्रैकालिक सातिशय ज्ञानस्वभाव में से अगाध अद्भुत शक्तियुक्त केवलज्ञान की पर्याय होती है परन्तु जो पूर्व समय की वीतराग पर्याय व्यय हुई उसमें से वह प्रगट नहीं होती; तथापि साधन कहना हो तब और क्या कहा जाएगा? मोक्षमार्ग वह मोक्ष अर्थात् केवलज्ञान का कारण है ऐसा कहा जाएगा न? साध्य का साधन समझाना हो तब कथन तो ऐसा ही आएगा न?

मोक्षप्रसाद का प्रथम सोपान सम्यग्दर्शन भी अन्तर में त्रैकालिक ध्रुव ज्ञायक द्रव्य सामान्य का आश्रय करने पर ही होता है; वह देव-गुरु की कृपा अथवा राग की मन्दता हो तब होगा – ऐसी निमित्त या शुभराग की अपेक्षा नहीं है; एकमात्र द्रव्यस्वभाव के अवलम्बन से ही प्रगट होने के कारण वह पर, विभाव या पूर्व पर्याय से निरपेक्ष है। नियमसार में आता है न कि निज परमात्मतत्त्व के सम्यक् श्रद्धान-ज्ञान-अनुष्ठानरूप शुद्धरत्नत्रयात्मक मार्ग परम निरपेक्ष होने से मोक्ष का उपाय है और उस शुद्धरत्नत्रय का फल स्वात्मोपलब्धि-निजशुद्ध आत्मा की पूर्ण प्राप्ति अर्थात् मोक्ष है।

सम्यग्दृष्टि ने राग की एकता के ताले खोल दिये हैं; उसके अन्तर में अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्दादि अनन्तानन्त गुणसमृद्धि से भरपूर ध्रुव भण्डार खुल गया है। उस भण्डार में विशेष-विशेष एकाग्रता होने पर चारित्र और वीतरागता प्रगट होते हैं। मुनिराज को चारित्रदशा प्रगट हुई है परन्तु अभी पूर्ण वीतरागता प्रगट नहीं हुई है; इसलिए ध्रुव स्वरूप में विशेष-विशेष एकाग्र होने पर वे पूर्ण वीतरागता प्राप्त करते हैं।

मोक्षमार्ग में सर्वशुद्धियाँ त्रैकालिक शुद्ध द्रव्यस्वभाव के आश्रय से ही प्रगट होती हैं। प्रथम सम्यग्दर्शन और आत्मज्ञान आनन्दकन्द चैतन्यरत्नाकर की निर्विकल्प प्रतीति और ज्ञान-आत्मसन्मुखता करने से होती है और उसी के सन्मुख विशेष-विशेष स्थिर होने पर चारित्र अर्थात् वीतरागदशा प्रगट होती है। इस प्रकार त्रैकालिक ध्रुव के आलम्बन से ही मोक्ष का मार्ग तथा मोक्ष होते हैं तथापि कथन में तो ऐसा ही आएगा न, कि वीतरागता-

से-मोक्षमार्ग से मोक्ष होता है। अहा! ऐसा वस्तु का स्वरूप है; अरे! क्या हो? अनादिकाल से जीव भटक रहा है, उसे अपने मूल स्वभाव की महिमा ही नहीं आयी; क्योंकि उसकी दृष्टि और रमणता सब पर्याय में ही है; अनादि से प्रगट पर्याय में, व्यवहार में और अंश में ही उसकी रुचि है। वर्तमान अंश के पीछे महान् त्रैकालिक ध्रुव चैतन्य भगवान है उसकी महिमा न आकर राग की क्रिया तथा दया-दानादि शुभभावों की महिमा में लग गया; इसलिए वह मिथ्यादृष्टि रहा।

अहा! अनन्त ज्ञान, आनन्द, ईश्वरता-प्रभुता आदि अनन्त अपार गुणों से सुशोभित ऐसे निज ज्ञायक भगवान के प्रति अन्तर में श्रद्धा सम्बन्धी एकाग्रता होना वह तो प्रथम सम्यग्दर्शन है, स्थिरता सम्बन्धी विशेष एकाग्रता वह चारित्र और उससे भी विशेष एकाग्रता-पूर्णस्वरूप स्थिरता-वह वीतरागता है। पूर्ण वीतरागता होने के पश्चात् ही केवलज्ञान होता है – ऐसा बतलाना है।

ज्ञान का अन्तर्मुहूर्त का स्थूल उपयोग छूटकर एक समय का सूक्ष्म उपयोग हो जाता है।

वीतराग होने के पश्चात् ज्ञान का उपयोग, जो पहले असंख्य समय का स्थूल था वह छूटकर, एक समय का सूक्ष्म हो जाता है। सम्यग्दर्शन के काल में समस्त शुभाशुभरूप स्थूल उपयोगरहित होकर सूक्ष्म ज्ञायक को ग्रहण किया होने से प्रगट हुआ वह सूक्ष्म उपयोग भी केवलज्ञान की अपेक्षा से स्थूल है; क्योंकि छद्मस्थ को आत्मानुभव के समय भी उपयोग का काल तो असंख्य समय का है। श्रद्धा का कार्य एक समय में होता है परन्तु ज्ञान में ग्रहण करते हुए असंख्य समय लगते हैं, असंख्य समय में समझ में आता है। जहाँ अन्तर में वीतरागता होकर केवलज्ञान हुआ वहाँ एक समय का सूक्ष्म उपयोग हो जाता है।

वह ज्ञान अपने क्षेत्र में रहकर सर्वत्र पहुँच जाता है – लोकालोक को जान लेता है, भूत-वर्तमान-भविष्य की सर्व पर्यायों को क्रम पड़े बिना एक समय में वर्तमानवत् जानते हैं, स्वपदार्थ तथा अनन्त परपदार्थों की तीनोंकाल की पर्यायों के अनन्त-अनन्त अविभाग प्रतिच्छेदों को एक समय में प्रत्यक्ष जानते हैं।

शुद्धात्म द्रव्यसामान्य के पूर्ण आलम्बनभाव से प्रगट हुआ वह केवलज्ञान अपने प्रदेशों में रहकर तीन काल और तीन लोक को सबको एकसाथ जान लेता है, जानने के लिए उसे परक्षेत्र में नहीं जाना पड़ता। असंख्य प्रदेशी निज चैतन्यधाम में रहकर एक समय का उपयोग सर्वज्ञेयों में पहुँच जाता है। अरेरे! अभी तो लोगों को केवलज्ञान के स्वरूप को समझने में ही आपत्ति है। ज्ञानस्वभाव की जो सर्वज्ञपर्याय प्रगट हुई – भले ही वह एक समय की हो, वह अपने क्षेत्र में रहकर विश्व के सर्व भावों को पहुँच जाती है, सबको एक समय में जान लेती है; जानने के लिए उसे ज्ञेयों के पास जाना पड़ता है – ऐसा नहीं है। अहा! कैसी होगी वह सर्वज्ञस्वभाव की शक्ति!

‘ज्ञ’ स्वभाव कहो, सर्वज्ञस्वभाव कहो या केवलज्ञानस्वभाव कहो, सब एकार्थ है। भगवान आत्मा सर्वज्ञस्वभावी ही है, उसका परिपूर्ण आश्रय लेने से सर्वज्ञपर्याय प्रगट होती है। शक्ति में से व्यक्ति प्रगट होती है। अहा! बहुत सूक्ष्म है वीतराग का मार्ग! वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर का मार्ग-सम्यग्दर्शन तथा सम्यक्चारित्र आदि बहुत सूक्ष्म है।

एक मनुष्य अपने मकान में खड़ा-खड़ा बाहर की सब वस्तुओं को जानता है, जानने के लिए उसे बाहर की वस्तुओं के निकट नहीं जाना पड़ता; वैसे ही केवलज्ञान समस्त लोकालोक को अपने में रहकर जान लेता है, जानने के लिये उसे लोकालोक तक लम्बा नहीं होना पड़ता। अहा! देखो, यह केवलज्ञानी अरहन्त परमात्मा का स्वरूप! वीतराग चैतन्य ज्ञायकबिम्ब को पहले यथार्थरूप में ग्रहण किया तब तो प्रथम सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान होते हैं; उनमें विशेष एकाग्रता होने पर चारित्र होता है और उसमें उससे भी विशेष एकाग्रता होने से वीतरागता और केवलज्ञान होता है। केवलज्ञान वास्तव में तो त्रैकालिक ध्रुवस्वभाव के पूर्ण आश्रय से होता है तथापि कथन में ऐसा आता है कि वीतरागता से केवलज्ञान होता है।

व्रत, उपवास, पूजा, भक्ति आदि बहिर्लक्ष्यी क्रिया में तो राग-विकार के भाव हैं और शुभाशुभ विकार से रहित अन्तर में पूर्णानन्द के नाथ के निकट जाने पर जो अन्तर्लक्ष्यी निर्मल परिणाम होते हैं, वे तो वीतराग और अबन्ध परिणाम हैं। स्वभाव के समीप जाने से ज्ञान सम्यक् और परिणाम अबन्ध होंगे तथा स्वभाव से दूर जाने से-राग में रहने से-अज्ञान

और बन्धन होगा। भाई! वीतराग जिनेश्वर का मार्ग ऐसा है। इसके सिवा अन्य पद्धति से करेगा तो कल्याण की प्राप्ति नहीं होगी; व्रतादि शुभभावों से तीन काल में कल्याण नहीं है; वह तो पुण्यास्रव की क्रिया है, निरास्रव की नहीं। निरास्रव की क्रिया तो पूर्णानन्द के आश्रय से प्रगट होती है। निरास्रव ध्रुवतत्त्व के आश्रय से निरास्रव निर्मल पर्याय प्रगट होती है। अबन्धस्वरूप भगवान आत्मा के आश्रय से अबन्ध परिणाम प्रगट होते हैं। अबन्ध परिणाम कहो अथवा मोक्षमार्ग कहो – दोनों एक ही हैं। अहा! भगवान जिनेश्वरदेव गणधरों और इन्द्रों की सभा में जो कहते थे, वह यही बात है।

पूर्ण वीतरागता प्रगट होने के पश्चात् जो केवलज्ञान होता है, वह एक समय में-सेकण्ड के असंख्यातवें भाग में सर्व पदार्थों की भूत, वर्तमान और भावी पर्यायों को क्रम पड़े बिना युगपद् वर्तमानवत् प्रत्यक्ष जान लेते हैं। जो बीत चुका है, उसे पहले जानते हैं, फिर वर्तमान में जो वर्त रहा है, उसे जानते हैं और फिर भविष्य की पर्यायों को जानते हैं – ऐसा क्रम केवलज्ञान को जानने में नहीं होता, वह तो एक साथ तीनों काल की पर्यायों को वर्तमान में वर्त रही हों, इस प्रकार प्रत्यक्ष जानता है।

अहा! अरहन्तदेव कैसे होते हैं? कि जिनको समय के छोटे से छोटे भाग में एक समय में समस्त द्रव्य-गुण-पर्याय को तथा भूत-वर्तमान-भविष्य को पकड़ लेनेवाला-जान लेनेवाला केवलज्ञान प्रगट हुआ है; उनकी महिमा का क्या कहना! वह केवलज्ञान दशा तो कोई अद्भुत है भाई!

प्रश्न : जो वर्तमान में नहीं है उसे वर्तमानवत् जाने, वह ज्ञान झूठा नहीं कहा जाएगा?

उत्तर : भाई! सुन तो सही। भूत और भविष्य की पर्यायें वर्तमान में हैं – ऐसा कहाँ कहते हैं? बीत गयी पर्यायों को और अभी नहीं हुई पर्यायों को, मानो वर्तमान में वर्त रही हों – ऐसी स्पष्टतापूर्वक, अत्यन्त प्रत्यक्ष जानते हैं। अवर्तमान को वर्तमानवत् स्पष्ट जानना वह तो ज्ञान की दिव्यता है। भूतकाल में जैसी पर्यायें हो गई और भविष्यकाल में जैसी पर्यायें होंगी, उन्हें यथातथरूप से वर्तमानवत् प्रत्यक्ष जाने, उस दिव्यज्ञान को झूठा कैसे कहा जाएगा? अरे रे! केवलज्ञान परमात्मदशा क्या है, उसकी लोगों को खबर नहीं

है। अभी तो लोगों को सम्यग्दर्शन की दशा क्या है, मुनिदशा क्या है, इसकी भी खबर नहीं है, वहाँ यह, क्रम के बिना एक समय में वर्तमानवत् प्रत्यक्ष जाननेवाले केवलज्ञान की बात कैसे बैठेगी!

केवलज्ञान स्वात्मपदार्थ तथा विश्व के अनन्त पदार्थों की तीनों काल की पर्यायों के अनन्तानन्त अविभाग प्रतिच्छेदों को एक समय में जान लेता है। आत्मा का द्रव्यतत्त्व और गुणतत्त्व तो परिपूर्ण है ही परन्तु उसका पर्यायतत्त्व, पूर्णता प्रगट होने पर कैसा होता है वह बात यहाँ बतलाते हैं। अनन्तशक्ति का सागर ऐसे निज ज्ञायकतत्त्व के पूर्ण आलम्बन से ही वह प्रगट होता है, किसी क्रियाकाण्ड से नहीं। सामर्थ्य भरपूर निज ज्ञायक का अवलम्बन लेने से वीतरागता प्रगट होती है और पश्चात् केवलज्ञान प्रगट होता है।

केवलज्ञान सर्व पदार्थों की तीनों काल की पर्यायों को उनके अनन्तानन्त अविभाग प्रतिच्छेदों सहित एक साथ प्रत्यक्ष जानता है।

प्रश्न : केवलज्ञान तीनों काल की सर्व पर्यायों को जानता है; तो द्रव्य की प्रथम और अन्तिम पर्याय कौन सी ?

उत्तर : भाई ! अनादि-अनन्त में यह प्रथम और यह अन्तिम – ऐसा कुछ होता ही नहीं। केवलज्ञान भी अनादि को अनादिरूप से और अनन्त को अनन्तरूप से ही जानता है। अनादि-अनन्त को सादिरूप से जाने तो वह ज्ञान ही मिथ्या सिद्ध होगा। द्रव्य और पर्याय दोनों अनादि के हैं। पहले द्रव्य और फिर पर्याय – ऐसा है ? पर्याय के बिना द्रव्य नहीं होता और द्रव्य के बिना पर्याय नहीं होती। दोनों मिलकर सम्पूर्ण वस्तु अनादि – अनन्त स्वतः सिद्ध है। अहा ! यह जैनदर्शन तो विश्वदर्शन है, स्वभाव को बतलानेवाला तत्त्वदर्शन है।

अबन्धस्वभावी भगवान आत्मा के आश्रय से जो अबन्ध पूर्ण पर्याय प्रगट हुई उसकी इतनी शक्ति है कि अपनी तथा अनन्त परपदार्थों की-अनन्त पुद्गल, अनन्त आत्मा, अनन्त केवली सिद्धों की तीनोंकाल की पर्यायों की, उनके अनन्तानन्त अविभाग प्रतिच्छेदों सहित, अक्रम से प्रत्यक्ष जान ले।

अविभाग प्रतिच्छेद का अर्थ क्या ? कि पर्याय में जिसके दो विभाग न हो सकें – ऐसा गुणसामर्थ्य का छोटे से छोटा अंश। केवलज्ञान समस्त वस्तु के ऐसे सर्व अंशों को एकसाथ प्रत्यक्ष जानता है।

सर्व को युगपद् प्रत्यक्ष जाननेवाले अरहन्त परमात्मा सर्वज्ञ कैसे हुए ? – अन्तर में पूर्ण वीतरागता होने से। उस सर्वज्ञदशा की शक्ति कितनी ? कि अपनी तीनों काल की तथा पर की भी तीनों काल की पर्यायों को, सर्व के अनन्तानन्त अविभाग प्रतिच्छेदों सहित, अक्रम से प्रत्यक्ष जाने ऐसी अचिन्त्य शक्ति है। पर के अवलम्बन बिना, अपने क्षेत्र में रहकर, एक समय की काल मर्यादा में रहकर, सर्वभावों को एकसाथ अत्यन्त प्रत्यक्ष जाने ऐसी कोई अद्भुत केवलज्ञान की महिमा है।

ऐसे अचिन्त्य महिमावन्त केवलज्ञान को वीतराग मुनिराज प्राप्त करते हैं।

अन्तर में आनन्दकन्द ज्ञायक को जागृत करके वीतरागभावरूप परिणमित सन्त ऐसे अचिन्त्य महिमावन्त केवलज्ञान को प्राप्त करते हैं। आया कुछ समझ में ? पुस्तक में बहुत अच्छी व्याख्या आयी है। एक में बहुत कुछ आ गया। अहा! द्रव्य की शक्ति के सम्बन्ध में क्या बात करें ? वस्तु की तथा उसके गुणों की क्या बात करें ? परन्तु जीव के एक ज्ञानगुण की एक समय कमी पूर्ण पर्याय-केवलज्ञान की ऐसी कोई अद्भुत अनन्त शक्ति है कि वह अपने भूत-वर्तमान-भविष्य की पर्यायों को तथा अनन्तानन्त जीव कि जिनमें से अनन्त को प्राप्त हुई सिद्धदशा अनन्त काल तक ज्यों की त्यों रहेगी और अनन्त जीव अभी निगोद में हैं कि जिनमें से अनन्त जीव निकलकर केवलज्ञान प्राप्त करेंगे, उन सबको-तीनों काल के सर्वभावों को-सहजरूप से प्रत्यक्ष जानता है। यह तर्क या विकल्प का विषय नहीं है; स्वभाव का गर्भ अनन्त है।

प्रवचनसार में कहा है न ? – ‘जो जाणदि अरहंतं दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं.....’ जो जीव अरहन्त को द्रव्यरूप से, गुणरूप से तथा पर्यायरूप से जानता है वह अन्तर में अपने आत्मा को जानता है। जैसा और जितना अरहन्त का आत्मा है वैसा और उतना ही मेरा आत्मा है। उनके जैसे और जितने मुझमें गुण हैं और उनको जो केवलज्ञानादि पूर्ण पर्यायें प्रगटी हैं वे अन्तरद्रव्यस्वभाव के आश्रय से प्रगट हुई हैं; इसलिए मैं भी अपने द्रव्यस्वभाव

का आश्रय प्रगट करूँ और पर्याय में केवलज्ञान आदि पूर्णता प्राप्त करूँ। अरे! कितनों ने तो यह बात सुनी भी नहीं होगी। अहा! यह तो त्रिलोकीनाथ महावीर और वर्तमान विरहमान सीमन्धरादि वीतराग तीर्थङ्करों का कथन है।

केवलज्ञान प्रगट होने पर, जैसे कमल हजार पंखुरियों से खिल उठता है तदनुसार, दिव्यमूर्ति चैतन्यदेव अनन्त गुणों की अनन्त पंखुरियों से खिल उठता है।

हजार पंखुरीवाला कमल जैसे खिल उठता है, वैसे ही ज्ञान और आनन्दादि अनन्त गुणों को धारण करनेवाला भगवान आत्मा अनन्त गुणों की निर्मलताओं से पर्याय में खिल उठता है। अहा! इस स्वभाव का अन्तर में विश्वास आ गया वह अनन्त पुरुषार्थ है। भीतर निर्विकल्प दृष्टि होने पर परिणाम में ज्ञायक का विश्वास आता है। अन्तर की यह बात समझ में न आयी हो उसे 'एकान्त' लगता है किन्तु भाई! भले ही तुझे एकान्त लगे परन्तु यह तो वीतराग का अनेकान्त सिद्धान्त है। इसमें कहाँ वाद-विवाद का स्थान है? अन्तर में चैतन्य ज्ञायकस्वभाव के अवलम्बन से सम्यग्दर्शन होता है और देव-शास्त्र-गुरु के दर्शन या व्रत-तप के आश्रय से सम्यग्दर्शन नहीं होता, उसे अनेकान्त कहते हैं। भगवान के दर्शन या व्रतादि तो राग की क्रिया है, उसमें से वीतरागता कैसे होगी?

भीतर पर्याय में वीतरागता प्रगट करना हो तो निज चैतन्यबिम्ब का अवलम्बन ले। इसके सिवा लाखों क्रियाकाण्ड करे वह सब बन्ध का कारण है। जैसे, कमल हजार पंखुरियों से खिल उठता है, वैसे ही दिव्यशक्तियों का भण्डार आत्मा पर्याय में अनन्त अचिन्त्य गुणों की अनन्त निर्मलताओं से खिल उठता है। एक गुण की एक पर्याय – ऐसे अनन्तगुणों की अनन्त पर्यायों से-पंखुरियों से खिल उठता है। जो स्वयं ही अचिन्त्य शक्तिवान देव है और चैतन्यरूप चिन्तामणि रत्न है – ऐसा यह ज्ञायकभाव अनन्तगुणों की निर्मल पर्यायोंरूप से खिल उठता है।

केवलज्ञानी भगवान चैतन्यमूर्ति के ज्ञान-आनन्दादि अनन्त गुणों की पूर्ण पर्यायों में सादि-अनन्त केलि करते हैं; निजधाम के भीतर शाश्वतरूप से विराज गये हैं, उसमें से कभी बाहर आते ही नहीं।

जब से केवलज्ञान प्रगट हुआ, तब से उसका आदि हुआ और वह ज्यों का त्यों अनन्त काल रहना है।

सादि-अनन्त, अनन्त समाधिसुख में,
अनन्त दर्शन-ज्ञान अनन्त सहित जो।
अपूर्व अवसर ऐसा किस दिन आयेगा।

अहा! सम्यग्दृष्टि को ऐसी भावना होती है। समाधिसुख अर्थात् अतीन्द्रिय आह्लादस्वरूप आनन्द। अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान और अनन्त आनन्दादि अनन्त पूर्ण पर्यायों में केवलज्ञानी भगवान सादि-अनन्त काल तक केलि-क्रीड़ा करते हैं। अहा! भगवन्त सिद्ध क्या करते हैं? अतीन्द्रिय पूर्णानन्द में रमण करते हैं, अनन्तानन्त निर्मल पर्यायें प्रगट हुई उनका वेदन करते हैं।

प्रश्न : सिद्ध भगवान कुछ नहीं करते ?

उत्तर : अपने और आनन्दादि अनन्त गुणों की पूर्ण पर्याय में सादि-अनन्त क्रीड़ा करने का अपना कार्य सिद्ध भगवान स्वयं करते हैं; वे अपने कार्य बिना-कार्य रहित नहीं हैं। विश्व का प्रत्येक पदार्थ अपने वर्तमान पर्यायरूप कार्य का स्वयं कर्ता है; अन्य पदार्थ भी अपने-अपने कार्य करते हैं, उनका कार्य यह जीव करे ऐसा कहाँ से आया? अहा! यह जीव पर का करे कुछ नहीं; तथापि पर को जाने बिना नहीं रहे ऐसा ही वस्तुस्वभाव है। ऐसी बातें हैं भाई! जैनधर्म वह कोई पक्ष या सम्प्रदाय नहीं है, वह तो वस्तु का स्वरूप है।

केवली भगवान निजधाम के भीतर शाश्वतरूप से विराजमान हो गये, उसमें से कभी बाहर आते ही नहीं। निजधाम कहो या सुखधाम कहो – ‘शुद्ध बुद्ध चैतन्यघन, स्वयंज्योति सुखधाम।’ पूर्ण परमात्मदशा प्रगट होने पर जीव निज सुखधाम के भीतर शाश्वत्सुख से स्थित हो जाते हैं – सादि-अनन्त समाधिसुख में परिणमित हो जाते हैं, उसमें से कभी बाहर आते ही नहीं।

प्रश्न : भक्तों पर सङ्कट आये तब परमात्मा अवतार धारण करते हैं – ऐसा आता है न?

उत्तर : वह कथन सत्य नहीं है। सिद्धदशा को प्राप्त हुए मुक्त परमात्मा कभी अवतार धारण नहीं करते। पूर्ण स्वरूप के पूर्ण अवलम्बन को प्राप्त हुए पूर्णानन्द की प्राप्ति का सादि-अनन्त काल वेदन करनेवाले सिद्ध भगवन्त उस आनन्दमय वेदन में से कभी बाहर आते ही नहीं, भीतर आनन्द में रमण करते हैं। अहा! उसी को परमात्मपद कहते हैं और 'स्वद्रव्य के अवलम्बन से होता है' – वह उसकी प्राप्ति का उपाय है। ●

(वचनमृत प्रवचन, 3/280)



मुनिदशा के बिना मुक्ति नहीं

मुनिराज, निर्मल विज्ञानघन में निमग्न हैं। अहा! कैसी भाषा का प्रयोग किया है। साधुपना कोई अलग ही है भाई! विज्ञान का घन ऐसा जो निज भगवान आत्मा, उसमें वे अन्तर्निमग्न हैं। निमग्नपना, वह पर्याय है, परन्तु वह पर्याय त्रैकालिक एकाकार विज्ञानघनस्वभाव में निमग्न है, डूबी हुई है। अहा! इस दशा के बिना मुक्ति नहीं है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और स्वरूपाचरण चतुर्थ गुणस्थान में होते हैं, परन्तु इतने से ही सम्पूर्ण मुक्ति नहीं होती। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानपूर्वक प्रचुर स्वसम्बेदनस्वरूप निर्ग्रन्थ चारित्रदशा आये, उससे मुक्तिदशा प्राप्त होती है। बाह्य में वेष धारण कर ले, नग्नता ले ले और पञ्च महाव्रतादि का पालन करे, वह कोई मुनिदशा नहीं है।

— वचनमृत प्रवचन, पृष्ठ १८४

निज चैतन्य में मस्त : मुनिराज

मुनिराज के हृदय में एक आत्मा ही विराजता है।

अब मुनिराज की बात आती है। अहा! मुनिपना अर्थात् क्या? जिनको अन्तर में ध्रुव ज्ञायकस्वभाव के आलम्बन द्वारा पर्याय में अतीन्द्रिय आनन्द का ज्वार आता है, प्रचुर स्वसंवेदन द्वारा भीतर आनन्द का नाथ प्रगट हुआ है, उनको यथार्थ मुनिपना प्रगट हुआ कहा जाता है। अन्तर में अतीन्द्रिय आनन्द के प्रचुर स्वसंवेदन बिना बाह्य में नग्नता, पञ्च महाव्रत के शुभपरिणाम या उपवासादि तप की बाह्य क्रिया - वह कोई मुनिपना नहीं है। मुनिराज के अन्तर में, बाह्य क्रिया अथवा शुभराग नहीं, परन्तु एक अभेद परिपूर्ण निज शुद्ध ध्रुव ज्ञायक आत्मा ही विराजता है। अहा! ध्रुव धनी माथे कियो रे, कुण गंजे नरखेट? मुनिराज को ध्रुव धनी-ज्ञायकदेव पर दृष्टि है और उसके कारण स्वरूपस्थिरता अत्यन्त परिणमित हो गई है। इसलिए अतीन्द्रिय के स्वसंवेदन में आनन्द का प्रचुर स्वाद आता है। अहा! आनन्दमय प्रचुर स्वसंवेदन को मुनिपना कहा जाएगा अथवा बाह्यक्रिया और राग को? बाह्यक्रिया तो जड़ की दशा है और व्रतादि का जो राग आता है वह तो आस्रव-बन्ध का कारण है, उसे मुनिपना कैसे कहा जाए? मुनिपना तो मोक्ष का मार्ग है, बन्ध का नहीं। मुनिराज के हृदय में तो 'एक' भगवान आत्मा ही विराजमान है। ('एक' शब्द गुणभेद या पर्यायरहित अभेद परिपूर्णता बतलाने के लिए कहा है।) वे आत्मा के उग्र आलम्बन से आनन्द को गटागत पी रहे हैं। अहा! ऐसा है भगवान का मार्ग।

उनका सर्व प्रवर्तन आत्मामय ही है।

मुनिराज का सर्व प्रवर्तन आत्मामय ही है। आत्मामय अर्थात् आनन्दमय, स्वरूप-

रमणतामय । महाव्रतादि अट्टाईस मूलगुण के विकल्प बीच में आते हैं परन्तु वे कहीं साधकदशा नहीं है, आत्मामय प्रवर्तन नहीं है । भूमिकानुसार राग आता है, परन्तु मुनिराज उसके मात्र ज्ञाता है; ज्ञातामय अर्थात् आनन्दमय परिणमन वही उनका प्रवर्तन है । अहा ! ऐसी बातें हैं ।

अकेले सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान से मुक्ति नहीं होती, चारित्र अपेक्षा से भी सर्व प्रवर्तन आत्मामय होना चाहिए; उस दशा के बिना मुक्ति नहीं है । बाह्य में व्रत, तप एवं भक्तिरूप अथवा उपदेशादिरूप प्रवर्तन होता है परन्तु उस सर्व प्रवर्तन के समय निजज्ञायक आत्मा ही अन्तर में अधिक से अधिक वर्तता है इसलिए उनका सर्व प्रवर्तन आत्मामय अर्थात् ज्ञानमय ही है । आत्मामय प्रवर्तन अर्थात् आत्मा में-ज्ञान में, श्रद्धा में, आनन्द में, ईश्वरता में - एकाग्रतारूप परिणमन । अहा ! मुनिराज तो अन्तर में शुद्ध ध्रुव चैतन्य की ओर ढल गये हैं । उस ओर का सर्व प्रवर्तन-शुद्ध पर्यायरूप सर्व प्रवर्तन-आत्मामय ही है ।

वस्त्र उतारकर, पञ्च महाव्रत धारण करके, नग्न दिगम्बर साधु हुआ परन्तु अन्तर में सम्यग्दर्शन किसे कहना उसका पता नहीं लगा । सम्यग्दर्शन किसे कहा जाए ? केवलज्ञान और पूर्णानन्द का कन्द ऐसा जो निज ज्ञायकभाव उसकी जब तक पर्याय में भेंट न हो तब तक सम्यग्दर्शन नहीं है । सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानपूर्वक स्वरूपस्थिरता होने पर मुनिराज का सर्व प्रवर्तन आत्मामय ही-ज्ञानधारामय ही सहज बन जाता है ।

आत्मा के आश्रय से बड़ी निर्भयता प्रगट हुई है ।

पूर्णानन्द ज्ञायक प्रभु के आश्रय से मुनिराज को अति निर्भयता प्रगट हुई है । आनन्द के नाथ में प्रचुररूप से रमनेवाले सन्तों को बाह्य का भय कैसा ? जिनको अन्तर में, ज्ञान एवं शान्ति में रमते-रमते, अति निर्भयता प्रगट हुई है, उनको मुनिराज कहा जाता है । उनको भय किसका ? गर्जना करते हुए सिंह और बाघ दिखायी पड़ें तथापि भय नहीं होता । श्रीमद् ने कहा है न ! कि —

घोर परिषह या उपसर्ग भय करी,
आ सके नहीं उस स्थिरता का अंत जो,
..... अपूर्व अवसर ॥

आनन्दमय आत्मस्थिरता इतनी बढ़ गई है कि चाहे जैसे कठिन परीषह या उपसर्ग आ पड़ें, तथापि उनके भय से मुनिराज किञ्चित् भी चलायमान नहीं होते। आत्मा के आश्रय से अत्यन्त निर्भयता प्रगट हुई है। पुनः श्रीमद् कहते हैं —

एकाकी विचरूँगा कब श्मशान में,
गिरि पर होगा बाघ सिंह संयोग जब,
अडोल आसन अरु मन में न क्षोभ हो,
परममित्र का मानो पाया योग जब। अपूर्व।।.....

बाहर से देखने पर मुनिराज एकाकी विचरते हैं, अन्तर में देखने से वे अनन्त गुणों से परिपूर्ण स्वरूपनगर में विचरण करते हैं; बाहर से देखने पर वे श्मशान में आत्मसाधना हेतु बैठे हैं परन्तु अन्तर में देखने से निज आनन्दधाम में विराजमान हैं। सिंह, वाघ या अन्यकृत उपसर्ग आएँ तब मुनिराज, निज द्रव्यस्वभाव को प्रबल पुरुषार्थपूर्वक पकड़कर ऐसा मानते हैं कि 'अपनी स्वरूपस्थिरता के प्रयोग का मुझे अवसर प्राप्त हुआ है, इसलिए उपसर्ग मेरा परम मित्र है।' मुनिराज भीषण उपसर्ग तथा परीषह के काल में आनन्दकन्द निज ज्ञायक में प्रचुरता से लीन हो जाते हैं, क्योंकि उनको आत्मा के सहज आश्रय से अत्यन्त निर्भयता प्रगट हुई है।

घोर जङ्गल हो, घनी झाड़ी हो, सिंह-व्याघ्र दहाड़ते हों, मेघाच्छन्न डरावनी रात हो, चारों ओर अन्धकार व्याप्त हो, वहाँ गिरिगुफा में मुनिराज बस अकेले चैतन्य में ही मस्त होकर निवास करते हैं।

निर्जन भयङ्कर वन हो, सूर्य की किरण भी न पहुँच सके ऐसी घनी झाड़ियाँ हों, जिनकी गर्जना सुनकर मनुष्यों के कलेजे भय से काँप उठें ऐसे विकराल सिंह-वाघ पास ही घूम रहे हों, घनघोर मेघाच्छादित रात्रि का अन्धकार चारों ओर फैल गया हो - ऐसे में मुनिराज पर्वत की गुफा में या किसी वृक्ष के नीचे भीतर निजानन्द में केलि करते हैं। वनराज की दहाड़ सुनकर मनुष्य भयभीत होकर भागता है, मुनिराज वह दहाड़ सुनकर अन्तर में जागते हैं - स्वरूपानन्द में उग्रतापूर्वक स्थिर हो जाते हैं। अहा! मुनिपना तो कोई अलौकिक वस्तु है। जहाँ सम्यग्दर्शन भी कोई अलौकिक एवं अनुपम वस्तु है वहाँ

मुनिदशा की अलौकिकता और अनुपमता की तो बात ही क्या! 'णमो लोए सव्व साहूणं' में जिनको, बारह अङ्ग और चौदहपूर्व की रचना करनेवाले श्रुतकेवली गणधर भगवान का भावनमस्कार पहुँचता है, वह मुनिदशा कैसी अद्भुत होगी ?

अन्तर में उपयोग जम जाता है तब मुनिराज को पर्याय में अतीन्द्रिय आनन्द का भारी ज्वार आता है जो अनन्त गुणों के अभेद पिण्डस्वरूप निज शुद्धात्म द्रव्य सामान्य के आश्रय से सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान हुआ है, उस चैतन्यमय द्रव्यस्वभाव में ही वे एकाकी लीन होकर निवास करते हैं।

आत्मा में से बाहर आएँ तो श्रुतादि के चिन्तवन में चित्त लगता है और फिर अन्तर में चले जाते हैं।

ध्यान एवं निर्विकल्प आनन्द में से बाहर आएँ तो मुनिराज सर्वज्ञ परमेश्वर द्वारा कथित श्रुतादि के चिन्तवन में अथवा देव-शास्त्र-गुरु की विनयादि में चित्त लगाते हैं और पुनः स्वरूप में स्थिर हो जाते हैं, स्वरूपगुप्त हो जाते हैं; बाहर आए नहीं कि भीतर चले जाते हैं, सातवें अप्रमत्त गुणस्थान के अतीन्द्रिय आनन्द में झूलते हैं, विकल्प के काल में-छठवें प्रमत्त गुणस्थान में-शास्त्र स्वाध्याय आदि में उपयोग लगाते हैं और फिर स्वरूपमग्न हो जाते हैं। शास्त्रस्वाध्याय आदि के चिन्तवनरूप विकल्प से अन्तर में प्रवेश होता है ऐसा नहीं है परन्तु स्वसन्मुखता के सहज पुरुषार्थ से अन्तर में प्रविष्ट होते हैं। समाज, संघ या किसी बाहरी वस्तु की उन्हें कोई दरकार नहीं है। कर्म प्रक्रम-प्रतिदिन नियमानुसार उपदेश देना, पाठशाला या अन्य संस्थाओं में हाजरी देना, पुस्तकें लिखना-छपवाना, अखबारों में लेख लिखना आदि अनेक प्रकार के कार्यों का सिर पर बोझ - वे नहीं रखते; विकल्प आये और यथोचित सहज योग हो तो स्वाध्याय अथवा श्रुतादि की रचना हो जाती है और फिर स्वरूप में समा जाते हैं, भीतर आनन्दसागर में निमग्न हो जाते हैं।

स्वरूप के झूले में झूलते हैं।

जो ऐसे सच्चे भावलिङ्गी मुनिराज हैं वे तो छठवें-सातवें गुणस्थान में झूलते रहते हैं, स्वरूपानन्द में डूब जाते हैं, इसका नाम मुनिपना है। ऐसी सहजदशा हो उन्हें मुनि

मानना। इससे विरुद्ध दशावाले को मुनि मानना वह विपरीत श्रद्धा है। अहा! बात बहुत असह्य है, परन्तु क्या हो? वीतराग द्वारा कहे गये मुनिमार्ग का स्वरूप ही ऐसा है।

मुनिराज को एक आत्मलीनता का ही काम है।

ज्ञायक में-आनन्दस्वरूप निज भगवान आत्मा में-लीनता साधना वह एक ही कार्य मुनिराज सतत कर रहे हैं। उनको संयम के हेतु स्वरूप के लक्ष्य से तथा जिनाज्ञा के अनुसार मन-वचन-काय के योग में स्वल्प आकर्षण वर्तता है परन्तु वह भी प्रतिक्षण घटती हुई स्थिति में होता है और अन्त में निजानन्द स्वरूप में लीन हो जाते हैं, क्योंकि मात्र आत्मलीनता ही उनका काम है।

अद्भुत दशा है!

अहा! मुनिपना तो कोई अद्भुत दशा है! जिनको गणधर का भावनमस्कार पहुँचे वह दशा कैसी होगी, भाई! जहाँ ज्ञायकस्वभाव के उग्र आलम्बन से अन्तर में उपशमरस का सागर उछलता है और बाहर शरीर में उपशम रस ढल गया होता है, ऐसा जो सहज मुनिपना वह वास्तव में कोई अद्भुत दशा है। ●

(वचनमृत प्रवचन, भाग-4, पृष्ठ-208)



समरसमय अचिन्त्यदशा के धनी

‘मुनिराज आश्चर्यकारी निज ऋद्धि से भरे हुए चैतन्यमहल में निवास करते हैं चैतन्यलोक में अनन्त प्रकार का दर्शनीय है, उसका अवलोकन करते हैं; अतीन्द्रिय-आनन्दरूप स्वादिष्ट अमृतभोजन के थाल भरे हैं, वह भोजन करते हैं।’

अहा! मुनिपना किसे कहा जाए! अतीन्द्रिय ज्ञान, आनन्द, शान्ति, प्रभुता, समता, समाधि आदि आश्चर्यकारी निजऋद्धि से भरपूर ऐसे अपने ज्ञायक महल में जो निवास करते हैं, चैतन्यस्वरूप में प्रचुरता से स्थिर हो गये हैं, उनको ‘मुनिराज’ कहा जाता है। ज्ञान और आनन्दादि चमत्कारी ऋद्धियों से परिपूर्ण निज चैतन्यमहल में निवास करनेवाले साधकजीव को प्रतिक्षण पर्याय में निर्मलता की सिद्धि एवं ऋद्धि की वृद्धि होती जाती है। समयसार-नाटक में सम्यग्दृष्टि साधक का वर्णन करते हुए कहा है -

स्वारथ के साचे परमारथ के साचे चित,
साचे साचे बैन कहैं साचे जैनमती हैं।
काहू के विरुद्धि नाहिं परजाय-बुद्धि नाहिं,
आतमगवेषी न गृहस्थ हैं न जती हैं ॥
सिद्धि रिद्धि वृद्धि दीसै घट में प्रगट सदा,
अन्तर की लच्छिसौं अजाची लच्छपती हैं।
दास भगवन्त के उदास रहैं जगत सौं,
सुखिया सदैव ऐसे जीव समकित्ती हैं ॥

जिनको शरीर और रागादि विभावों से भिन्न अपने ज्ञायकस्वरूप का सच्चा ज्ञान

प्रगट हुआ है, पूर्ण परमात्मपद की प्राप्ति का सच्चा प्रेम है, जो हृदय के सच्चे हैं, सत्यवक्ता हैं और सच्चे जैन हैं, नयविवक्षा के सम्यग्ज्ञाता होने से जिन्हें किसी के साथ बैरविरोध नहीं है, शरीरादि के प्रति जिनको अहंबुद्धि छूट गई है, जो आत्मस्वरूप के शोधक हैं, न तो अणुव्रती हैं न महाव्रती हैं, जिन्हें अपने हृदय में सदा आत्महित की सिद्धि, आत्मशक्ति की ऋद्धि और आत्मगुणों की-पर्यायों में निर्मलता की-वृद्धि प्रगट अनुभव में आती है, जो अन्तरङ्ग लक्ष्मी से समृद्ध होने के कारण अयाचक लक्षपति हैं, जो जिनराज के सेवक हैं, जो संसार से उदासीन तथा आत्मिकसुख से सदा आनन्दरूप रहते हैं; ऐसे गुण-साधन की विशेषताएँ जिनमें विद्यमान हैं वे जीव सम्यग्दृष्टि हैं। यह तो सम्यग्दृष्टि की ऋद्धि की बात कही; यहाँ तो मुनिराज की बात चलती है। कैसे हैं मुनिराज? अहा! मुनिराज तो ज्ञान, आनन्द, समाधि आदि चमत्कारी निज सम्पदा से भरपूर चैतन्यमहल में निवास करते हैं।

प्रश्न : तो फिर पैसेवालों की ऋद्धि का क्या ?

उत्तर : पैसेवाले यानी क्या? पैसा तो धूल है, अजीव है। अपने को पैसेवाला अर्थात् अजीववाला मानना वह तो मूढ़ता है, मिथ्यादृष्टिपना है। अरे! पैसा तो दूर रहा किन्तु अपनी पर्याय में जो रागादि विभाव होते हैं वह भी आत्मा का मूल स्वरूप नहीं है। ज्ञानी को भी निर्बलता का राग आता है, किन्तु वास्तव में तो वह दृष्टि की अपेक्षा से मात्र उसका ज्ञाता है, और ज्ञान की अपेक्षा से ज्ञानी बराबर जानता है कि मेरी पर्याय में राग का-अस्थिरता का-इतना परिणामन है, इतनी मेरी निर्बलता है। ज्ञानी को दृष्टि और ज्ञान दोनों का सुमेल होता है। अहा! ऐसी बात है।

अहो! धन्य मुनिदशा! मुनिदशा की तो बात ही क्या! बहिन के 'वचनमृत' पुस्तक में से मुनिराज सम्बन्धी बोलों का सङ्कलन करके 'धन्य मुनिदशा!' नाम की छोटी पुस्तिका प्रकाशित हुई है। उसमें बहिन ने मुनिपने की बड़ी सुन्दर बातें की हैं। मुनिराज का निवास अट्टाईस मूलगुणों के विकल्पों में नहीं, परन्तु ज्ञातापरिणतिरूप ज्ञान, शान्ति, स्वच्छता, प्रभुता, आनन्दादि आश्चर्यकारी निज ऋद्धियों से परिपूर्ण निज ज्ञायकमहल में है।

प्रश्न : मुनिराज महल में निवास करते हैं या नहीं ?

उत्तर : मुनिराज तो वन-जङ्गल में अथवा गिरिगुफा में निवास करते हैं - यह तो

व्यवहार का कथन है, वे तो सदा अन्तर की चैतन्यगुफा में वास करते हैं। श्री समयसार की ४९ वीं गाथा की टीका में श्री जयसेनाचार्यदेव ने कहा है कि यहाँ तात्पर्य इस प्रकार है : शुद्ध निश्चयनय से जो पुद्गल द्रव्य के सर्व वर्णादि गुण एवं शब्दादि पर्यायों से रहित है, जो सर्व द्रव्येन्द्रिय, भावेन्द्रिय और मनोगत रागादि विकल्पों से अगोचर है, जो धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशद्रव्य, कालद्रव्य तथा शेष अन्य जीवों से भिन्न है और जो अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख एवं अनन्त वीर्यस्वरूप है ऐसे जो शुद्धात्मा है वही समस्त द्रव्य, सर्वक्षेत्र, सर्वकाल तथा ब्राह्मण-क्षत्रियादि अनेक वर्ण भेदवाले मनुष्य के समस्त मन-वचन-काया के व्यापारों में दुर्लभ है, वही अपूर्व है और वही उपादेय है ऐसा समझकर निर्मोह तथा निरञ्जन ऐसे निज शुद्धात्मा की निर्विकल्प समाधि से समुत्पन्न जो सुखामृतरस उसकी अनुभूतिस्वरूप जो गिरिगुफा की कन्दरा, उसमें स्थिर होकर सर्व तात्पर्य से उसका (निज शुद्धात्मा का) ध्यान करना। मुनिराज क्या पर्वत की गुफा में निवास करते हैं? वास्तव में तो, वे निर्विकल्प समाधि से उत्पन्न अपनी आनन्दमय चैतन्यगुफा में रहते हैं, भीतर निजस्वरूप में ही प्रचुरता से स्थित रहते हैं। अहा! ऐसा मार्ग है प्रभु का। दिगम्बर सन्तों ने अद्भुत कार्य किया है! मूल गाथा में और टीका में अमृत की वर्षा की है।

प्रश्न : तो क्या मुनिराज व्रतादि के विकल्प में नहीं रहते ?

उत्तर : मुनिराज को भूमिकानुसार पञ्च महाव्रत, समिति, स्वाध्याय आदि के विकल्प आते अवश्य हैं, परन्तु उनमें उनका निवास नहीं है, उनका निवास तो उन समस्त विकल्पों से भिन्न अन्तर के अतीन्द्रिय आनन्द में है। महाव्रत या तपादि के विकल्प तो शुभराग हैं, आस्रव हैं और बन्ध के कारण हैं।

प्रश्न : वीतराग देव-गुरु की पूजा के भाव यह सब क्या बन्ध का कारण है ?

उत्तर : भाई! लाख या करोड़ पूजा-बूजा कर न! परन्तु यह सब शुभराग और क्लेश है। समयसार के निर्जरा-अधिकार में कहा है न! -

कोई जीव तो महाकष्ट से किये जा सकें ऐसे और मोक्ष से विमुख ऐसे कर्मों द्वारा स्वयमेव क्लेश पाते हैं तो पाओ और अन्य कोई जीव (मोक्ष के सन्मुख अर्थात् कथञ्चित्

जिनाज्ञा में कहे गये) महाव्रत और तप के भार से दीर्घकाल तक भग्न होते हुए क्लेश प्राप्त करते हों तो करो; परन्तु जो साक्षात् मोक्षस्वरूप है, रागादि समस्त क्लेशरहित पद है, और स्वयं स्वसंवेद्यमान है ऐसा यह ज्ञान तो ज्ञानगुण के बिना किसी भी प्रकार वे प्राप्त कर ही नहीं सकते। शुद्धात्मानुभूतिस्वरूप जो ज्ञान है वह साक्षात् मोक्ष है; वह ज्ञान से ही प्राप्त होता है, अन्य किसी क्रियाकाण्ड से उसकी प्राप्ति नहीं होती।

प्रश्न : पापभाव की अपेक्षा पुण्यभाव अच्छा तो कहा जाएगा न ?

उत्तर : भाई! पुण्य और पाप – दोनों भाव आत्मा का धर्म नहीं हैं इसलिए समान हैं। उनमें पुण्यभाव अच्छा और पापभाव बुरा – ऐसा भेद करना वह बड़ी भूल है; जो अनन्त संसार में परिभ्रमण का कारण होता है। प्रवचनसार की ७७ वीं गाथा में कहा है –

नहिं मानतो इस रीति पुण्य अरु पाप में न विशेष है।

वह मोह से आच्छन्न घोर अपार संसार में भ्रमे ॥ ७७ ॥

इस प्रकार 'पुण्य और पाप में अन्तर नहीं है' ऐसा जो नहीं मानता, वह मोहाच्छादित वर्तता हुआ घोर अपार संसार में परिभ्रमण करता है।

अहा! अद्भुत है दिगम्बर मुनिराज की वाणी! दिगम्बर मुनिराज का तो क्या कहना! वे तो 'नंगा बादशाह से बड़ा', बादशाह की अपेक्षा भी वे बड़े, उत्तम, श्रेष्ठ हैं; उन्हें दुनिया की कुछ पड़ी नहीं है। समाज या दुनिया माने या न माने, उन्होंने तो वस्तुस्थिति जैसी है वैसी यथार्थ कही है। शुभभाव अच्छा और अशुभभाव बुरा – इस प्रकार उन दो में जो परमार्थतः अन्तर मानेगा वह 'हिंडदि घोरमपारं संसारं' – मिथ्यात्व से आवृत अज्ञानी जीव घोर अपार संसार में परिभ्रमण करेगा। शुभ या अशुभ दोनों भाव विभाव, अशुचि, बन्ध का कारण, दुःख और दुःख फलरूप है, इसलिए अठीक है; ठीक तो एकमात्र निज शुद्धात्मद्रव्य-स्वभाव के आलम्बन से प्रगट होनेवाला शुद्धभाव ही है। तत्त्वार्थसूत्र में भी शुभभाव को आस्रवतत्त्व में गिना है; क्योंकि उससे पुण्यास्रव होता है। 'शुभः पुण्यस्याशुभः पापस्य (आस्रवः)। शुभयोग पुण्य का और अशुभयोग पाप का आस्रव है। दोनों आस्रव-बन्धरूप में समान हैं; उन दोनों में परमार्थदृष्टि से जो अन्तर मानेगा कि शुभभाव अशुभभाव की अपेक्षा ठीक है, वह अनन्त संसार में भटक मरेगा। अहा! यह तो कुन्दकुन्दाचार्यदेव

की वाणी है; अरे! कौन मानता है इसे ?

यहाँ तो यह बात चलती है कि - 'मुनिराज आश्चर्यकारी निज ऋद्धि से भरपूर चैतन्यमहल में निवास करते हैं; चैतन्यलोक में अनन्त प्रकार का दर्शनीय है उसका अवलम्बन करते हैं...' क्या कहा ? भीतर चैतन्य की दुनिया में सहज ज्ञान, सहज दर्शन, सहज सुख, सहज वीर्य, सहज स्वच्छत्व, सहज प्रकाश, सहज प्रभुत्व, सहज विभुत्व आदि अनन्त प्रकार का - अनन्त... अनन्त... अनन्त - गुणवैभव देखना, जानना, आनन्द लेना है, उसका मुनिराज सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और विशेष स्वरूपस्थिरता की परिणतिरूप परिणमित होकर, अवलोकन कर रहे हैं।

अहा! आत्मा के अनन्तगुणों की तो क्या गिनती हो! सर्वव्यापी आकाशद्रव्य के जितने प्रदेश हैं उनकी अपेक्षा प्रत्येक द्रव्य में गुणों की संख्या अनन्तगुनी है। अरे! परमाणु या कालाणु, जो आकार में छोटे से छोटा-एकप्रदेशी-द्रव्य है उसमें भी आकाशप्रदेश की संख्या की अपेक्षा अनन्तगुने गुण हैं। उन अचेतन पदार्थों में अचेतन, आत्मा में, चेतनपदार्थ में, चेतनगुण है।

बड़े शहरों में 'प्रदर्शनी' लगती हैं न अथवा अजायब घर होते हैं न! जिस प्रकार लोग उन्हें देखने जाते हैं, उसी प्रकार भीतर यह चैतन्य लोक भी एक दर्शनीय अनुपम प्रदर्शनी अथवा अजायबघर है। मुनिराज निज चैतन्यलोक में दर्शनीय, अनुभवनीय, अनन्त अतीन्द्रिय गुणवैभव का अवलोकन करते हैं। अविरत सम्यग्दृष्टि जीव भी निज चैतन्यलोक का अवलोकन करते हैं किन्तु थोड़ी स्थिरतासहित; क्योंकि पर्याय में निर्बलता है, और मुनिराज को पर्याय में विशेष उग्र स्थिरता परिणमित हो जाने के कारण अनन्त दर्शनीय गुणवैभव को उग्रता से अवलोकते हैं-अवगाहते हैं।

अहा! आत्मा भी एक वस्तु है न! 'वस्तु' किसे कहा जाता है? गोम्मटसार की टीका में कहा है कि - 'गुणपर्यायो वसतः यस्मिन् इति वस्तु' - जिसमें गुण और पर्यायों का वास है उसे 'वस्तु' कहते हैं। मुनिराज अनन्त-अनन्त गुणवैभव से भरी हुई निज चैतन्यवस्तु को देखते हैं।

प्रश्न : अनन्त को भेद करके देखने से राग नहीं होता ?

उत्तर : नहीं, नहीं। यहाँ तो 'देखते हैं' इतनी बात है। अनन्त गुणों को देखते हैं - बस इतना। भेद करके देखते हैं ऐसा कहाँ कहा है? आत्मा अनन्त गुणयुक्त है और मुनि आत्मा को देखते हैं तो उसके अनन्त गुणों को देखते हैं, भेद करके नहीं। आत्मा में अनन्त प्रकारता है, इसलिए उसे एकरूप से देखते होने पर भी, अनन्त को देखते हैं ऐसा कहने में कोई विरोध नहीं है। तथा (ज्ञानी के उपयोगात्मक ज्ञान सम्बन्धी विवरण करते हुए) पण्डित टोडरमलजी ने मोक्षमार्गप्रकाशक में कहा है कि वस्तु का निश्चय होने के पश्चात् ऐसा नहीं है कि सामान्यरूप स्वद्रव्य का ही चिन्तवन बना रहता है, स्वद्रव्य और परद्रव्य का सामान्यरूप से तथा विशेषरूप से जानना होता है, परन्तु वीतरागता सहित होता है। 'जानना' यह तो ज्ञान का स्वभाव है क्या ज्ञान अनन्त को जाने-परद्रव्यों को तथा अपने विशेषों को जाने-इसलिए विकल्प (राग) होता है? नहीं... नहीं।

अहा! दृष्टि तो निर्विकल्प-निराकार है; वह अपने अस्तित्व को नहीं जानती और पर के अस्तित्व को भी नहीं जानती। परन्तु ज्ञान तो सविकल्प-साकार है; वह अपने अस्तित्व को जानता है और पर के अस्तित्व को भी जानता है। ज्ञान स्व-पर सब जानता है, जानने में कोई दोष नहीं है - यह बात 'पञ्चाध्यायी' में आती है; वीरजीभाई के साथ अनेकबार (सम्प्रदाय में थे तब) इस पर चर्चा हो चुकी है। पञ्चाध्यायी में कहा है कि 'हे महाप्राज्ञ! स्वरूपस्थिति के लिए परपदार्थ से हटकर उपयोग को एकाकार करने की इच्छा से खेद न कर। सबको जान। ज्ञानोपयोग की तो स्वाभाविक महिमा है कि वह स्व-पर सबको जानता है।'

हे ज्ञानी! हे धर्मी! तू अनन्त-अनन्त निजगुण-पर्यायरूप विशेषों को अथवा अनन्तानन्त पर-पदार्थों को देख; देखने-जानने का तो तेरा स्वभाव है; देखने से तुझे राग होगा ऐसा है ही नहीं।

**स्वपर प्रकासक सकति हमारी, तातैं वचनभेद भ्रम भारी;
ज्ञेयदशा दुविधा परगासी, निजरूपा पररूपा भासी ॥**

अहा! स्व-पर को जानना - यह तो ज्ञान की ताकत-शक्ति है।

प्रश्न : कभी तो आप ज्ञान की प्रशंसा करते हैं और कभी त्रैकालिक ज्ञायक का

गुणगान करते हैं ?

उत्तर : दृष्टि का विषय कहना हो तब त्रैकालिक अभेद ज्ञायक की बात आती है। दृष्टि अर्थात् श्रद्धा निर्विकल्प है; वह अपने को-श्रद्धारूप पर्याय को या पर को नहीं जानती, विशेष को जानना वह उसका विषय ही नहीं है। ज्ञान का स्वभाव स्व-पर ज्ञेय को-सबको जानने का है। वह अनन्त को जाने इसलिए विकल्प-राग हो ऐसा नहीं है।

चैतन्यलोक में ज्ञान, आनन्दादि अनन्त प्रकार का दर्शनीय है। यहाँ गुणरूप ऋद्धि के अवलोकन में 'राग को देखता है' यह बात गौण हो गई है। ज्ञानी धर्मात्मा को भी राग आता है परन्तु उसे वे पररूप में जानते हैं, ज्ञान और आनन्दादि गुणवैभव को स्वद्रव्यरूप में देखते हैं। यहाँ कहते हैं कि मुनिराज चैतन्यलोक में अनन्त प्रकार का दर्शनीय है उसका अवलोकन करते हैं। अहा! बहिन की भाषा तो अद्भुत है! सादी, सुगम और गम्भीर भावों से भरी हुई!

प्रश्न : भाषा तो जीव को होती नहीं है न ?

उत्तर : भाषा तो शब्दवर्गणा की पर्याय है, परन्तु भाव के अनुरूप शब्दवर्गणा भाषारूप परिणमने पर व्यवहार से 'जीव की भाषा' कहा जाता है। भगवान की ध्वनि को दिव्यध्वनि कहा जाता है न ? दिव्यध्वनि तो पुद्गल की पर्याय है। भाषा तो आत्मा की नहीं है, परन्तु 'मैं ज्ञायक आत्मा हूँ' ऐसा विकल्प भी आत्मा का यथार्थ स्वरूप नहीं है। आत्मा तो परमार्थ से निर्विकल्प अतीन्द्रिय चैतन्यस्वरूप है, जिसमें सहज ज्ञान, सहज सुखादि अनन्त प्रकार का दर्शनीय है।

सम्यग्दृष्टि भी अन्तरपरिणति में चैतन्य का अवलोकन करते हैं किन्तु निर्विकल्प दशा विशेष नहीं है, जबकि मुनिराज को स्वरूपस्थिरता अत्यधिक बढ़ जाने से निर्विकल्पदशा बारम्बार आती है। यहाँ यह 'मुनिराज चैतन्यलोक का अवलोकन करते हैं' बहिन के वचन हैं। अहा! यह तो कोई पुस्तक है! सबके पास आ गई है न ? आत्मधर्म के सब ग्राहकों को भेद दी गई है। लोग इसे पढ़े तो सही!

मुनिराज तो अतीन्द्रिय-आनन्दरूपी स्वादिष्ट अमृतभोजन के थाल भरे हैं, वही

भोजन करते हैं। भगवान ज्ञायक आत्मा में भीतर अतीन्द्रिय आनन्द के स्वादिष्ट भोजन के थाल भरे हैं - ज्ञान, दर्शन, कर्ता-करण-कर्मादि अनन्त गुणों के आनन्दरूपी थाल भरे हैं; उसका स्वाद लेते-लेते चाहे जितना काल व्यतीत हो जाए तथापि अमृत का कभी अन्त नहीं आता। आत्मा का सहज ज्ञानादिरूप ऐसा स्वरूप न समझे तब तक दर्शनशुद्धि नहीं हो सकती। अभी चारित्र तो कहीं दूर रह गया! भाई! चारित्रदशा तो क्या कहना! वह तो कोई अनुपम दशा है! चारित्र तो परमेश्वरपद है।

उस परमेष्ठीपद में विद्यमान मुनिराज निज ज्ञायकस्वभाव के उग्र अवलम्बन द्वारा, अतीन्द्रिय आनन्दरूप स्वादिष्ट अमृतभोजन के जो थाल भरे हैं, वह भोजन करते हैं। मुनिराज किन्हें कहा जाता है? अन्तर में शरीर और विभाव में भिन्न निज ज्ञायकस्वभाव के दृढ़ सम्यक् श्रद्धान एवं ज्ञान के बल से तीन कषाय के अभावरूप उग्र स्वरूपस्थिरता परिणमित हुई हो और बाह्य में निर्विकार सहज नग्न दिगम्बर दशा हो, अंशमात्र भी वस्त्र-पात्रादि का परिग्रह न हो, परिणाम में महाव्रत, समिति आदि को प्रमतरूप से पालन करने के विकल्प हों तथापि उनका स्वामित्व नहीं है; सहज अतीन्द्रिय-आनन्दस्वरूप स्वादिष्ट अमृतभोजन कर रहे हैं - ऐसी अद्भुत दशा को मुनिपना कहते हैं। अहा! धन्य वह मुनिदशा!

अहा! जिसके उग्र अवलम्बन से ऐसी अनुपम मुनिदशा प्रगट होती है उस ज्ञायक आत्मा का तो क्या कहना! वह कैसी वस्तु है! वह तो अतीन्द्रिय ज्ञान, श्रद्धा, शान्ति, आनन्द, स्वच्छत्व, ऐश्वर्य, प्रभुत्वादि अनन्तानन्त गुणसमृद्धि का अचिन्त्य भण्डार है।

समरसमय अचिन्त्य दशा है।

अहा! जहाँ अतीन्द्रिय-आनन्दरूप अमृत का भोजन करते हों ऐसी समरसमय अचिन्त्य मुनिदशा का तो कहना ही क्या! वे तो चलते-फिरते सिद्ध हैं। मुनिराज की परिणति में समतारूपी-वीतरागतारूपी-रस निरन्तर झर रहा है। भावलिङ्गी सन्त की अन्तर्दशा में तो समतारस की फुहारें छूट रही हैं, परन्तु शरीर की नग्नता भी निर्विकार तथा अन्तर के समतारस के, वीतरागरस के, प्रतिबिम्बरूप सुशोभित होती है। मुनिराज की साधनामय पवित्र परिणति कोई अद्भुत होहती है। उन्हें आत्मा के असंख्य प्रदेश में

चारित्र्यगुण समतारूपी रस-वीतरागतारूपी अतीन्द्रियरस - सर्व गुणों के परिणमन में एकाकार हो गया है। उनको आनन्दगुण भी अनन्त गुणों के परिणमन में एकाकार होकर परिणमता है। आनन्द से सराबोर अनन्त गुणों की निर्मल पर्यायें-आनन्द से भरपूर अमृतभोजन के थाल-अन्तर में भरी हैं, उनका मुनिराज निरन्तर उपभोग करते हैं। ऐसी है विकल्पमय विषमतारहित समतारसमय अचिन्त्य अद्भुत दशा। वास्तव में मुनिराज की दशा कोई अद्भुत है। इस काल में तो उसके दर्शन भी दुर्लभ हैं। ●

(वचनामृत प्रवचन, भाग-4, पृष्ठ-32)

वैराग्य महल के शिखर के शिखामणि

मुनिराज का वैराग्य तो कोई और ही होता है। 'मुनिराज तो वैराग्यमहल के शिखर के शिखामणि हैं।' वैराग्य का महल, उसका शिखर और उसके शिखामणि। अहाहा! अन्तर में वैराग्य एवं आनन्द की कैसी दशा!

नियमसार के टीकाकार मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव तो यहाँ तक कहते हैं कि मुनिराज अर्थात् स्ववश योगी को भूमिकानुसार किञ्चित् राग का मन्द अंश है, तथापि सर्वज्ञ-वीतराग में और उन स्ववश योगियों में कुछ भी भेद नहीं है; अरे रे! हम जड़ हैं कि उनमें भेद मानते हैं। सच्चे भावलिङ्गी सन्त की यह बात है। बाह्य द्रव्यलिङ्ग तो अनन्तबार धारण किया, नग्न हुआ, हजारों रानियाँ छोड़ीं — वह कोई वैराग्य नहीं है, वह कोई त्याग नहीं है।

भीतर पूर्णानन्दस्वभाव में जाने पर वहाँ स्वरूप की आसक्ति (लीनता) होती है और राग की आसक्ति छूट जाती है — ऐसा ज्ञान एवं वैराग्य ज्ञानी के अन्तर में वर्तता है।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, वचनामृत प्रवचन, २/१९८

बाहर आये नहीं कि अन्दर चले जाते हैं

विभावों में और पाँच परावर्तनों में कहीं विश्रान्ति नहीं है।

बेन में (वचनामृत में) अनेक बोल सूक्ष्म हैं। ब्रह्मचारी लड़कियों के सामने वे बोल सहज ही अन्तर के भावों से आये और उनका संग्रह हो गया। उन्हें समझने में थोड़ी देर लगे, लेकिन हैं समझने योग्य। विभावों में – पुण्य और पाप के भाव में, राग के विकल्प में और पाँच परावर्तनों में – जगत् के द्रव्यों के सम्बन्ध में, क्षेत्र के सम्बन्ध में काल के सम्बन्ध में, भव के सम्बन्ध में और शुभाशुभभाव के सम्बन्ध में—कहीं विश्रान्ति नहीं है। अरे! दया, दान, व्रतादि के परिणामों में भी कहीं विश्रान्ति में है। अहा! प्रभु का मार्ग ऐसा है। प्रभु तेरा स्वरूप ही ऐसा है। 'जैन' कोई सम्प्रदाय नहीं है, वह तो वस्तु का स्वरूप है। श्रीमद् कहते हैं —

जिन सोही है आत्मा, अन्य होई सो कर्म।
कर्म कटे सो जिनवचन, तत्त्वज्ञान को मर्म॥

यह किसी वाड़े की बात नहीं है, जीव स्वयं ही जिनस्वरूपी भगवान है। आता है ना! —

घट घट अन्तर जिन बसै, घट घट अन्तर जैन।
मत-मदिरा के पान सौं, मतवाला समुझै न।

जिन स्वरूप निज ज्ञायक आत्मा में श्रद्धा, ज्ञान करके स्थिर हो वह पर्याय में जिन होता है। यह वस्तु का स्वरूप है, यह कोई वाड़े की या सम्प्रदाय की बात नहीं है कि ऐसा करने से ऐसा होता है और ऐसा करने से ऐसा होता है। शुभभाव भी विभाव में आ जाता

है। भक्ति, पूजा, स्वाध्यायादि शुभभाव तथा व्यापार-धन्धा आदि अशुभभाव - उन सब विभावों में तथा द्रव्य-क्षेत्र-काल-भव-भावरूप पाँच परावर्तनों में कहीं विश्रान्ति-विराम नहीं है।

चैतन्यगृह ही सच्चा विश्रान्ति गृह है।

सहज ज्ञान एवं सहज आनन्दादि अनन्त गुणों का अभेद एक पिण्ड ऐसा जो निज चैतन्य प्रभु, वही वास्तव में विश्रान्ति लेने का सच्चा गृह है। ज्ञानानन्द स्वरूप निज घर ही विश्रान्ति का स्थान है।

**पर पद निज पद मानि मगन ह्वै, पर परिणति लिपटाये।
शुद्ध-बुद्ध-सुखकन्द-मनोहर, चेतन भाव न भाये।
हम तो कबहुँ न निज घर आये ॥**

रागादि परिणति पर घर और दुःख का स्थान है। पूर्ण ज्ञान, पूर्ण आनन्द ऐसा एक-एक गुण पूर्ण ऐसे अनन्त गुणों का-पूर्णरूप-निज चैतन्यघर ही विश्रान्ति का स्थान है। विश्रान्तिगृह भगवान आनन्दकन्द में स्थित है। वह तो अतीन्द्रिय आनन्द का पिण्ड है। प्रभु! इन्द्रिय विषयों में जो भी आनन्द लगता है, अच्छा लगता है-वह कल्पना तो भ्रम और दुःख है। अहा हा! स्वयं आनन्द का घर है ना! दुःखों की थकान उतारने का विश्रान्तिगृह तो निज आत्मा ही है ना! अहा! ऐसा उपदेश!

मुनिवर उसमें बारम्बार निर्विकल्परूप से प्रवेश करके विशेष विश्राम पाते हैं।

सम्यक्त्वी को अन्तर में बारम्बार एकदम निर्विकल्प उपयोग आये - ऐसा नहीं है। बहुत समय लगता है। मुनि जो कि सच्चे वीतरागी सन्त हैं वे, निज आनन्दधाम में बारम्बार निर्विकल्परूप से, अभेद परिणतिरूप से प्रवेश करके अधिकाधिक विश्रान्ति पाते हैं। अहा! मुनिपना किसे कहें प्रभु! श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव तथा श्री अमृतचन्द्राचार्यदेवादि वीतरागी सन्त बारम्बार निर्विकल्परूप से भीतर स्वरूप में प्रविष्ट होकर विशेष विश्राम पाते थे। आनन्द के धाम में विशेष विशेष स्थिरता करे उसे मुनि कहते हैं। जिसने निज विश्रान्तिगृह देखा है, अनुभव किया है, वह अब बारम्बार उसमें निर्विकल्परूप से जाना चाहता है। छठवें गुणस्थान में विकल्प आये परन्तु सीधे अन्तर में-जहाँ अतीन्द्रिय आनन्द

का पर्वत खड़ा है। वहाँ-बैठना, स्थिर होना चाहता है। समझ में आया कुछ ? एसा वीतरागमार्ग जैन परमेश्वर के सिवा अन्यत्र नहीं है। जैन कोई पक्ष नहीं है, वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है। यह वस्तुस्थिति जगत् के हाथ आना मुश्किल है।

अनन्त गुणों का धाम ऐसा जो निज ध्रुव परमात्मा उसमें विशेष स्थिरता करने के लिये मुनिराज बारम्बार लालायित हो रहे हैं - 'अरे ! अपने स्वरूपगृह के बाहर इन महाव्रतों के, अट्टाईस मूलगुणों के, देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा के तथा देव-गुरु के प्रति विनय के विकल्पों में मैं कहाँ आ गया ? मेरा धर्म का स्थान, विश्राम का स्थान, आनन्द का धाम तो अन्तर में है। मेरा देश-आनन्द का देश अन्तर में है। पुरुषार्थ की अशक्ति के कारण उसमें से बाहर आने का यह जो विकल्प उठता है, वह तो दुःख है।' अहा ! मार्ग बहुत सूक्ष्म है, जगत् के साथ मेल होना मुश्किल है।

मुनि बारम्बार निर्विकल्परूप से प्रवेश करते हैं किन्तु काहे में ? कि निज आनन्दस्वरूप में। निर्विकल्परूप से निज स्वरूप में जाकर विशेष विश्राम, विशेष आनन्द प्राप्त करे उसे मुनि कहते हैं। मुनि तो पञ्च परमेष्ठी में आनेवाले परमेश्वर हैं। जो अन्तर में परमेश्वर-स्वभाव में दृष्टि करके स्थिर होता है, वह पर्याय से अन्तर में परमेश्वर है। राग को छोड़ूँ - ऐसा विकल्प भी उन्हें नहीं रुचता, तथापि पुरुषार्थ की हीनता के कारण आ जाता है परन्तु वहाँ से हटकर निज विश्राम स्थान में जाते हैं; वहाँ 'राग को छोड़ूँ' - ऐसा विकल्प भी नहीं है। सम्यग्दर्शन युक्त मुनिपना है; इसलिए वे बारम्बार स्वरूप में विशेष प्रविष्ट हो जाते हैं।

बाहर आये नहीं कि अन्दर चले जाते हैं।

अहा ! मुनि अर्थात् चारित्र; चारित्र अर्थात् मोक्ष का कारण। जिसके अन्तर में ऐसी धन्य चारित्रदशा प्रगट हुई है, वह निर्विकल्परूप से रमने, जमने, जीमने, जम जाने के लिए बारम्बार अन्तर में जाता है। पुरुषार्थ की कर्मी के कारण बाहर आना हो जाता है किन्तु बाहर आये-न आये कि फिर अन्दर चले जाते हैं। अहा ! मार्ग तो ऐसा है। जैन के सम्प्रदाय में जन्म हैं, उन्हें इस बात की खबर तक नहीं है। ● (वचनमृत प्रवचन, 2/134)

क्यों होते हैं मुनिदशा में शुभभाव

अब मुनिराज की बात कहते हैं।

निजस्वरूपधाम में रमनेवाले मुनिराज को भी पूर्ण वीतरागदशा का अभाव होने से विविध शुभभाव होते हैं - उनके महाव्रत, अट्टाईस मूलगुण, पञ्चाचार, स्वाध्याय, ध्यान इत्यादि सम्बन्धी शुभभाव आते हैं तथा जिनेन्द्रभक्ति-श्रुतभक्ति-गुरुभक्ति के उल्लासमय भाव भी आते हैं।

निज सुखस्वरूप धाम में निवास करनेवाले मुनिराज को भी अनेक प्रकार के शुभभाव आते हैं। यहाँ 'भी' शब्द क्यों आया? कि - चौथे गुणस्थान में अविरति सम्यग्दृष्टि को और पाँचवें गुणस्थान में देशविरति श्रावक को तो अन्तर में ज्ञातृत्वधारा सतत वर्तती होने पर भी, उस-उस भूमिका के योग्य शुभभाव आते हैं परन्तु मुनिराज स्वरूप स्थिरता में आगे बढ़ गये हैं। इसलिए उनके शुभभाव बिलकुल नहीं होता - ऐसा नहीं है। तीन कषाय के अभाव जनित वीतरागता प्रगट होने पर भी अभी उन्हें पूर्ण वीतरागदशा प्रगट नहीं हुई है, इसलिए महाव्रत, समिति, सामायिक आदि षट् आवश्यक, पञ्चाचार, स्वाध्याय, ध्यानादि सम्बन्धी शुभभाव आते हैं।

अहा! मुनिराज किन्हें कहा जाता है? 'सुखधाम अनन्त सुसंत चहीं, दिन रात रहें तद् ध्यान महीं....' मुनिराज को तो मुख्यतः दो कार्य होते हैं - ध्यान और स्वाध्याय। पूर्ण वीतरागदशा का अभाव होने से उनको अट्टाईस मूलगुण आदि तथा सर्वज्ञ वीतराग, जिनेन्द्रदेव, आप्तप्रणीत वीतराग श्रुत एवं वीतराग निर्ग्रन्थ गुरु की भक्ति, उपासना आदि के उल्लासमय शुभभाव भी आते हैं। भूमिकानुसार ऐसे विविध भावों के समय भी उनको

निज शुद्धात्मद्रव्य के उग्र आलम्बनजनित मुनि योग्य उग्र ज्ञानधारा तो सतत चलती ही रहती है ।

सर्वत्र 'वीतरागता' ही जैनधर्म है । अविरत सम्यग्दृष्टि हो, देशविरत श्रावक हो या सर्वविरत मुनिराज हों, सर्वत्र भूमिका के योग्य शुभभाव होने पर भी परिणति में जितनी वीतरागता परिणमित हुई है, उतना धर्म है, साथ में वर्तता हुआ शुभराग वह कहीं धर्म या धर्म का परमार्थ साधन नहीं है । पहले सच्चे आत्मार्थी की और सम्यग्दृष्टि गृहस्थ की बात की, अब यहाँ निजस्वरूपधाम में रमनेवाले सर्वविरत मुनिराज की बात करते हैं ।

सुखनिधान निज ज्ञायक-उद्यान में रमनेवाले मुनिराज को भी अभी पूर्ण वीतराग सर्वज्ञदशा प्रगट नहीं हुई है; पूर्ण दशा तो अरहन्त परमात्मा को प्रगटी है । पूर्ण वीतराग दशा प्रगट नहीं है फिर भी, मुनिराज को वीतरागस्वभावी निज ज्ञायक भगवान के उग्र आलम्बन से अत्यन्त वीतरागता उत्पन्न हुई है । 'आत्मावलोकन' के 'गुरु-अधिकार' की गाथा में आता है न! कि —

वियरायं वियरायं जीयस्स णिय ससरूवो वियरायं ।

मुहु मुहु गणदि वियरायं, सो गुरुपयं भासदि सया ॥

जीव का निज स्वरूप वीतराग है - ऐसा जो बारम्बार कहते हैं वे ही सदा गुरुपद पर शोभते हैं । मुनिराज अपने को वीतरागरूप अनुभवते ही हैं परन्तु यदि दूसरों को उपदेश दें तो अन्य सब छोड़कर मात्र जीव के एक निज वीतरागस्वरूप का ही बारम्बार कथन करते हैं । उनको दूसरा कोई अभ्यास नहीं है, यह एक ही अभ्यास है । स्वयं भी अन्तरङ्ग में अपने को वीतरागरूप अभ्यासते हैं और बाह्य में भी जब बोलने का विकल्प आये तब 'आत्मा का स्वरूप वीतराग है' यही वचन बोलते हैं । इसी कारण उनको गुरुपदवी शोभती है, अन्य सरागी को नहीं । जिनके उपदेश में ऐसा आये कि व्रत, तप, भक्ति, स्वाध्यायादि शुभराग करने से धर्म होता है, वह मुनि नहीं है, धर्मी नहीं है, उसका उपदेश तत्त्व से विपरीत है । राग से भले ही वह शुक्ललेश्यारूप हो कदापि धर्म नहीं होता, क्योंकि वह तो आस्रव है, बन्ध का कारण है और धर्म तो संवर-निर्जरास्वरूप है तथा मोक्ष का कारण है; शुभ राग और धर्म - दोनों का स्वरूप परस्पर विपरीत है ।

राग और ज्ञान (धर्म) दोनों का स्वरूप अन्योन्य विरुद्ध होने पर भी साधक को ज्ञानी गृहस्थ तथा मुनिराज को भी, पूर्ण वीतरागदशा का अभाव होने से, भिन्न-भिन्न प्रकार के कभी व्रत के, कभी भक्ति के, पूजा के अथवा भगवत्स्मरण के, कभी अट्टाईस मूलगुण के, कभी पञ्चाचार में से ज्ञानाचार, दर्शनाचार, तपाचार तथा वीर्याचार के, कभी शास्त्रस्वाध्याय के और कभी तत्त्वचिन्तन एवं ध्यान के शुभभाव आते हैं। 'मैं ध्यान करूँ, मैं ध्रुव शुद्ध ज्ञायक हूँ' - ऐसे विकल्प भी आत्मा के शुद्धस्वरूप का विचार तक शुभराग, आस्रव और बन्ध का कारण है।

शुभराग आस्रव और बन्ध का कारण होने पर भी ज्ञानी धर्मात्मा को भी मुनिराज को भी जिनेन्द्रभक्ति, श्रुतभक्ति एवं गुरुभक्ति के उल्लासमयभाव, अन्तर में समस्त राग के प्रति हेयबुद्धि रखकर आते हैं, क्योंकि साधकदशा अभी अधूरी है, पूर्ण वीतरागता प्रगट नहीं हुई है। पूर्ण वीतराग को वन्द्य-वन्दक भाव नहीं होते। अरे! अप्रमत्तदशा होते ही बुद्धिपूर्वक के विकल्प का अभाव होने से वन्द्य-वन्दक का व्यवहार छूट जाता है परन्तु सविकल्प दशा में ज्ञानी गृहस्थ को 'वसुविधि अर्ध संजोयकै, अति उछाह मन कीन, जासौं पूजौं परमपद, देव-शास्त्र-गुरु तीन' - इस प्रकार पूजन सामग्री से और मुनिराज को भाव से जिनेन्द्रभक्ति, श्रुतभक्ति एवं गुरुभक्ति के उल्लासमय शुभभाव भी, अन्तर में ज्ञानधारारूप वीतराग परिणति की विशेष महिमा रखकर आते हैं।

निज स्वरूप धाम का क्षेत्र है असंख्य प्रदेशों में, परन्तु उसमें गुण हैं अपरिमित-अनन्त। प्रत्येक गुण का स्वभाव भी अनन्त है; ज्ञान अनन्त, दर्शन अनन्त, आनन्द अनन्त। जो स्वभाव हो उसे अन्त, मर्यादा, हद या सीमा नहीं होती। असीम स्वभावस्वरूप निज ज्ञायकधाम में रमनेवाले मुनिराज को भी, पूर्ण वीतरागस्वरूप परमात्मदशा प्रगट नहीं हुई है इसलिए भूमिकानुसार व्रतादि के तथा ध्यानादि के शुभभाव आते हैं। मिश्र भूमिका होने से शुद्धभाव का तथा थोड़ा शुभभाव का वेदन है, परन्तु वेदन का आलम्बन नहीं है। जिसका आलम्बन उसका वेदन नहीं और जिसका वेदन उसका आलम्बन नहीं। व्यवहार रत्नत्रयस्वरूप शुभभाव अवलम्बन लेने योग्य नहीं है, अवलम्बन लेने योग्य तो त्रिकालशुद्ध ज्ञायकस्वरूप निज चैतन्यधाम है।

हे जिनेन्द्र! आपके दर्शन होने से, आपके चरणकमल की प्राप्ति होने से, मुझे क्या नहीं प्राप्त हुआ ? अर्थात् आप मिलने से मुझे सबकुछ मिल गया। ऐसे अनेक प्रकार से श्री पद्मनन्दि आदि मुनिवरों ने जिनेन्द्र भक्ति के स्रोत बहाये हैं।

जिन्हें निज ज्ञायक परमभाव के उग्र आश्रय से अन्तर में तीन कषाय के अभावस्वरूप शुद्धता परिणमित हुई है - ऐसे श्री पद्मनन्दि आदि निर्ग्रन्थ मुनिवर भी, पर्याय में पूर्ण वीतरागदशा प्रगट नहीं होने से, उल्लसित भावपूर्वक जिनेन्द्रभक्ति के स्रोत बहाते हुए कहते हैं कि - 'हे जिनेन्द्र! हे वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा! आपके दर्शन होने से, आपके चरणकमल की प्राप्ति होने से, मुझे क्या प्राप्त नहीं हुआ ? अरे! आपके मिलने से मुझे सबकुछ मिल गया, जगत् की सर्वोत्कृष्ट वस्तु निज ज्ञायकदेव की प्राप्ति हो गई, स्वर्ग-मोक्ष का दाता मोक्षमार्ग मिल गया। हे नाथ! आपके चरणकमल की प्राप्ति होने से मुझे चौदह ब्रह्माण्ड का राज्य भी जिसके समक्ष तुच्छ है ऐसी, निजशुद्धात्मदृष्टि और वीतरागता की प्राप्ति हो गई; इससे विशेष मुझे और क्या चाहिए ? यह उल्लासमय भक्तिभाव है तो शुभराग, आस्रव और बन्ध का कारण, परन्तु साधकदशा में ऐसे भाव आये बिना नहीं रहते। अशक्तिभाव से पर्याय में उसका वेदन है परन्तु दृष्टि में उसका आलम्बन नहीं है। वेदन में सविकल्प दशा है उस समय भी अन्तर में आलम्बन तो त्रिकालशुद्ध ध्रुवज्ञायक का ही। पर्याय में चाहे तो शुभ का अथवा शुद्ध का वेदन हो, अरे! मुनिराज को कदाचित् अल्प आर्तध्यान और ज्ञानी श्रावक को अल्प रौद्रध्यान भी आ जाए, उस समय भी आलम्बन तो ध्रुव का ही है। शुभ, अशुभ या शुद्धपर्याय का वेदन है किन्तु आलम्बन नहीं है। साधना में मुख्यता पर्याय की नहीं किन्तु आश्रयभूत ध्रुव द्रव्यस्वभाव की है।

ऐसे-ऐसे अनेक प्रकार के शुभभाव मुनिराज को भी हठ बिना आते हैं। साथ ही साथ ज्ञायक के उग्र आलम्बन से मुनियोग्य उग्र ज्ञातृत्वधारा भी सतत् चलती ही रहती है।

मैं मुनि हूँ इसलिए मुझे व्रत-तप, जिनेन्द्रभक्ति-स्तवन तथा स्वाध्याय-ध्यानादि शुभभाव करना चाहिए, ऐसे भाव नहीं करूँगा तो मेरी दुर्गति होगी, पापकर्म का बन्धन होगा, प्रतिष्ठा में हानि होगी - ऐसे हठपूर्वक नहीं, परन्तु सहजरूप से ऐसे अनेक प्रकार के शुभभाव भूमिकानुसार मुनिराज को भी आते हैं। अविरत सम्यग्दृष्टि, देशविरत श्रावक

या सर्वविरत मुनिराज – सबको अपनी-अपनी भूमिकानुसार वीतराग देव-शास्त्र-गुरु की महिमा के तथा अन्य अनेक प्रकार के जो शुभभाव आते हैं, वे सहजरूप से बिना हठ के आते हैं। शुभभाव के समय भी अन्तर में उन्हें उनके प्रति कर्तृत्वबुद्धि या उपादेयबुद्धि नहीं है। उस समय भी साथ-साथ ज्ञायक के आलम्बनस्वरूप ज्ञातृत्वधारा तो अन्तर में भूमिकानुसार सतत चल ही रही है।

साधक का परिणमन मिश्रभावरूप है, जितना ज्ञायक के आलम्बनस्वरूप है उतनी ज्ञानधारा है और जितना उदय के अनुरूप-शुभाशुभभावरूप है, उतनी कर्मधारा है। ज्ञानी मुनिराज को सतत वर्तती निजस्वरूप के उग्र आलम्बनस्वरूप ज्ञातृत्वधारा के साथ जो अनेक प्रकार के शुभभाव आते हैं, वे हठ के बिना, सहजरूप से आते हैं परन्तु उनके प्रति कर्तृत्व, स्वामित्व या उपादेयपना अणुमात्र भी नहीं है। ज्ञानी को प्रत्येक भाव में जो ज्ञानधारा है वह धर्मधारा है और जो कर्मधारा है वह अधर्मधारा है। शुभ और अशुभभाव दोनों अधर्मधारा है और मात्र एक शुद्धभाव ही धर्मधारा है। अरे रे! लोगों को यह बात कठिन लगती है, इसलिए विरोध करते हैं और कहते हैं कि 'सोनगढ़ निमित्त और शुभभावों से धर्म होता है – ऐसा नहीं मानता।' जो निमित्त से और राग से धर्म मानते हों उनकी दृष्टि में सोनगढ़ की बात विरुद्ध लगेगी – यह बात सच्ची है। भाई! निमित्त से और शुभराग से कभी धर्म नहीं होता, धर्म तो त्रिकाल वीतरागस्वरूप निर्विकल्प निज ज्ञायक भगवान आत्मा के अन्तर्मुख आलम्बन से ही होता है; निज स्वभाव के आलम्बन बिना अन्य किसी उपाय से धर्म नहीं होता।

ज्ञानी को अन्तर में धर्मपरिणति के साथ-साथ भूमिकानुसार शुभाशुभ विभावभाव आते हैं; चौथे गुणस्थान में देव-शास्त्र-गुरु के प्रति महिमा के तथा विषय के और व्यापार-धन्धे के, पाँचवें गुणस्थान में अणुव्रतादि के और विषय-वासना के तथा छठवें गुणस्थान में मुनिराज को व्रत-तप के तथा कदाचित् आर्तध्यान के भाव आते हैं, उस समय भी सबको अपनी-अपनी भूमिकानुसार अर्थात् मुनिराज के अन्तर में ज्ञानधारा अति विशेष है, गृहस्थ श्रावक को उनकी अपेक्षा अनन्तवें भाग है। सम्यग्दृष्टि राजा युद्ध में हो उस समय भी उसके अन्तर में सम्यग्दर्शन-ज्ञानधारा चलती ही रहती है। अहा! ऐसा है वीतराग का

मार्ग ! लोगों को इसमें एकान्त लगता है, क्योंकि इसमें व्रतादि की क्रिया तथा शुभभाव धर्म या धर्म का कारण है - ऐसा नहीं आता। भाई ! यह मान्यता तो अनादिकालीन मिथ्यात्वशल्य है। ऐसी क्रियाएँ और शुभराग तो जीव पूर्व में अनन्तबार कर चुका है, वह कुछ अपूर्व नहीं है। अपूर्व तो निज शुद्ध ज्ञायकस्वभाव के आश्रय से वीतरागी ज्ञानधारा प्रगट करना है। मुनिराज को तो स्वभाव का आश्रय उग्ररूप से वर्तता होने के कारण भले ही अनेक प्रकार के शुभभाव हठरहित आते हैं, तथापि साथ ही साथ ज्ञायक के प्रचुर एवं प्रबल आलम्बन से मुनियोग्य उग्र ज्ञातृत्वधारा भी सतत् चलती ही रहती है।

साधक को-मुनि को तथा सम्यग्दृष्टि को श्रावक को जो शुभभाव आते हैं, वे ज्ञातृत्वपरिणति से विरुद्धभाववाले होने के कारण उनका आकुलतारूप से-दुःखरूप से वेदन होता है, हेयरूप ज्ञात होते हैं, तथापि उस भूमिका में आये बिना नहीं रहते।

भगवान ज्ञायक आत्मा वीतरागतारूप अमृत का सागर है, उसके अवलम्बन से परिणति में जो वीतरागता हुई वह तो अकषाय आनन्द की धारा है। साधक को-मुनि को, श्रावक को तथा अविरति सम्यग्दृष्टि को-ज्ञातृत्व परिणति मन्द होने से, साथ जो शुभभाव होते हैं, वे अकषाय आनन्दधारा से विरुद्ध स्वभाववाले होने के कारण आकुलतारूप-दुःखरूप से वेदन में आते हैं, हेयरूप ज्ञात होते हैं, तथापि वे भूमिका में आये, बिना नहीं रहते। अरे ! सोनगढ़ की (पूज्य गुरुदेव की) बात लोगों को कठिन लगती है, परन्तु भाई ! यह बात सोनगढ़ की है या भगवान के घर की ? भगवान ने तो प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान आदि शुभभावों को विषकुम्भ कहा है, अमृत का कुम्भ तो आनन्दामृतसागर निजज्ञायक ऐसे स्वभाव के अवलम्बन से प्रगट होनेवाली निर्मल ज्ञानधारा को कहा है।

ज्ञानी को जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और स्वरूपरमणतारूप चारित्र है, वह अमृतधारा है; उसे जो शुभभाव आते हैं वे रागस्वरूप होने से विरुद्ध स्वभाववाले हैं, विषधारा हैं। लोग तो अरे ! उपदेशक साधु, त्यागी और पण्डित भी विरुद्धस्वभाववाले शुभभावों से लाभ होता है, धर्म होता है - ऐसा मानते और मनवाते हैं। प्रभु ! यह तुझे शोभा नहीं देता। शुभभावरूप मलिनभावों से शुद्ध भावरूप निर्मलता प्रगट होती है - ऐसा मानना और मनवाना तुझे शोभा नहीं देता भाई ! शुभभाव तो आकुलता हैं और आकुलता दुःख है। दुःखरूप भाव तो अनाकुल सुखरूप ज्ञातृत्वपरिणति से विरुद्ध हैं। मुनिराज को, श्रावक को या सम्यक्त्वी

को, निराकुल ज्ञातृत्वपरिणति से विरुद्धस्वभाववाले होने पर भी विविध शुभभाव आते हैं परन्तु उनका वेदन दुःखरूप होता है, हेयरूप लगते हैं। ज्ञानी को भी निचली दशा में उतना राग-दुःख का वेदन कथञ्चित् है। ज्ञानी को दुःख का वेदन सर्वथा नहीं होता – यह बात बराबर नहीं है। जब तक पूर्ण वीतरागता प्रगट नहीं हुई हो तब तक ज्ञानी को-मुनिराज को भी शुभराग आता है परन्तु उसका दुःखरूप वेदन होता है, वह हेयरूप लगता है।

पूर्ण शुद्धदशा प्रगट नहीं हुई हो तब तक मिश्रधारारूप साधकदशा में जो वीतरागता परिणमित हुई है, वह अनाकुल आनन्दरूप है और अस्थिरता का जो राग शेष रह गया है वह आकुलतारूप-दुःखरूप है। क्षपकश्रेणी में भी जो अबुद्धिपूर्वक राग है वह दुःखरूप है। शुभ हो या अशुभ हो, राग मात्र ज्ञातृत्वपरिणति से विरुद्धस्वभाववाला होने से दुःखरूप है। ज्ञानी को शुभभावों का दुःखरूप वेदन होता है, हेयरूप लगते हैं; एकमात्र निज ज्ञायकस्वभाव के आलम्बन से प्रगट हुई ज्ञातृत्वधारा ही सुखरूप तथा उपादेयरूप वेदन में आती है और लगती है। ज्ञायक के आलम्बन से जो ज्ञानधारा प्रगट हुई उसका वेदन सुखरूप है और उसके साथ जो व्रतादि का शुभभाव आया – कर्मधारा, उदयधारा प्रगट हुई, उसका वेदन ज्ञानधारा के विरुद्ध दुःखरूप-आकुलतारूप है।

धर्मी को शुभराग आता है परन्तु 'यह राग-आग दहै सदा' – इस न्याय से वह भट्टी समान दुःखरूप लगता है। राग की एकता तोड़कर और स्वभाव की एकता करके जिसने पर्याय में अंशतः वीतरागता एवं निर्विकल्प आनन्द प्रगट किया है, उसे मिश्रभावरूप पर्याय के एक भाग में, अस्थिरता के कारण, राग और दुःख भी है।

यहाँ साधक की बात ली है न! मुनि, श्रावक और सम्यक्त्वी – तीनों साधक हैं। अहा! भाषा सादी और माल उच्च प्रकार का! जो भी इन्हें (बहिनश्री के वचनामृत) पढ़ता है उसे ऐसा लग जाता है कि 'अहाहा! बड़ी सरस बात है।' यह वस्तु तो प्राकृतिकरूप से सहज ही आ गई है। यहाँ तो ऐसा कहना है कि साधक को पूर्ण वीतरागदशा के अभाव में व्रत, तप, भक्ति, स्वाध्याय, आदि के विविध शुभभाव आते हैं परन्तु वे त्रिकालशुद्ध ज्ञायक के आश्रय से प्रगट हुई ज्ञातृत्वपरिणति से विरुद्ध स्वभाववाले – राग स्वभाववाले होने से उनका आकुलतारूप से-दुःखरूप से वेदन होता है, हेयरूप लगते हैं। वे बिना हठ

के उस प्रकार के राग का आना वह, सराग भूमिका का स्वरूप है। छहढाला में आता है न! कि —

**मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रीवक उपजायो,
पै निज आतमज्ञान बिना, सुख लेश न पायो ॥**

इसका अर्थ क्या हुआ? कि अनन्तबार पञ्च महाव्रत धारण किये, अट्टाईस मूलगुणों का निर्दोष पालन किया परन्तु उनसे पुण्यबन्ध हुआ, स्वर्ग में गया परन्तु निज आतमज्ञान के बिना अंशमात्र भी सुख प्राप्त नहीं कर सका। इसलिए सिद्ध हुआ कि महाव्रतादि शुभभाव शुद्धज्ञानपरिणति से विरुद्ध स्वभाववाले होने से दुःखरूप हैं, मात्र आत्मज्ञान अर्थात् ज्ञातृत्वपरिणति ही सुखरूप है।

अहा! ऐसा निरालम्बी तत्त्व वह पर के तथा विभाव के आलम्बन से प्रगट नहीं होता। अन्य के आलम्बन से तो कदापि नहीं, किन्तु वीतराग देव-शास्त्र-गुरु के आलम्बन से तथा शरीर द्वारा यावज्जीवन व्रत और ब्रह्मचर्य पालन के शुभभावों से भी सम्यक्त्व नहीं होता; क्योंकि शरीर की क्रिया तो जड़ है और शुभभाव तो राग है। शरीरादि जड़ से भिन्न तथा रागादि विभाव से रहित त्रिकालशुद्ध वीतरागमूर्ति जिनस्वरूपी ज्ञायक प्रभु जो अन्तर में पारिणामिकभाव से सदा विराजमान है, उसके आलम्बन से ही परिणति में वीतरागभाव प्रगट होता है। अपने वीतरागस्वभाव के अवलम्बन बिना, पर के अवलम्बन से तो रागादि विभाव ही होते हैं। साधक को, अधूरी भूमिका है इसलिए राग-श्रावक को अणुव्रतादि के तथा मुनिराज को महाव्रतादि के शुभभाव आता है परन्तु वह साधनामय ज्ञानपरिणति से विरुद्ध स्वभाववाला होने के कारण आकुलतारूप से-दुःखरूप से वेदन में आता है, हेयरूप वर्तता है।

ज्ञानी धर्मात्मा को-गृहस्थ हो या मुनि हो, जिनसे तीर्थङ्कर नामकर्म बँधे ऐसे दर्शनविशुद्धि, विनयसम्पन्नतादि शुभभाव आते हैं परन्तु उनका वेदन दुःखरूप-आकुलतारूप है, क्योंकि शुभभाव तो आस्रव और बन्ध का कारण है, उनसे धर्म अर्थात् वीतरागपरिणति नहीं होती। निश्चय से तो वह शुभराग पुण्य है-अधर्म है; धर्म तो अबद्ध द्रव्यस्वभाव के आलम्बन से जो अबद्ध परिणाम-वीतराग दशा हो वह है। सम्मेदशिखर आदि तीर्थों की यात्रा का भाव भी शुभराग है, दुःख है। 'एकबार वन्दे जो कोई, ताहि नरक-पशुगति नहिं

होई' परन्तु उसमें क्या ? शुभभाव हो तो मनुष्यादि भव मिलेंगे, उनसे कहीं भव का अभाव नहीं होगा। रागभाव शुभ हो या अशुभ हो वह आग है, भट्टी है। शुभराग को भट्टी कहा वहाँ एक भाई भड़क उठे। वे कहने लगे कि 'ज्ञानी राग को-दुःख को वेदते हैं या छेदते हैं ?' ज्ञानी राग का-दुःख का वेदन नहीं करते छेदन करते हैं। भाई ! ज्ञानी को राग का स्वामित्व या कर्तृत्व नहीं है परन्तु जब तक पूर्ण वीतरागता प्रगट नहीं हुई तब तक अस्थिरताजनित राग का वेदन ज्ञानी को भी होता है, स्वरूपस्थिरता का विशेष पुरुषार्थ अन्तर से सहज हो तब राग का छेदन होता है। यहाँ बहिन के बोल से स्पष्ट कहा है कि साधक को जो शुभभाव आते हैं, वे ज्ञातृत्वपरिणति से विरुद्ध स्वभाववाले होने के कारण, आकुलतारूप से-दुःखरूप से वेदन में आते हैं, हेयरूप लगते हैं, तथापि भूमिकानुसार वे आये बिना नहीं रहते। मुनिराज को भी जितना रागरूप परिणमन है उतना दुःखरूप वेदन है। 'पुरुषार्थसिद्ध्युपाय' में कहा है कि जितनी रागादि विभावभावों की उत्पत्ति है, उतनी स्वरूपहिंसा है, रागादि की अनुत्पत्ति ही अहिंसा, अनाकुलता और सुख है। अहा ! वीतराग की ऐसी बातें हैं।

आनन्द का पूर्ण वेदन परमात्मा को, दुःख का पूर्ण वेदन मिथ्यादृष्टि को होता है, साधक को-मुनि को भी आनन्द का पूर्ण वेदन नहीं है, जितना शुभरागांश है उतना दुःख है। परमात्मा को अंशमात्र दुःख नहीं है, मिथ्यादृष्टि को अंशतः भी सुख नहीं है। साधक को, दशा में अपूर्णता होने से, अभी बाधकपना है। जितना बाधकभाव-शुभराग है, उतना दुःख है। यहाँ स्पष्ट कहा है कि अनेक प्रकार के शुभभाव मुनिराज को भी बिना हठ के आते हैं परन्तु वे अन्तर में सतत वर्तती हुई उग्र ज्ञातृत्वधारा से विरुद्ध स्वभाववाले होने से आकुलतारूप से-दुःखरूप से वेदन में आते हैं। अहा, यह वाणी ! 'द्रव्यदृष्टिप्रकाश' से भी यह (बहिनश्री के वचनामृत) ऊँची वस्तु है। इसमें तो अकेला माल-सार ही भरा है।

साधक की दशा एक साथ त्रिपटी (तीन विशेषताओंवाली) है - एक तो, उसे ज्ञायक का आश्रय अर्थात् शुद्धात्मद्रव्य के प्रति जोर निरन्तर वर्तता है, जिसमें अशुद्ध तथा शुद्ध पर्यायांश की भी उपेक्षा होती है; दूसरा, शुद्ध पर्यायांश का सुखरूप वेदन होता है और तीसरा, अशुद्ध पर्यायांश - जिसमें व्रत, तप, भक्ति आदि शुभभावों का समावेश है उसका दुःखरूप से, उपाधिरूप से वेदन होता है।

अहा! असली माल आया है! ज्ञानी धर्मात्मा की साधना में एक साथ तीन विशेषताएँ हैं। एक महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि उसे ज्ञायक का आश्रय अर्थात् निज शुद्धात्मद्रव्यसामान्य की ओर का बल 'मैं मात्र शुद्ध ज्ञायक हूँ, पर का कर्ता-हर्ता-धर्ता या स्वामी नहीं हूँ तथा शुभाशुभ विभाव मेरा स्वभाव हैं' ऐसा सानुभव श्रद्धा का बल-उपयोग अन्तर में हो बाह्य में-सदैव सतत् वर्तता है। भगवान आत्मा को उसके स्व-पर प्रकाशक असाधारण ज्ञानस्वभाव की प्रधानता से 'ज्ञायक' कहा है। ज्ञानी को युद्ध या विषयवासना के समय भी ध्येयभूत-आलम्बनभूत-ध्रुव ज्ञायक का जोर एक क्षण भी हटता नहीं है। अहा! अजर प्याला है! अजर-अमर हो जाने की बातें हैं। सतत वर्तते हुए निज शुद्ध द्रव्याश्रित बल के समय ज्ञानी को दशा में अंशतः शुद्धतारूप ज्ञानधारा और अंशतः शुभाशुभरूप कर्मधारा भी वर्तती है परन्तु उसे उन दोनों पर्यायरूप अंशों की उपेक्षा होती है, उनका आलम्बन या उनके प्रति आश्रयरूप बल नहीं होता।

द्रव्यदृष्टि प्रगट होने पर साथ जो ज्ञान, आनन्दादि सर्व गुणांश-शुद्धता-पर्याय में प्रगट हुआ है उसकी भी उपेक्षा है, पर्यायांश का आश्रय, आलम्बन या आदर नहीं है, आदर ने जोर तो मात्र एक निज त्रिकालशुद्ध ध्रुव ज्ञायकभाव का ही है; एक क्षण भी ज्ञायकभाव की ओर का आश्रय (जोर) हट जाय तो साधक की साधना ही छूट जाए, मिथ्यादृष्टि हो जाए। अहा! ऐसा है वीतराग का मार्ग! वीतराग का मार्ग अर्थात् जिनस्वरूप निज प्रभु का-ज्ञायक द्रव्य का- भाई! लोगों ने तो अरे! आज के उपदेशकों ने भी-राग में धर्म मनवा लिया है। वे कहते हैं कि सम्यग्दर्शन की हमें खबर नहीं पड़ती, इसलिए बाह्यक्रिया-व्रत, तप, उपवास, सामायिकादि करो, धर्म हो जाएगा। भाई! 'सम्यग्दर्शन की खबर नहीं पड़ती' - यही बतलाता है कि तू अभी मिथ्यात्व में पड़ा है; मिथ्यादृष्टि को अंशतः भी धर्म नहीं होता।

यहाँ तो कहते हैं धर्मात्मा को अपने ध्रुव ज्ञायक प्रभु के आश्रयरूप जो सतत जोर वर्तता है, उसकी उसे खबर पड़ती है, उसे ध्रुव स्वभाव के आलम्बन से पर्याय में जो शुद्धता प्रगट हुई है, उसका अतीन्द्रिय वेदन भी होता है परन्तु उस प्रगट हुई शुद्धता और शेष रही अशुद्धता - दोनों पर्यायांश के प्रति उपेक्षा वर्तती है। चारित्र भी द्रव्यस्वभाव के विशेष आलम्बन से प्रगट होता है; द्रव्यदृष्टि में उसका (चारित्र का) आश्रय नहीं है,

अवलम्बन नहीं है; अवलम्बन और आश्रय तो प्रारम्भ से अन्त तक एक मात्र त्रिकालशुद्ध निजज्ञायक ध्रुवस्वभाव का ही है। ध्रुव पर बाँधी हुई दृष्टि की डोर कभी हटती नहीं है।

साधक को एक साथ वर्तती हुई त्रिपटी दशा में दूसरी विशेषता यह है कि पर्याय में ध्रुव स्वभाव के आश्रय से प्रगट हुई शुद्धता का सुखरूप वेदन होता है, और तीसरी विशेषता यह है कि अशुद्धपर्यायांश, जिसमें व्रत, तप, पूजा, भक्ति, शास्त्रस्वाध्याय आदि शुभभावों का समावेश होता है, उसका दुःखरूप से, उपाधिरूप से वेदन होता है। यहाँ अशुद्धता में शुभभाव की मुख्यता से कहा है, वैसे ज्ञानी गृहस्थ को पर्याय में वर्तते हुए समस्त अशुभ तथा शुभभावों का दुःखरूप वेदन होता है।

साधना के आश्रयभूत भगवान ज्ञायक आत्मा का ध्रुवस्वभाव बिलकुल पूर्ण वीतरागस्वरूप है, उसमें राग का कण भी नहीं है; उसके अवलम्बन से प्रगट होनेवाली साधकदशा वीतरागभाव का अंश है और ध्रुवस्वभाव के परिपूर्ण आश्रय से प्रगट होनेवाली दशा भी पूर्ण वीतरागता एवं केवलज्ञानस्वरूप है। इस प्रकार तीनों में – आश्रय में, साधकदशा में और साध्यदशा में मात्र वीतरागता ही आती है। साधकदशा में अंशतः वीतरागता के साथ, अल्प रागांश है परन्तु वह दुःखरूप से तथा हेयरूप से वेदन में आता है। साधक को पर्याय में जो अशुद्धता है वह कर्तव्य की अपेक्षा से उपादेय होने पर भी आश्रय-अपेक्षा से उसकी बिलकुल उपेक्षा है, क्योंकि शुद्धपर्याय के आश्रय से भी नवीन शुद्धता प्रगटती या बढ़ती नहीं है, मात्र ध्रुव द्रव्यस्वभाव के आश्रय से ही पर्याय में शुद्धता की प्रगटता, स्थिरता, वृद्धि एवं पूर्णता होती है। अहाहा! यह त्रिपटी का कितना सुन्दर वर्णन है! यह बात अनेकों बार कही जा चुकी है परन्तु बहिन ने यहाँ यह बात थोड़े शब्दों में बिलकुल सदी भाषा में कही है। ज्ञानी को निरन्तर ज्ञायक का आश्रय (जोर) होता है; शुद्ध और अशुद्ध पर्याय की उपेक्षा होने पर भी उसका वेदन है, शुद्धता का सुखरूप वेदन होता है और अशुद्धता का दुःखरूप। अहा! वस्तु का ऐसा स्वरूप है।

साधक को शुभभाव उपाधिरूप लगते हैं – इसका ऐसा अर्थ नहीं है कि वे भाव हठपूर्वक होते हैं।

क्या कहते हैं? जिसे त्रिकालशुद्ध निज ध्रुवज्ञायक द्रव्य सामान्य के आश्रय से

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, स्वरूपरमणता और अतीन्द्रिय आनन्द आदि निर्मल दशा प्रगट हुई हैं - ऐसे साधक जीव को जो दया, दान, व्रत, तप, पूजा, भक्ति एवं स्वाध्यायादि शुभभाव आते हैं, वे उपाधिरूप लगते हैं, उसका अर्थ ऐसा नहीं है कि वे शुभभाव हठपूर्वक होते हैं। साधक को स्वभावाश्रित जो रत्नत्रयरूप शुद्धता वर्तती है, वही मोक्षमार्ग है, साथ में जो हठ बिना शुभभाव वर्तते हैं वे कोई मोक्षमार्ग नहीं है। 'एक होय तीन काल में, परमारथ का पंथ।' तीनों काल वीतरागता वह एक ही मोक्षमार्ग है।

साधक कैसे होता है वह बात पहले कही, अब कहते हैं कि साधक को क्या होता है? भगवान आत्मा रागादि विभाव से भिन्न है परन्तु एक समयवर्ती जो अधूरी-पूरी निर्मल पर्यायें उन जितना ही नहीं है; वह तो त्रिकालशुद्ध परिपूर्ण ज्ञायक द्रव्यसामान्य है। उसे दृष्टि में लेने से, उसी का आश्रय करने से सम्यग्दर्शन और सम्यग्चारित्रादि संवर-निर्जरारूप निर्मल पर्यायें धर्म प्रगट होती हैं। लोग तो, अरे! उपदेशक भी, दया-दानादि शुभभाव को धर्म तथा धर्म का कारण मानते हैं। अरे रे! धर्म की बात में बहुत फेर पड़ गया है; लेकिन क्या किया जाए? साधक को दया, दान, व्रत, तपादि के शुभभाव भूमिकानुसार आते अवश्य हैं परन्तु उसे वे भाव दुःखरूप से, उपाधिरूप से वेदन में आते हैं।

प्रश्न : ऐसा कहोगे तो कोई व्रतादि धारण नहीं करेगा ?

उत्तर : भाई! व्रतादि में बाहर की क्रिया तो कौन कर सकता है? जिसे अन्तर में स्वभाव के आश्रय से स्वरूपदृष्टि एवं स्वरूपस्थिरता परिणमित हुई है उस साधक जीव को निचली भूमिका में ऐसे शुभभाव दुःखरूप तथा उपाधिरूप लगते हैं तथापि आये बिना नहीं रहते। उपवास करूँ, भगवान की भक्ति करूँ आदि शुभभाव आते भी हैं और उपाधिरूप भी लगते हैं; उपाधिरूप लगते हैं उसका अर्थ ऐसा नहीं है कि वे शुभभाव हठपूर्वक होते हैं। भूमिका के अनुरूप ऐसे वे शुभभाव बिना हठ के सहजरूप से आते हैं।

यों तो साधक के वे भाव हठरहित सहजदशा के हैं, अज्ञानी की भाँति 'ये भाव नहीं करूँगा तो परभव में दुःख सहन करना पड़ेंगे'- ऐसे भय से जबरन कष्टपूर्वक नहीं किये जाते; तथापि वे सुखरूप भी ज्ञात नहीं होते।

साधक जीव को निज ज्ञायकस्वभाव के आश्रय से पर्याय में शुद्धता-वीतरागता-

परिणमित हुई है किन्तु पुरुषार्थ की अशक्ति होने से अभी पूर्ण वीतरागता प्रगट नहीं हुई। साधकदशा अधूरी होने के कारण मिश्रभावरूप है। एक ही परिणति में अंशतः शुद्धता (ज्ञानधारा) और अंशतः अशुद्धता (कर्मधारा) है। ज्ञानधारा के साथ वर्तती हुई कर्मधारा के अवयवरूप-भूमिका की उस-उस शुद्धि के साथ सुमेलवाले जो व्रतादि शुभभाव आते हैं, वे हठरहित सहज दशा के हैं। ज्ञायकभाव के आलम्बन के बल से परिणमित हुई साधनारूप अन्तरङ्ग शुद्धि के कारण साधक का जीवन ही-परिणमन ही - ऐसा सहज हो जाता है कि अपूर्णता के कारण वर्तते हुए विकल्प के काल में, उच्च भूमिका का पुरुषार्थ नहीं चलने के कारण तथा निचली भूमिका का अतिक्रमण कर लिया होने से, भूमिकानुसार विविध प्रकार के शुभभाव हठ के बिना सहज आते हैं। मुनिराज को गृहस्थोचित-अविरति के व्यापार-धन्धे के अथवा जिनेन्द्र-अभिषेक एवं द्रव्यपूजा के भाव, अन्तर में तीन कषाय के अभाव के बल से प्रगट हुई स्वरूपस्थिरतारूप सहज शुद्धि के कारण, उत्पन्न नहीं होने से तथा स्वरूपरमणता में पूर्णरूप से स्थिर हो जाने का पुरुषार्थ-अशक्ति के कारण चलता नहीं होने से, उनका जीववन ही ऐसा हो गया है कि उनको व्रत, तप, समिति, गुप्ति या ध्यानादि के विकल्प सहजरूप से उठते हैं। हठरहित सहजरूप से ऐसे शुभ विकल्प आते हैं तथापि वे हैं दुःखरूप और हेयरूप।

अहा! प्रारम्भ से अन्त तक सब बिलकुल स्पष्ट आया है। यह ऐसी असाधारण पुस्तक है कि बेड़ा पार हो जाए! अति संक्षेप में पूरा सत्य का संग्रह है। इस पूरी पुस्तक में इतना अधिक भरा है कि जो भी पढ़ता है वह कहता है कि 'अहा! ऐसा तत्त्व, फिर भी कैसी सादी भाषा! पुस्तक को छोड़ने का मन नहीं होता।' वैसे तो जिन्हें आग्रह हो उन्हें ऐसा लगेगा कि ऐसा क्यों? भाई! यह तो सहज अनुभव की वाणी है।

तथा, वे दुःखरूप तथा हेयरूप लगने पर (भूमिका के योग्य) शुभभाव, अज्ञानी की भाँति 'यह दया, दान, पूजा, भक्ति आदि के भाव नहीं करूँगा तो परभव में दुःख सहन करने पड़ेंगे' - ऐसे भय से जबरन कष्टपूर्वक आर्तध्यान हो। इस प्रकार किये नहीं जाते; तथापि ज्ञानी धर्मात्मा को वे सुखरूप भी नहीं लगते। वे शुभभाव खेदपूर्वक नहीं किये जाते और हठरहित सहज दशा के हैं, उसका अर्थ ऐसा नहीं है कि वे सुखरूप, धर्मरूप या मोक्ष

का कारण हैं। सुखरूप, धर्मरूप और मोक्ष का कारण तो तीनों काल एक शुद्ध वीतरागभाव ही है।

आजकल इस काल में शुभभाव ही होता है ऐसा उपदेशक दिगम्बर मुनि तक कहते हैं; इसलिए लोगों को यहाँ का सोनगढ़ का कथन असह्य लगता है। इतने कष्ट सहन करें, परीषह सहन करें वह धर्म नहीं? भाई! जहाँ निज ज्ञानानन्दसवभाव की प्रतीति नहीं है, स्वभाव के आश्रय से पर्याय में चिदानन्द का किञ्चित् विकास नहीं हुआ है वहाँ, यह सब कष्ट सहन करो तो करो परन्तु अंशमात्र भी धर्म नहीं है। समयसार के निर्जरा अधिकार में कहा है न! कि —

‘क्लिश्यन्तां च परे महाव्रततपोभारेण भग्नाश्चिरम्।... और अन्य कोई जीव महाव्रत तथा तप के भार से दीर्घ काल तक टूट मरते हुए क्लेश पाता है तो पाओ; परन्तु जो साक्षात् मोक्षस्वरूप है, रोगादि समस्त क्लेशरहित पद है और स्वयं संवेद्यमान है ऐसा यह ज्ञान तो ज्ञानगुण के बिना किसी भी प्रकार वे प्राप्त कर ही नहीं सकते। ज्ञान है वह साक्षात् मोक्ष है; वह ज्ञान से ही प्राप्त होता है, अन्य किसी क्रियाकाण्ड से उसकी प्राप्ति नहीं होती।’

ज्ञानी साधक जीव को महाव्रत तथा तपादि शुभभाव होते हैं परन्तु वे हठरहित सहज आते हैं, जबरन कष्टपूर्वक-खेदपूर्वक करना पड़ते हैं - ऐसा नहीं है। सहजरूप से आते हैं तथापि वे सुखरूप नहीं लगते। अहा! ऐसी बातें असह्य लगती हैं। वणिकों के हाथ में जैनधर्म आया, परन्तु वे घुस गये व्यापार के व्यूह में; जैनधर्म का यथार्थ स्वरूप क्या है उसका विचार करने का अवकाश भी नहीं मिलता। भाई! व्यापारादि की बाह्यक्रिया तो कोई आत्मा किञ्चित् भी नहीं कर सकता, अन्तर में ज्ञानानन्दस्वरूप त्रिकालशुद्ध तीन लोक के नाथ को निज ज्ञायक प्रभु को जागृत करना यही सर्व प्रथम धर्म है। व्यापारादि का राग तो कृत्रिम, विकार तथा ऊपरी वेश है, वह कहीं आत्मा के मूल स्वरूप में नहीं है, वह तो क्षणिक विकारी पर्याय है। ज्ञानी को पर्यायबुद्धि नहीं होती। उसे सहजरूप से हठरहित शुभभाव आते हैं, तथापि वे सुखरूप नहीं लगते।

शुभभावों के साथ-साथ वर्तती, ज्ञायक का अवलम्बन लेनेवाली जो यथोचित निर्मल परिणति वही साधक को सुखरूप ज्ञात होती है।

भूमिकानुसार हठरहित सहजरूप से वर्तते विविध शुभभावों के साथ-साथ वर्तती, निज शुद्धात्मद्रव्य सामान्य-ज्ञायक का अवलम्बन लेनेवाली जो यथोचित-अविरत सम्यग्दृष्टि, देशविरत श्रावक तथा सर्वविरत मुनिराज को उचित-साधनामय शुद्ध परिणति ही उस-उस साधक को सुखरूप लगती है। ज्ञानी धर्मात्मा को ज्ञानानन्दस्वरूप निज चैतन्य भगवान का अवलम्बन लेनेवाली यथोचित् निर्मल परिणति प्रगट हुई है, इसलिए स्वभाव-अवलम्बी वह निर्मल परिणति सुखरूप लगती है और जितना रागांश अभी शेष है उतना दुःख है। भगवान कहते हैं कि हम भी तेरे लिए परद्रव्य हैं। जितना देव-शास्त्र-गुरु आदि परद्रव्यों की ओर लक्ष्य जाता है उतना राग, दुःख तथा चैतन्य की दुर्गति है। मोक्षप्राप्त में कहा है न! कि —

परद्रव्य से होती दुर्गति, सुगति स्वद्रव्य से होय है;
यह जानकर, निज में रमो, परद्रव्य से विरक्त हो ॥ १६ ॥

प्रभु! तेरी प्रभुता में अतीन्द्रिय ज्ञान, शान्ति तथा आनन्दादि निधान भरे पड़े हैं; उन परदृष्टि देने से तेरी पर्याय में शान्ति एवं आनन्द का अंश प्रगट होगा। ज्ञानी को वह परिणति सुखरूप लगती है और साथ जो शुभराग आता है, वह दुःखरूप लगता है। अहा! ऐसी बात है। यह वस्तु अति दुर्लभ है। वैसे तो सहज है; क्योंकि अपना स्वरूप है न! परन्तु अभ्यास नहीं होने से दुर्लभ लगती है। अरे रे! क्या किया जाए? दुर्लभ है फिर भी इसे करना ही पड़ेगा।

जिस प्रकार हाथी के बाहर के दाँत-दिखाने के दाँत अलग होते हैं और भीतर के दाँत-चबाने के दाँत अलग होते हैं; उसी प्रकार साधक को बाह्य में उत्साह के कार्य-शुभ परिणाम दिखायी दें, वे अलग होते हैं और अन्तर में आत्मशान्ति का-आत्मतृप्ति का स्वाभाविक परिणामन अलग होता है।

हाथी के बाहर के, दिखाने के, शोभा के दाँत-दन्तशूल अलग होते हैं और भीतर के चबाने के दाँत अलग होते हैं; उसी प्रकार सम्यक्त्वी, श्रावक या मुनि को बाह्य में जो उत्साहजनित कार्य या शुभपरिणाम दिखाई दें वे अलग होते हैं और भीतर स्वभाव के आलम्बन से प्रगट हुई आत्मशान्ति का-आत्मतृप्ति का स्वाभाविक परिणामन अलग होता

है। शुभभाव के परिणमन से आत्मतृप्तिरूप शुद्ध परिणमन अलग होता है। अहा! दोनों एक समय में और मिश्रभावरूप एक ही दशा में? सूक्ष्म बात है भाई!

सर्वज्ञदेव ने जैन शासन में जो भगवान आत्मा कहा है उसकी यह बात है। अज्ञानी समझे बिना 'आत्मा-आत्मा' करता है, उसकी यह बात नहीं है। भगवान सर्वज्ञदेव ने जैसा आत्मा देखा और कहा है, वैसे अपने आत्मा को जब जीव देखता है तब अन्तर में आत्मशान्ति-आत्मतृप्ति का अनुभव होता है। वह शान्ति की धारा-ज्ञानधारा-ज्ञानी को सुखरूप लगती है। साथ में जो शुभराग आता है वह ऊपरी तथा दुःखरूप लगता है। साधक को, शुद्ध और शुभ दोनों परिणमन एक काल और एक दशा में होने पर भी, बाहरी उत्साह के कार्य एवं अन्तर में आत्मतृप्ति का स्वाभाविक परिणमन भिन्न होते हैं। आत्मतृप्ति सुखरूप लगती है और उत्साह के कार्य-शुभराग दुःखरूप लगते हैं।

बाह्य क्रिया के आधार से साधक का अन्तर नहीं पहिचाना जाता।

बाह्य में अज्ञानी कदाचित् पूजा, भक्ति, शास्त्रस्वाध्यायादि धर्म की क्रियाएँ करता दिखाई दे और ज्ञानी व्यापार, विवाहादि पाप की क्रियाएँ करता दिखे; अविरत सम्यग्दृष्टि कदाचित् धर्मश्रवण करता और देशवितर श्रावक विषयोपभोग करता दिखायी दे; श्रावक कदाचित् सामायिक की क्रिया करता दिखे और मुनिराज आहार करते दिखायी दें - इस प्रकार बाह्यक्रिया के आधार से अन्तरङ्ग परिणति का माप नहीं है। ज्ञानानन्द प्रभु के आश्रय से प्रगट हुई शुद्ध परिणति का ख्याल एकान्त बाह्यक्रिया के आधार से नहीं आ सकता। श्रीमद् ने भी कहा है न! कि महापुरुष के आचरण देखने की अपेक्षा उनका अन्तःकरण देखना वह विशेष परीक्षा है। बहिन ने भी ऐसा ही कहा है कि बाह्यक्रिया के आधार से साधक के अन्तर की पहिचान नहीं होती। अहा! यह बोल बड़ा है, इसमें अनेक गहरे भाव आ गये हैं। ●

(वचनमृत प्रवचन, भाग-4, पृष्ठ-106)



मुनिराजों की भूमिका में भक्ति का ज्वार

यहाँ (श्री प्रवचनसार प्रारम्भ करते हुए) कुन्दकुन्दाचार्य भगवान को पञ्च परमेष्ठी के प्रति कैसी भक्ति उल्लसित हुई है!

त्रिलोकीनाथ तीर्थङ्कर भगवान की वाणी के दिव्यध्वनिरूप प्रवचन के-साररूप 'प्रवचनसार' परमागम की रचना करते हुए उसके मङ्गलाचरण में भगवानश्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव को पञ्च परमेष्ठी के प्रति कैसा भक्तिभाव उल्लसित हुआ ! दिगम्बर सन्त श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव विक्रम संवत् ४९ में महाविदेहक्षेत्र में वर्तमान में विराज रहे श्री सीमन्धर भगवान के समवसरण में गये थे। सीमन्धर भगवान का शरीर पाँच सौ धनुष ऊँचा और आयु एक करोड़ पूर्व की है। दो हजार वर्ष पहले भी वे थे, वर्तमान में भी हैं और जब तक यहाँ आनेवाली चौबीसी के तेरहवें तीर्थङ्कर होंगे तब तक वहाँ विराजमान रहेंगे, पश्चात् शरीर त्याग कर 'सिद्ध' हो जाएँगे। वर्तमान में वे 'णमो अरिहंताणं' पद में हैं। यहाँ श्री महावीर भगवान आदि चौबीस तीर्थङ्कर 'णमो सिद्धाणं' पद को प्राप्त हो गये हैं; श्री सीमन्धर भगवान को अभी 'णमो सिद्धाणं' पद प्राप्त करने में देर लगेगी। उनके पास कुन्दकुन्दाचार्य गये थे, वहाँ आठ दिन रहे थे, वहाँ से आकर उन्होंने जिन शास्त्रों की रचना की उनमें से एक यह 'प्रवचनसार' शास्त्र है।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य नग्न दिगम्बर भावलिङ्गी महान् सन्त थे। जैन के साधु तीनों काल द्रव्य-भाव संयम के धारी नग्न दिगम्बर ही होते हैं। सनातन जैन श्रमणमार्ग में से भ्रष्ट होकर इस कलिकाल में दो हजार वर्ष पहले, वस्त्र-पात्र सहित मुनिपना स्थापित करनेवाले हुए। वास्तव में वस्त्र-पात्र सहित मुनिपना, वह वीतराग का मार्ग नहीं है, उन्मार्ग है।

अहा ! श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव को पञ्च परमेष्ठी के प्रति कैसी भक्ति उल्लसित हुई है ! श्रद्धा ज्ञान और स्थिरता में शुद्धात्मा ही जिनका मुख्य विषय है ऐसे स्वानुभवी सन्तों को भी अल्प रागयुक्त छद्मस्थ दशा है इसलिए गुणी पुरुषों-पञ्च परमेष्ठी के प्रति भक्ति का शुभ विकल्प तो आता है परन्तु साथ ही जानते हैं कि यह शुभ विकल्प भी राग है तथा बन्ध का कारण है, अशक्ति के कारण ऐसे भाव आते हैं । पञ्च परमेष्ठी में आत्मज्ञानी-ध्यान साधु भी परमेष्ठी हैं । प्रचुर स्वसंवेदनयुक्त-अतीन्द्रिय आनन्द के रसिक साधु को भी परमेष्ठी तथा भगवान कहा जाता है ।

पाँचों परमेष्ठी भगवन्तों का स्मरण करके भक्तिभावपूर्वक कैसा नमस्कार किया है!

जो आत्मानन्द के रसिक हों, जिनकी बाह्य दशा सहजरूप से नग्न हो गई हो और अन्तर में प्रचुर स्वसंवेदन में जिनके बारम्बार निर्विकल्पदशा आती हो, ऐसे वीतराग दिगम्बर जैन सन्त ही आचार्य, उपाध्याय और साधु परमेष्ठी में आते हैं । कुछ लोग तो ऐसा कहते हैं कि 'णमो लोए सव्वसाहूणं' में जैन तथा अजैन सभी साधु आते हैं । भाई ! अजैन साधु तो परमेष्ठी में धूल भी नहीं आ सकते; अरे ! आत्मज्ञान एवं स्वानुभव रहित जैन साधु वेशधारी भी 'णमो लोए सव्वसाहूणं' में नहीं आते । अहा ! अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु - पाँचों परमेष्ठी भगवन्तों का अपनी-अपनी भूमिकानुसार परम पद में स्थित पाँचों भगवन्तों का स्मरण करके भक्तिभावभीना कैसा नमस्कार किया है ।

तीनों काल के तीर्थङ्कर भगवन्तों को साथ ही साथ मनुष्यक्षेत्र में वर्तते विद्यमान तीर्थङ्कर भगवन्तों को अलग स्मरण करके - 'सबको एक साथ तथा प्रत्येक-प्रत्येक को मैं वन्दन करता हूँ' - ऐसा कहकर अति भक्तिभीने चित्त से आचार्य भगवान नम गये हैं।

आचार्यदेव कहते हैं कि 'तीनों काल के तीर्थङ्कर भगवन्तों को मैं वन्दन करता हूँ ।' षट् खण्डागम की 'धवला' टीका में श्री वीरसेनाचार्य ने कहा है कि 'णमो लोए सव्वसाहूणं' में जो 'लोए' और 'सव्व' शब्द है वह अन्तदीपक पद है इसलिए वह पूर्व के चारों परमेष्ठी को लागू होता है । वह इस प्रकार 'णमो लोए सव्व अरिहंताणं, णमो लोए सव्व सिद्धाणं,

णमो लोए सव्व आयरियाणं, णमो लोए सव्व उवज्झायाणं और णमो लोए सव्व साहूणं'; 'धवला' टीका में सव्व पद का स्पष्टीकरण करते हुए कहा है कि सर्व को अर्थात् त्रिकालवर्ती अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्या और साधु को नमस्कार हो। इसमें अन्य मत के साधु-बाधु नहीं आते। अरे रे! जैन में भी आजकल साधु के स्वरूप में अत्यन्त विकृति कर डाली है। क्या किया जाए? काल ही हलका है। आत्मज्ञान और स्वानुभूति के बिना भले ही बाह्य में नग्नदशा हो तथापि वह परमेष्ठी नहीं है, वन्दनीय नहीं है। मुनिदशा को उचित अन्तरङ्ग शुद्धि वन्दनीय है, व्रतादि के विकल्प या क्रिया वन्दनीय नहीं है। अहा! भारी फेरफार!

तीनों काल के तीर्थङ्कर भगवन्तों को और साथ-साथ मनुष्यक्षेत्र में विचरते विद्यमान तीर्थङ्कर भगवन्तों को-सबको एक साथ तथा प्रत्येक को भिन्न - मैं वन्दन करता हूँ - ऐसा कहकर आचार्य भगवान अति भक्तिभीने चित्त से झुक गये हैं। 'मंगलं कुन्दकुन्दाद्यो' अहा! वीर प्रभु के साथ तीसरे स्थान पर जिनका स्मरण किया जाता है वे आचार्यदेव भी पञ्च परमेष्ठी के प्रति भक्तिभीने चित्त से झुक गये हैं।

ऐसे भक्ति के भाव मुनि को-साधक को आए बिना नहीं रहते।

आचार्यदेव साधकदशा में हैं न! उनको अभी वन्द्यवन्दकभाव है। वीतराग सर्वज्ञ केवली को, सातवें गुणस्थान से ही वन्द्यवन्दकभाव का-विकल्प का अभाव हो जाने से, गुरु या भगवान आदि अन्य को वन्दन या विनय कहने के भाव कभी नहीं होते परन्तु छद्मस्थ साधक को विकल्पदशा में ऐसे भक्ति के भाव आए बिना नहीं रहते।

चित्त में भगवान के प्रति भक्तिभाव उछले तब, मुनि आदि साधक को भगवान का नाम आने पर रोम-रोम उल्लसित हो जाता है।

जिनको शरीरादि परद्रव्य से तथा रागादि विभाव से भिन्न निज शुद्धात्मा का श्रद्धान-ज्ञान हुआ है, अन्तर में आत्मा के अवलम्बन से अतीन्द्रिय आनन्द का, अपनी-अपनी भूमिकानुसार, अनुभव हुआ है ऐसे श्रमण, श्रावक और सम्यक्त्वी सब साधक हैं। साधक को भगवान का नाम आते ही रोम-रोम उल्लसित हो उठता है। पण्डित टोडरमलजी की रहस्यपूर्ण चिट्ठी में 'मैं चिदानन्द हूँ, सिद्ध हूँ - इत्यादि विचार आने से सहज ही

आनन्दतरङ्ग उठती है, रोमाञ्च होता है' - ऐसा आता है। वह तो सविकल्पद्वार के आधार से निर्विकल्प होने की बात है परन्तु यहाँ तो अन्तर में भक्ति का भाव उछलता है तब साधक को पञ्च परमेष्ठी का नाम आने पर भी वह रोमाञ्चित हो जाता है - ऐसा कहना है।

ऐसे भक्ति आदि के शुभभाव आएँ तब भी मुनिराज को जो ध्रुव ज्ञायकतत्त्व ही मुख्य रहता है इसलिए शुद्धात्माश्रित उग्र समाधिरूप परिणमन वर्तता ही रहता है और शुभभाव तो ऊपर-ऊपर ही तरते हैं तथा स्वभाव से विपरीतरूप वेदन में आते हैं।

प्रत्येक साधक को अन्तर में दृष्टि के विषयभूत त्रिकाल शुद्ध निज ज्ञायक द्रव्य की ही मुख्यता रहती है; उसे भगवान के प्रति भक्तिभाव उल्लसित होता हो, इसलिए शुभराग मुख्य हो जाता है - ऐसा नहीं है। मुनिराज को भक्तिभाव के समय भी निज ध्रुव ज्ञायक तत्त्व का उग्र आलम्बन सतत होने से, विशेष समाधिरूप परिणमन निरन्तर वर्तता ही रहता है और भक्ति आदि शुभभाव तो ऊपर-ऊपर ही तैरते हैं भीतर स्वरूप के साथ एकरूप नहीं हो जाते तथा वे शुभभाव स्वभाव से विपरीतरूप-दुःखरूप वेदन में आते हैं। सर्व साधकों को, अन्तर में अपनी-अपनी भूमिकानुसार ध्रुव ज्ञायकतत्त्व का आलम्बन सतत वर्तता होने से, शुद्धात्माश्रित शान्तिरूप परिणमन निरन्तर वर्तता ही रहता है और उनको जो शुभाशुभभाव आएँ वे तो ऊपर-ऊपर तैरते हैं, अन्तर में स्वरूप के साथ उनका एकत्व नहीं होता तथा वे स्वभाव से विपरीतरूप-दुःखरूप वेदन में आते हैं। ●

(वचनमृत प्रवचन, भाग-4, पृष्ठ-261)



शुभभाव में वर्तन लाचारी....

मुनिराज, वन्दना-प्रतिक्रमणादि में लाचारी से युक्त होते हैं। केवलज्ञान नहीं होता, इसलिए युक्त होना पड़ता है। भूमिकानुसार वह सब आता है परन्तु स्वभाव से विरुद्ध होने के कारण उपाधिरूप लगता है। स्वभाव निष्क्रिय है, उसमें से मुनिराज को बाहर आना नहीं सुहाता। जिसे जो कार्य न रुचे, वह कार्य उसे भाररूप लगता है।

जिनको महाव्रतादि अट्टाईस मूलगुण के परिणाम भी, शुभराग होने से दुःखरूप लगते हैं, जो अपने आनन्दकन्द चैतन्यस्वरूप की परिणति में अतीन्द्रिय आनन्द को उग्ररूप से देखते हैं-अनुभवते हैं – ऐसे वनवासी नग्न दिगम्बर भावलिङ्गी मुनिराज, वन्दना-प्रतिक्रमण आदि षट् आवश्यक में ज्यों-त्यों युक्त होते हैं। प्रतिक्रमण, देव-गुरु, वन्दनादि के शुभविकल्प अस्थिरता के कारण अशक्ति से आते हैं परन्तु अन्तर में राग नहीं होने से उसके कर्तृत्व का उत्साह नहीं है, विवशता से अशक्ति के भाव से ज्यों-त्योंकर युक्त होते हैं।

पुरुषार्थ की अशक्ति के कारण केवलज्ञान, पूर्णानन्द आदि पूर्णदशा प्रगट नहीं होती; इसलिए प्रतिक्रमणादि शुभविकल्पों में लगना पड़ता है। मुनिराज को भूमिकानुसार ऐसे विकल्प बीच में आते अवश्य हैं परन्तु वे उन्हें रुचते नहीं हैं; अन्तर में ऐसे शुभराग की भी रुचि नहीं है। आनन्दमय निर्मलदशा में से बाहर आकर ऐसे शुभविकल्पों में लगना पड़े, वह बोझ लगता है।

अहा! मुनिदशा किसे कहते हैं? सम्यग्दर्शन और स्वानुभूति के बिना बाहर से नग्नता आदि द्रव्यलिङ्ग धारण कर ले, पञ्च महाव्रत के शुभपरिणाम में प्रयत्नपरायण रहे,

वह कोई सच्चा मुनिपना नहीं है। जिनके लिए 'आत्मा मात्र ज्ञान और आनन्दस्वरूप है, शुभाशुभ विभाव का एक कण भी मेरा स्वरूप नहीं है' – ऐसा स्वानुभव, श्रद्धान तथा ज्ञान प्रगट हुआ है और स्वरूपरमणता बढ़ जाने से जिनको पर्याय में आनन्द से भरपूर प्रचुर स्वसंवेदन वर्त रहा है, उन्हें मुनिराज कहा जाता है।

समयसार में भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने अपना आत्मवैभव दर्शाया है। कैसा है वह वैभव? निरन्तर झरता-आस्वाद में आता हुआ, सुन्दर जो आनन्द, उसकी छापवाला जो प्रचुर स्वसंवेदनस्वरूप स्वसंवेदन, उससे जिसका जन्म है। आचार्यदेव ने आगम का सेवन, युक्ति का अवलम्बन, परापर गुरु का उपदेश तथा प्रचुर स्वसंवेदन – ऐसे चार प्रकार से उत्पन्न हुए अपने ज्ञान के वैभव से एकत्व-विभक्त शुद्ध आत्मा का स्वरूप बतलाया है।

कुन्दकुन्दाचार्यदेव महासमर्थ भावलिङ्गी दिगम्बर सन्त थे, विक्रम संवत् 49 में इस भरतक्षेत्र में विचरते थे। वे सदेह विदेहक्षेत्र में श्री सीमन्धर भगवान के पास गये थे, वहाँ आठ दिन रहे थे, वहाँ केवली-श्रुतकेवली की वाणी सुनकर पश्चात् इन समयसारादि शास्त्रों की रचना की है। वे कहते हैं कि अतीन्द्रिय आनन्द के प्रचुर स्वसंवेदनस्वरूप निजवैभव द्वारा मैं इस एकत्व-विभक्त आत्मा को दर्शाऊँगा। अहा! धन्य वह दशा!

जिसे शुभराग का प्रेम है, उसे आत्मा के आनन्द की महिमा नहीं है और जिसे आत्मानन्द की महिमा है, उसे शुभराग दुःखरूप लगता है, विष जैसा भासित होता है। ऐसा होने पर भी मुनिराज को भी भूमिकानुसार पञ्च महाव्रत, पाँच समिति तथा तीन गुप्ति के शुभविकल्प आते हैं परन्तु अपने आनन्दस्वभाव से विपरीत उपाधिरूप होने से दुःखरूप लगते हैं।

चतुर्थ गुणस्थान में देव-शास्त्र-गुरु तथ प्रत्यक्ष सत्पुरुष के प्रति श्रद्धा-भक्ति के भाव; पञ्चम गुणस्थान में अंशतः स्वरूपस्थिरता बढ़ने पर अणुव्रत, प्रतिमा के भाव और छठवें गुणस्थान में भावलिङ्गी सन्त को अट्टाईस मूलगुण के भाव भूमिकानुसार आते अवश्य हैं परन्तु वे शुभभाव भी राग होने से, वीतरागभाव से विपरीत होने से उपाधिरूप हैं, दुःखरूप हैं। सम्यग्दृष्टि उसे कहते हैं, जिसे भूमिकानुसार शुभराग आने पर भी उसमें

से सुखबुद्धि उड़ गयी है; रागमात्र दुःखरूप, उपाधिरूप लगता है।

प्रश्न : यदि ज्ञानी को शुभभाव दुःख और उपाधिरूप लगते हैं तो वह पूजा-भक्ति के तथा व्रत-तप के शुभभाव क्यों करता है ?

उत्तर : ज्ञानी, शुभभावों को कर्ताबुद्धि से नहीं करता, किन्तु भूमिकानुसार अशक्ति के कारण अशुभ से बचने के लिए ऐसे भाव आये बिना नहीं रहते। पूजा-भक्ति के भाव, व्रत-तप के भाव, शास्त्र-स्वाध्याय के भाव, उपदेशादि के भाव – इत्यादि अनेक प्रकार के विकल्प भूमिकानुसार आते अवश्य हैं, परन्तु वे सब भाव आनन्दनिधि निज ज्ञायकस्वरूप से विरुद्ध जाति के हैं, इसलिए उपाधि और दुःखरूप हैं।

लोग कहते हैं – शुभभाव व्यवहार है और व्यवहार करते-करते निश्चय शुद्धभाव हो जाएगा। भाई! लहसुन खाते-खाते क्या कस्तूरी की डकारें आ सकती हैं? वैसे ही राग की क्रिया अथवा शुभभाव करते-करते क्या कल्याण-धर्म हो सकता है? उसमें तो धूल भी धर्म या कल्याण नहीं है, अर्थात् शुभभाव से धर्म माने, उसे पुण्यानुबन्धी पुण्यबन्ध भी नहीं होता। जिसने शुभराग में धर्म माना है, वह मिथ्यादृष्टि है, उसे मिथ्यात्व के महापाप के साथ पापानुबन्धी पुण्यबन्ध होता है। अहा! बड़ी कठिन बात है भाई!

आजकल तो सम्प्रदाय में सब क्रियाकाण्ड की धमाल में फँस गये हैं। व्रत किये और तप किये; प्रतिष्ठा करवायी और गजरथ चलाया, किन्तु भाई! इन सबमें भीतर यदि राग की मन्दता की हो तो वह शुभभाव है, धर्म नहीं है। जिससे धर्म होता है – ऐसी तेरी वस्तु तो अन्तर में समस्त शुभाशुभ विकल्पों से रहित शुद्ध आनन्दकन्द है, उस पर दृष्टि करने से जिसे साधकदशा प्रगट हुई है – ऐसे ज्ञानी को भी भूमिकानुसार शुभभाव आते हैं परन्तु वे उपाधिरूप लगते हैं। अज्ञानी को 'शुभभाव भी उपाधि है' – ऐसी खबर ही नहीं है, वह तो उसे धर्म का यथार्थ साधन मानता है। क्या किया जाए? अहा! परम सत्य की यह बात समझने के लिए कितना धैर्य चाहिए!

चैतन्यमूर्ति आनन्दकन्द भगवान आत्मा का स्वभाव तो समस्त रागादि क्रिया से रहित है-निष्क्रिय है। त्रैकालिक ध्रुव ज्ञायक स्वभाव वास्तव में तो समस्त पर्यायों से भी रहित है; रागादि विभाव क्रिया से तो भिन्न है परन्तु सम्यग्दर्शनादि अपूर्व निर्मल स्वभावक्रिया

से भी भिन्न है। त्रैकालिक निष्क्रिय ध्रुव स्वभाव के उग्र आलम्बन से मुनिराज को जो रागादि विभावक्रियारहित निष्क्रिय निर्मलदशा प्रगटी है – ज्ञायकस्वभाव के आश्रय से निर्विकल्प अभेद निष्क्रिय दशा प्रगट हुई है, उसमें से बाहर आना उन्हें नहीं रुचता है – अच्छा नहीं लगता है। अहा! ऐसी बातें हैं... आया कुछ समझ में ?

जो सम्यग्दर्शनादि धर्म प्रगट हुआ, उस पर धर्मी की दृष्टि नहीं है; धर्मी की दृष्टि त्रिकाल निष्क्रिय नित्यानन्द ध्रुव ज्ञायक पर है। मुनिराज को ध्रुव ज्ञायक निष्क्रिय स्वभाव का जो आश्रय वर्त रहा है, उसमें से उन्हें बाहर आना नहीं रुचता। आनन्दसागर चैतन्यप्रभु में जिसकी दृष्टि पहुँच गयी है – स्थिरता हो गयी है, उसे उसमें बाहर आना-विकल्पों में आना नहीं रुचता। अहा! सच्चे सन्त उन्हें कहा जाता है, जिन्हें सुख की प्रचुर स्वसंवेदन दशा प्रगटी हो। जो बाह्य क्रियाकाण्डी अथवा द्रव्यलिङ्गी है, वह वास्तव में मुनि नहीं है। सच्चे मुनि को व्रतादि के शुभभाव होते हैं परन्तु उनके अन्तर में उनकी रुचि नहीं है। व्रतादि की क्रिया जड़ की पर्याय है, आत्मा उसका कर्ता नहीं है; शुभभाव आता है परन्तु वह तो राग है। मुनिराज को बाह्य राग में आना रुचता नहीं है।

सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा को तो अपना आनन्द रुचता है। आनन्द के अतिरिक्त राग की क्रिया उसे भाररूप लगती है। अतीन्द्रिय स्वरूपानन्द के स्वादी को भूमिकानुसार जो राग आता है, वह बोझरूप लगता है। समयसार के निर्जरा अधिकार में आता है न कि कोई जीव, महाव्रत और तप के भार से / बोझ से दीर्घकाल तक मरते हुए क्लेश प्राप्त करते हों तो करो परन्तु जो साक्षात् मोक्षरूप है, निरामय पद है और स्वयं संवेद्यमान है – ऐसा यह ज्ञान तो ज्ञानगुण के बिना किसी भी प्रकार वे प्राप्त कर ही नहीं सकते। ज्ञानी को तो ज्ञानानन्दस्वभाव का वेदन-अनुभव हुआ है; उसे जो भगवान की भक्ति आदि के शुभभाव आते हैं, वे भाररूप लगते हैं; वे भाव उसे नहीं रुचते। कन्दमूल नहीं खाना, ब्रह्मचर्य का पालन करना, व्रत-उपवास करना, भक्ति करना, मन्दिर बनवाना – यह सब तो राग और क्रिया की बातें हैं। राग मन्द हो तो पुण्यबन्ध होता है परन्तु उससे वीतरागता नहीं होती।

धर्मात्मा को जो धर्मानुराग आता है, वह वीतराग का धर्म है ही नहीं, उससे तो भगवान ने पुण्यबन्ध कहा है। 'भावपाहुड़' में आता है न! —

पूयादिसु वयसहियं पुण्णं हि जिणेहिं सासणे भणियं ।
 मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो धम्मो ॥ 83 ॥
 व्रत सहित पूजा आदि सब जिनधर्म में सत्कर्म हैं ।
 दृगमोह-क्षोभ विहीन निज परिणाम आत्मधर्म हैं ॥ 83 ॥

ज्ञानी धर्मात्मा को विषय-वासना के भाव भी आते हैं परन्तु वे उसे अच्छे नहीं लगते । पुरुषार्थ की कमजोरी है, इसलिए ऐसे भाव आते हैं । ज्ञानी को शुभभाव तो काले नाग जैसे लगते हैं और जो शुभभाव आते हैं, वे उपाधिरूप-बोझरूप लगते हैं । ज्ञानी को रुचि विभाव के कार्य में नहीं है; जिसमें उसे रुचि नहीं है, वह कार्य उसे बोझरूप-दुःखरूप लगता है । ●

(वचनमृत प्रवचन, 3/236)



मुनिराज की अलौकिक दशा

मुनिराज की दशा अलौकिक है, जात्यन्तर है । मुनिराज, स्वरूप-उपवन में लीला करते-करते अर्थात् स्वरूप-उपवन में रमते-रमते कर्मों का नाश करते हैं । वे दुःखी नहीं होते — ऐसी उनकी जात्यन्तर दशा है, लीला है । स्वरूप ही उनका आसन है, स्वरूप ही उनकी बैठक है, स्वरूप ही उनका आहार है, स्वरूप में ही उनका विचरण है, स्वरूप ही उनकी लीला है । जो अन्तर की आनन्द-क्रीड़ा में रमने लगे, उनकी लीला जात्यन्तर है ।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, जिणसासणं सव्वं, पृष्ठ ३२

मुनिदशा की मर्यादा का उल्लंघन नहीं

मुनि आत्मा के अभ्यास में परायण हैं।

मुनिराज तो अन्तर में आनन्दस्वरूप आत्मा के अभ्यास में तत्पर हैं। शास्त्र के अभ्यास का शुभभाव तो विकल्प है, राग है। सम्यक्त्वी गृहस्थाश्रम में हों तथापि वे अपनी ज्ञानधारा में तत्पर हैं; भूमिका के अनुरूप शुभाशुभराग आता है परन्तु वे तो मात्र उसके ज्ञाता हैं, स्वामी नहीं हैं। यहाँ तो मुनिराज की बात चलती है। परमानन्दमय प्रचुर स्वसंवेदन का निरन्तर वेदन करनेवाले मुनिराज को राग आता है परन्तु अति अल्प आता है। उसे संज्वलन कषाय कहते हैं। वह अति मन्द कषाय भी आत्मा की शान्ति को जलाती है; उस विकल्प के समय भी मुनिराज अन्तर में अपनी ज्ञानधारा के अभ्यास में ही परायण हैं।

पाताल कुएँ में भीतर पानी की धारा प्रवाहित रहती है; उसी प्रकार मुनि की दृष्टि अन्तर के ध्रुव पाताल में पड़ी है; मुनि ने ध्रुवस्वभाव का दृढ़ आश्रय लिया है। ध्रुव ज्ञायक का आश्रय सम्यक्त्वी को भी है किन्तु थोड़ा है। जो अन्तर में आनन्दस्वरूप भगवान आत्मा के समीप गये हैं और जिनके अन्तर में शान्ति तथा आनन्द की धारा का प्रवाह तीव्रता से बह रहा है ऐसे मुनिराज आत्मा के अभ्यास में तल्लीन हैं। शास्त्र के अभ्यास में परायण, लीन हैं ऐसा नहीं क्योंकि शास्त्र परवस्तु है; उस ओर लक्ष्य जाने से विकल्प उठते हैं। भगवान आत्मा पूर्ण ज्ञानामृत से भरपूर कलश है। उसके लक्ष्य के अभ्यास में जो अतीन्द्रिय आनन्दामृत की धारा बहती है, उसमें मुनिराज सतत तत्पर हैं।

वे बारम्बार आत्मा में जाते हैं।

मुनिराज को आनन्द का स्वाद आया है ना? इसलिए वह स्वाद लेने के लिए वे

बारम्बार अन्तर में जाते हैं। सम्यग्दृष्टि के अन्तर में ऐसा ज्ञान और अनुभव तो होता है कि 'मैं पूर्णानन्दस्वरूप परमात्मतत्त्व हूँ, मैं राग नहीं अल्पज्ञ नहीं और निमित्त भी नहीं' परन्तु उन्हें भूमिका के अनुरूप तीनकषाय के राग की तीव्रता है। इसलिए उपयोग बारम्बार अन्तर में नहीं जाता; उपयोग अन्तर में जाए तो अन्तर्मुहूर्त में जाता है, न जाए तो किसी को अधिक समय-सप्ताह, पखवाड़ा, महीना, दो महीना भी लगता है; जबकि मुनिराज तो बारम्बार अन्तर में जाते हैं।

सविकल्पदशा में भी मुनिपने की मर्यादा लाँघकर विशेष बाहर नहीं जाते।

मुनि को पञ्च महाव्रत का विकल्प आता है, देव-शास्त्र-गुरु की विनय का, भक्ति का विकल्प आता है क्योंकि वे अभी राग की भूमिका में हैं; ऐसा होने पर भी मुनिदशा की मर्यादा तोड़कर विशेष बाहर नहीं जाते। पञ्च महाव्रतादि का मुनिदशा के योग्य विकल्प आता है परन्तु उससे आगे नहीं जाते। 'मैं दूसरों का कल्याण कर दूँ अथवा पाठशाला चला दूँ' – ऐसे विकल्प में नहीं जाते।

मर्यादा लाँघकर विशेष बाहर जाएँ तो अपनी मुनिदशा ही न रहे।

बाहर की सम्भाल करने जाएँ तो मुनिदशा ही न रहे, अपनी वीतरागी दशा ही न रहे। ●

(वचनामृत प्रवचन, 2/199)

रत्नत्रय के साधक सन्त

चैतन्य की मस्ती में मस्त मुनि का देखते हुए गृहस्थ को ऐसा भाव आता है कि अहा! रत्नत्रय साधनेवाले सन्त को शरीर की अनुकूलता रहे, ऐसा आहार-औषध देऊँ, जिससे वे रत्नत्रय को निर्विघ्न साधें — ऐसे मोक्षमार्गी मुनि को देखते ही श्रावक का हृदय बहुमान से उछल जाता है।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, चैतन्य चमत्कार, पृष्ठ २०

मोक्षमार्गीं मुनिवरों को किसकी शरण ?

अहो! अन्तर में चैतन्यस्वभाव की महाशरण है, उसे तो अज्ञानी जीव पहिचानते नहीं हैं और पुण्य में ही मूर्च्छित हो गये हैं। पूर्व काल में अनन्त बार पुण्य किये, किन्तु वे जीव को शरणभूत नहीं हुए, उनसे किञ्चित् भी मोक्षमार्ग का हित नहीं हुआ। हे भाई! अब तुझे अपने आत्मा का मोक्ष करना हो, संसार की चार गतियों के परिभ्रमण से छूटना हो तो अन्तर में ज्ञान की शरण ले।

‘अहो! हमें अपने स्वभाव की ही शरण हैं, पुण्य का विकल्प उत्पन्न हो, उसे भी हम शरणरूप नहीं मानते; उस विकल्प को भी तोड़कर ज्ञान को अन्तर में एकाग्र करने से आत्मा के परमानन्द का अनुभव होता है; - वही हमें शरण है और दूसरे जीवों को भी वही शरण है।’ देखो, यह सन्त-मुनियों के अन्तर अनुभव से उठनेवाली झन्कार! प्रतिक्षण निर्विकल्प आनन्द के अनुभव में झूलते-झूलते बीच में यह वाणी निकल गयी है।

आत्मा के ज्ञानस्वभाव की सन्मुखता से प्रगट हुए सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप वीतरागभाव ही मोक्ष का सच्चा कारण है; उसके सिवा जितने शुभ या अशुभ रागभाव है, वे भवबन्धन के ही कारण है। जिस प्रकार पापभाव बन्धन का कारण है; उसी प्रकार पुण्यभाव भी बन्धन का कारण है, इसलिए मोक्षमार्ग में शुभ या अशुभ समस्त कर्मों का निषेध है - ऐसा भगवान सर्वज्ञदेव का आदेश है।

शुभ या अशुभ समस्त कर्म, जीव को बन्ध के ही कारण हैं, इसलिए वे निषेध करने योग्य हैं - ऐसा आचार्यदेव ने सिद्ध किया है। वहाँ तो जो जीव मात्र पुण्य-पाप को ही

जानता है, किन्तु पुण्य-पाप से रहित ज्ञानपरिणमन को नहीं जानता, उसे ऐसा प्रश्न उठता है कि - जब मोक्षमार्ग में पुण्य और पाप दोनों का निषेध कर दिया, तब फिर मुनियों को किसकी शरण रहें ? पुण्य-पाप दोनों छूट जाने पर किस के आधार से मुनिपना और मोक्षमार्ग रहेगा ?

उसके उत्तर में आचार्य भगवान कहते हैं कि अरे भाई ! पाप और पुण्य समस्त कर्म छूट जाने से मुनिवर कहीं अशरण नहीं हो जाते, किन्तु उस समय ज्ञानस्वभाव में रमण करता हुआ वीतरागी ज्ञान ही उन्हें शरणभूत है। वे उस ज्ञान में लीन होकर आत्मा के परमामृत का अनुभव करते हैं। यह बात इस कलश में कहते हैं -

निषिद्धे सर्वस्मिन् सुकृतदुरिते कर्मणि किल
प्रवृत्तै नैष्कर्म्ये न खलुमनयः संत्यशरणाः ।
तदा ज्ञाने ज्ञानं प्रतिचरितमेषां हि शरणं
स्वयं विदंत्येते परममृतं तत्र निरता ॥ 104 ॥

(- समयसार कलश पुण्य-पाप अधिकार)

मोक्षमार्ग में शुभ या अशुभ आचरणरूप समस्त कर्मों का निषेध किया गया है परन्तु वह शुभाशुभ कर्मरहित निष्कर्म अवस्था प्रवर्तित होने से मुनि कहीं अशरण नहीं है। पुण्य-पापरहित निर्विकल्पदशा के समय ज्ञानस्वभाव में ही एकाग्र होकर परिणमित होनेवाला ज्ञान ही उन मुनिवरों को परमशरण है। ज्ञान में लीन होकर वे परमामृत का अनुभव करते हैं। पुण्य-पाप में तो आकुलता है, उसमें आनन्द का अनुभव नहीं है; पुण्य-पाप रहित निर्विकल्पदशा में, ज्ञानस्वभाव में एकाकार होकर परिणमित होने से सिद्धभगवान जैसे अपूर्व आनन्द का अनुभव होता है, उसे परम अमृत की उपमा दी है।

अज्ञानी जीवों को पुण्य की ही शरण भासित होती है, किन्तु अन्तर में ज्ञानस्वभाव शरणभूत है, उसकी उन्हें खबर नहीं है। पूण्य ही मुझे शरणभूत है, पुण्य छूटने से मानो मुझ में कुछ भी नहीं रहेगा - ऐसा अज्ञानियों के लगता है, इसलिए पुण्य के निषेध की बात सुनते ही वे भड़क उठते हैं। अरे ! पुण्य छोड़ देंगे तो हम में क्या रहेगा ? ज्ञानी कहते हैं कि अरे भाई ! पुण्य-पाप छूट जाएँगे तो फिर ज्ञान-आनन्द से परिपूर्ण आत्मा रहेगा। पहले तुम

ऐसी श्रद्धा-ज्ञान तो करो कि हमारा चैतन्यस्वभाव, पुण्य-पाप के बिना भी टिक सकता है। पुण्य-पाप के आधार से ज्ञान नहीं है, किन्तु ज्ञानस्वभाव के आधार से ही ज्ञान है, इसलिए पुण्य-पाप से पृथक् होने पर वह ज्ञान अशरण नहीं हो जाता किन्तु पुण्य-पाप रहित हुआ वह ज्ञान जिन स्वभाव में गम्भीरतापूर्वक लीन होकर परम अमृत का अनुभव करता है। इसलिए मोक्षमार्गी मुनिवरों को ऐसा वीतरागी ज्ञान ही शरणरूप है।

यहाँ उग्र बात बतलाने के लिए मुनियों की बात की है क्योंकि मुनि परम निष्कर्षदशा को प्राप्त है। मुनियों की भाँति चौथे गुणस्थानवाले सम्यक्त्वी की बात भी समझ लेना चाहिए। उन्हें भी किसी पुण्य-पाप की शरण नहीं है, किन्तु अन्तर में अपने स्वभाव के अवलम्बन से परिणमित होनेवाला ज्ञान ही शरण है। मोक्षमार्ग में सम्यग्दर्शन से लेकर केवलज्ञान तक अपने ज्ञानस्वभाव का अवलम्बन - यह एक ही शरण है। बीच में कहीं पुण्य की शरण नहीं है। भले ही पहले निचली भूमिका में पुण्य-पाप के भावों से सर्वथा न छूटे, किन्तु वे भाव होने पर भी ऐसी दृष्टि प्रगट करना चाहिए कि मुझे शरणभूत तो मेरा ज्ञानस्वभाव ही है; ज्ञानस्वभाव के अवलम्बन से ही मेरा मोक्षमार्ग है; इन पुण्य-पाप के अवलम्बन से मेरा मोक्षमार्ग नहीं है। जब तक ऐसी अन्तरदृष्टि प्रगट करके चैतन्यस्वभाव का अवलम्बन न ले, तब तक जीव को मोक्षमार्ग का प्रारम्भ किसी भी प्रकार नहीं होता, अर्थात् लेशमात्र भी धर्म नहीं होता।

अहो! अन्तर में चैतन्यस्वभाव की महाशरण है; उसे तो जीव पहिचानते नहीं हैं और पुण्य में मूर्च्छित हो गये हैं। पूर्व काल में अनन्त बार पुण्य किये, किन्तु वे जीव को कारणभूत नहीं हुए - पुण्य से किञ्चित भी मोक्षमार्ग या हित नहीं हुआ। हे भाई! अब तुझे अपने आत्मा का मोक्ष करना हो, संसार की चार गतियों के परिभ्रमण से छूटना हो तो अन्तर में ज्ञान की शरण ले। अन्तर्मुख एकाग्र होकर परिणमित होनेवाला ज्ञान ही मोक्ष का कारण है। अन्तरस्वभावी को जो उपभोग होता है, उसके स्वाद को ज्ञानी ही जानते हैं, अज्ञानी उस ज्ञान के आनन्द का स्वाद नहीं जानता।

अहो! देखो तो, इन सन्त-मुनियों के अन्तर-अनुभव से उठनेवाली झन्कार! प्रतिक्षण निर्विकल्प आनन्द के अनुभव में झूलते-झूलते बीच में यह वाणी निकल गयी

है। उसमें आचार्यदेव कहते हैं कि अहो ! हमें अपने स्वभाव की ही शरण है; पुण्य का विकल्प उत्पन्न हो, उसे भी हम शरणरूप नहीं मानते; उस विकल्प को भी तोड़कर ज्ञान की अन्तर में एकाग्र करने से आत्मा के परम आनन्द का अनुभव होता है, वही हमें शरण है। दूसरे सम्यक्त्वी जीवों को भी यही शरण है। ज्ञानमात्र भाव के अतिरिक्त जितने परभाव हैं, वे सब बन्ध के कारण है तो फिर वे जीव को कैसे शरणरूप हो सकते हैं ? किसी भी जीव को अपने ज्ञानानन्दस्वभाव के अतिरिक्त अन्य किसी की शरण नहीं है; अन्य किसी के अवलम्बन से कभी मोक्षमार्ग नहीं होता।

भगवान आत्मा के मोक्षरूपी महल पर चढ़ने की सीढ़ी कौन-सी है ? - तो कहते हैं कि आत्मस्वभाव के अवलम्बन से जो सम्यक् श्रद्धा ज्ञान और रमणतारूपी वीतरागीदशा प्रगट हुई, वही मोक्ष की सीढ़ी है; इसके सिवा पुण्य कहीं मोक्ष की सीढ़ी नहीं है; पुण्य वह धर्म की सीढ़ी नहीं है; पुण्य करते-करते किसी समय उससे मोक्षमार्ग की प्राप्ति हो जाए - ऐसा कभी नहीं होता। पुण्य स्वयं बन्ध का कारण है, वह कभी भी मोक्ष का साधन नहीं होता।

अन्तर में अपने स्वभाव में लीन होकर ज्ञान परिणमित हो, वही मोक्ष का कारण है। सम्यग्दर्शन की रीति भी यही है और सम्यक्चारित्र की रीति भी यही है। ज्ञान बाह्योन्मुख होकर पुण्य-पाप में एकाग्रतारूप से परिणमित हो, वह मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र का कारण है तथा जो ज्ञान अन्तरोन्मुख होकर चिदानन्दस्वभाव में एकाग्र होकर परिणमित हो, वह सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का कारण है, और वही मुनियों को शरणभूत है। किन्हीं बाह्य निमित्तों के या पञ्च महाव्रतादि के शुभराग के कारण मुनिदशा नहीं टिकती, किन्तु जो ज्ञान पुण्य-पाप रहित होकर अन्तर में चैतन्यस्वभाव में लीन हुआ, उसी के आधार से मुनिदशा टिकती है; इसलिए वही ज्ञान मुनियों को शरण है।

अहो ! जो ज्ञान मेरे ज्ञानस्वभाव में एकाग्र होकर परिणमित हो, वही मुझे शरणरूप है, इसके अतिरिक्त कोई परवस्तु या पुण्य भी वास्तव में मुझे शरणरूप नहीं है - ऐसा जानकर चैतन्यस्वभाव के अवलम्बन से परिणमित होना ही मोक्ष का पन्थ है।

मुनिराज को लौकिकजनों का सङ्ग निषिद्ध

परम पूज्य दिगम्बर जैनाचार्य श्री कुन्दकुन्ददेव ने आज से दो हजार वर्ष पूर्व भी श्रमणों को लौकिकजनों के सङ्ग से बचने का उपदेश देते हुए कहा है कि लौकिकजनों के सङ्ग से श्रमण भी असंयत हो जाता है।

आचार्यश्री का मूल कथन इस प्रकार है —

णिच्छिदसुत्तत्थपदो समिदकसाओ तवोधिगो चावि।

लोगिगजणसंसर्गं ण चयदि जदि संजदो ण हवदि ॥ २६८ ॥

अर्थात् जिसने सूत्रों और अर्थों के पद को-अधिष्ठान को (अर्थात् ज्ञातृत्व को) निश्चित किया है, जिसने कषायों का शमन किया है और जो अधिक तापवान् है - ऐसा जीव भी यदि लौकिकजनों के संसर्ग को नहीं छोड़ता, तो वह संयत नहीं है, अर्थात् असंयत हो जाता है।

अब कहते हैं कि असत्सङ्ग निषिद्ध है।

जिस मुनि ने वीतराग द्वारा कथित छह द्रव्य और नौ तत्त्वों का निश्चय किया है; क्रोध-मान-माया-लोभ के परिणाम घटाये हैं और मुनिदशा में अधिक है, तथापि लौकिकजनों — राजा तथा असत्सङ्घियों का सङ्ग नहीं छोड़ता तो वह मुनि नहीं रहता। वे लौकिकजन उसे चारित्र से भ्रष्ट नहीं करते परन्तु लौकिकजनों का समागम करने का उसका अपना भाव, चारित्र से भ्रष्ट करता है।

पुरुष के प्रमाण से वचन प्रमाण हो सकते हैं; इसलिए जो पुरुष वीतराग और सर्वज्ञ

है, उसके वचन प्रमाण हो सकते हैं परन्तु जो जीव, सर्वज्ञ-वीतराग को नहीं मानता और व्यवहारश्रद्धा की बातें करता हो संसार का सुधार करना चाहिए - इत्यादिक प्रकार से मानता हो, वह जैन नहीं है, लौकिकजन है। ऐसे लौकिकजन की सङ्गति, वह असत्सङ्ग है - ऐसी सङ्गति से जीव नीचे उतरता जाता है।

कोई कहता है कि रात्रि में थोड़ा-सा खा लेने में आपत्ति नहीं है - ऐसा कहकर रात्रि भोजन करता है। धीरे-धीरे वह कहेगा कि कन्दमूल खाने में क्या आपत्ति है ? इस प्रकार अधोपतन करता है।

कोई जीव स्वच्छन्दी होकर कहता है कि हम तो स्त्री के सङ्ग में रहकर भी ब्रह्मचर्य पालन करते हैं और कसौटी पर खरे उतरते हैं - इस प्रकार कहकर स्वच्छन्दता का सेवन करता है। वस्तुतः ब्रह्मचर्य नव कोटि से पालन करना कहा है। असङ्ग आत्मा का प्रेम छोड़कर, स्त्री का सङ्ग करने का भाव ही हानिकारक है। वह जीव ब्रह्मचर्य से गिर जानेवाला है। जब दया-दान का भाव भी छोड़ने योग्य कहा है तो फिर स्त्री के सङ्ग का भाव तो छोड़ने योग्य ही है।

लौकिक में जिसके चारित्र की छाप खराब है - ऐसे स्त्री-पुरुषों के घर भी जाने का निषेध किया है क्योंकि वह असत्सङ्ग है। जो जीव, माँस खाते हों, शराब पीते हों, कोई प्रकृति विरुद्ध कुचेष्टा करते हों, उनका समागम करना योग्य नहीं है तथा कोई जीव, देव-गुरु-शास्त्र की आज्ञा से विरुद्ध होकर स्वच्छन्दी वर्तता हो और धर्म के नाम से ज्ञान के विकास के कारण कदाचित् उपदेश देता हो तो उस स्वच्छन्दी जीव का उपदेश भी सुनने योग्य नहीं है क्योंकि वह असत्सङ्ग है। इसलिए समस्त प्रकार से असत्सङ्ग का परित्याग करना चाहिए।

जो मुनि, शास्त्र में निपुण हैं और संयमी हैं, वह यदि लौकिकजन के सङ्ग को नहीं छोड़ता तो वह संयत नहीं है - ऐसा इस गाथा में कहना है परन्तु टीका में वह मुनि कैसा होता है ? इसका विस्तार किया है।

(१) विश्व के वाचक, 'सत्' लक्षणवान् ऐसा जो शब्दब्रह्म और उस शब्दब्रह्म के वाच्य 'सत्' लक्षणवाला ऐसा जो सम्पूर्ण विश्व, उन दोनों के ज्ञेयाकार अपने में

युगपत् गुंथ जाने से (ज्ञातृत्व में एक ही साथ ज्ञात होने से) उन दोनों का अधिष्ठानभूत ऐसा 'सत्' लक्षणवाले ज्ञातृत्व का निश्चय किया होने से 'जिसने सूत्रों और अर्थों के पद को (अधिष्ठान को) निश्चित किया है ऐसा' हो।

शब्दब्रह्म, अर्थात् भगवान की वाणी; जिसमें चारों अनुयोग आ जाते हैं। जो शब्दब्रह्म, विश्व का वाचक है, अर्थात् जगत् में समस्त पदार्थ हैं - ऐसा बतलाता है। छह द्रव्य; उनके द्रव्य-गुण-पर्याय; स्वभाव, विभाव, संयोग, निमित्त इत्यादि समस्त पदार्थों को वाणी बतलाती है। जिसमें अनन्तानन्त पदार्थों का रहस्य आता है - ऐसी सत् लक्षणवाली भगवान की वाणी को तथा वह शब्दब्रह्म जिन पदार्थों को बताता है, वे समस्त पदार्थ भी सत् लक्षणवाले हैं, उन दोनों को अपने ज्ञान में जानते हैं। भावलिङ्गी मुनि को तो भगवान की वाणी का अथवा भगवान के द्वारा कथित आगम के भाव का ज्ञान तथा पदार्थों का ज्ञान होता है।

स्वयं त्रिकाल ज्ञायक शुद्ध है - ऐसी दृष्टि और ज्ञानपूर्वक अपने में सूत्र के शब्द तथा पदार्थों का ज्ञान एक साथ गुंथ गया है। मुनि को भान है कि ज्ञान मेरे आधार से है, किन्तु शास्त्र और ज्ञेयों के आधार से नहीं। उस सूत्र के पद और पदार्थों का निश्चय करनेवाला मैं हूँ, मुझ आत्मा में उन शब्दों तथा शास्त्र के भावों को, ज्ञेयों को जानने की सामर्थ्य है। एक समय में तीन काल-तीन लोक के पदार्थों को जानने की मेरी शक्ति है। मैं स्वयं ही त्रिकाली ज्ञायकस्वभावी हूँ - ऐसा मुनि ने निश्चय किया है। मेरा ज्ञान मुझ आत्मा के आधार से है; शास्त्रों, शब्दों अथवा पदार्थों के आधार से मेरा ज्ञान नहीं है।

देखो, अपने ज्ञानस्वभाव की महिमा और निश्चय बताया है। इस प्रकार मुनि को सर्वज्ञस्वभाव की निशङ्कता वर्तती है।

(२) निरुपराग उपयोग के कारण 'जिसने कषायों को शमित किया है ऐसा' हो, और उन मुनि का ज्ञातृत्व कैसा है ? कि जिसने रागरहित शुद्ध उपयोग के कारण, क्रोध-मान-माया-लोभ का उपशम किया है, वर्तमान राग की उपाधि का अभाव किया है।

(३) निष्कम्प उपयोग का बहुशः अभ्यास करने से 'अधिक तपवाला' हो -

इस प्रकार (इन तीन कारणों से) जो जीव भलीभाँति संयत हो, वह भी लौकिक (जनों के) सङ्ग से असंयत ही होता है, क्योंकि अग्नि की सङ्गति में रहे हुए पानी की भाँति उसे विकार अवश्यम्भावी है। इसलिए लौकिक संग सर्वथा निषेध्य ही है।

और वह शुद्ध उपयोग में बारम्बार लीनता करने से निष्कम्प हुआ है, जो उपयोग कम्पित नहीं है। शुभाशुभभावों में नहीं जाता ऐसा; और शुद्ध में रहे ऐसा – उसे निष्कम्प कहते हैं। ऐसे निष्कम्प उपयोग से ज्ञातृत्व अधिक तपवाला हुआ है। देखो, यहाँ चरणानुयोग में अधिक तप से किसे कहा? शुभपरिणाम को तथा उपवास, व्रत को अधिक तप नहीं कहा। जो शुभाशुभ में नहीं जाता परन्तु शुद्ध में ही निष्कम्परूप से रहता है, उस ज्ञातृत्व को अधिक तप कहा है। इस प्रकार मुनि अपने शुद्ध उपयोग में बारम्बार लीन रहते हैं, इसलिए उन्हें अधिक तपवाला कहा है।

– ऐसा मुनि भी यदि लौकिकजनों के साथ सङ्ग करता है तो वह संयत नहीं रहता। इससे विपरीत मान्यतावाला तो मुनि ही नहीं है, इसलिए उसकी तो यहाँ बात ही नहीं है। यहाँ भावलिङ्गी मुनि की बात है।

१. जिसका लौकिक आचरण भी निन्द्य है, आचरण का भी ठिकाना नहीं है; लौकिक में बड़े गिने जानेवालों का सङ्ग करे और उनका बहुमान करे तो वह असत्सङ्ग है।

सर्वज्ञ के अतिरिक्त रागी देव और उनके कुशास्त्र को माननेवाले गुरु का तथा उन शास्त्रों का सङ्ग, वह असत्सङ्ग है। कितने ही जीव, जगत् का कर्ता-धर्ता किसी ईश्वर को मानते हैं, उनकी यह बात मिथ्या है, क्योंकि ऐसा कोई व्यक्ति ही नहीं है। अपनी सृष्टि का कर्ता, अर्थात् पर्याय का कर्ता, आत्मा स्वयं ही है। पूर्व पर्याय का नाश करनेवाला भी स्वयं है और ध्रुवरूप से स्थायी रहनेवाला भी स्वयं है। इस प्रकार यथार्थरूप से नहीं मानकर जगत का कर्ता, नाशक इत्यादि माननेवाले का समागम भी असत्सङ्ग है, उसे तो व्यवहारश्रद्धा का भी ठिकाना नहीं है।

इस प्रकार सर्वज्ञदेव ने जो छह द्रव्यों का स्वरूप स्वतन्त्र देखा और जाना है, उससे विरुद्ध कहनेवाले, अर्थात् एकान्त मान्यतावाले तथा लौकिक में खराब आचरणवाले जीवों का सङ्ग, मुनिराज करे तो वे चारित्र से भ्रष्ट होते हैं; इसीलिए मुनिराज को ऐसा असत्सङ्ग

छोड़ देना चाहिए। इसमें गर्भितरूप से यह बात भी आ जाती है कि गृहस्थ को भी धर्मदृष्टि से ऐसा असत्सङ्ग छोड़ देना चाहिए।

प्रश्न - एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को हानि नहीं करता तो फिर लौकिकजनों का समागम छोड़ने के लिए क्यों कहते हो ?

उत्तर - सिद्धान्त तो यही है। जो मुनि, भ्रष्ट होते हैं, वे लौकिकजनों से भ्रष्ट नहीं होते, अपितु अपने भाव से ही भ्रष्ट होते हैं। स्वयं मुनि होकर भी लौकिकजनों के सङ्ग का भाव किया, वह भाव इसे चारित्रदशा से च्युत करता है। वस्तुतः यहाँ तो लौकिकजनों के समागम के भाव का निषेध कराया है क्योंकि चरणानुयोग में निमित्त की शैली से कथन किया जाता है।

भगवान सर्वज्ञ के द्वारा कथित अनन्त पदार्थ हैं, अर्थात् उनका तथा उन्हें कहनेवाली वाणी का जिन्हें यथार्थ ज्ञान है, वह ज्ञातृत्व है अर्थात् जाननेवाला तत्त्व है। मुनि ने निश्चयनय द्वारा निश्चित किया है कि मैं जाननेवाला हूँ और अनन्त ज्ञेय, ज्ञात होने योग्य हैं। उन ज्ञेयों तथा वाणी के कारण मेरा जानपना नहीं है, मेरा जानपना मेरे कारण है। ऐसा निर्णय करके जिस मुनि ने अपनी कषायों को मन्द किया है और ज्ञान का अभ्यास करते हुए जिसकी अन्तर्दशा बहुत आगे बढ़ गयी है, वैसा मुनि भी लौकिकजन का परिचय करे तो संयत नहीं रहता क्योंकि अग्नि की संगति में रहा हुआ पानी, विकार को, अर्थात् उष्णता को प्राप्त करता है; इसी प्रकार लौकिकजनों के सङ्ग से मुनि भी भ्रष्ट होता है। इसलिए लौकिकजनों का सङ्ग सर्वथा निषिद्ध ही है।

जिस प्रकार शक्कर पदार्थ है, शक्कर शब्द है और शक्कर का ज्ञान है - ये तीनों सत् होने पर भी पदार्थ में शब्द नहीं है और शब्द में पदार्थ नहीं है, शब्द में ज्ञान नहीं है और ज्ञान में शब्द नहीं है। पदार्थ में ज्ञान नहीं है इत्यादि। इस प्रकार तीनों को परस्पर अभाव है। इसी प्रकार प्रत्येक वस्तु को समझना चाहिए। इस प्रकार भगवान की वाणी शब्दब्रह्म सत् है। वाणी, पदार्थों को बतलाती है, वे पदार्थ सत् हैं और वाणी तथा पदार्थों को ज्ञान में धारण कर रखनेवाला ज्ञातृत्व भी सत् है। इनमें कोई एक-दूसरे के आधीन नहीं है।

सर्वज्ञ परमात्मा, तीन लोक के पदार्थों को प्रत्यक्ष देखते हैं और उनका स्वरूप वाणी

में आता है, वस्तुस्वरूप ऐसा ही है। इस प्रकार साधक, प्रतीति में लेता और जानता है, वह कोई राग के आधार से अथवा निमित्त के आधार से नहीं जानता परन्तु निश्चयनय द्वारा जानता है तथा उस मुनि ने कषायों का उपशम किया है और अन्तर्लीनता द्वारा उपयोग को सुशोभित किया है। ऐसा मुनि भी लौकिकजनों का सङ्ग करे तो चारित्र से भ्रष्ट होता है।

ज्योतिषवाद, मन्त्र-तन्त्र आदि मान प्रतिष्ठा के लिए करते हों - ऐसे लौकिकजनों का सङ्ग नहीं करना चाहिए। भाग्य तो जड़ है और भगवान तो आत्मा है। भाग्य हों तो जड़ पदार्थों का संयोग मिलता है, इसलिए भाग्य में क्या लिखा है? - यह जानने की इच्छा नहीं करके, भगवान आत्मा में क्या है? - यह शोधना अच्छा है।

जो ब्रह्मचारी होकर 'स्त्रियों का सङ्ग करने में क्या आपत्ति है' - ऐसा कहकर स्वच्छन्दता का सेवन करता है, वह भ्रष्ट होने का लक्षण है। इसलिए ऐसे जीव के साथ समागम नहीं करना चाहिए। देखो, निमित्त, जीव को भ्रष्ट नहीं करते परन्तु अपना भाव भ्रष्ट करता है; इसलिए ऐसे अशुभभाव का यहाँ निषेध किया है। ●

[सद्गुरु प्रवचनप्रसाद (गुजराती) हस्तलिखित दैनिक]

(प्रवचनसार गाथा 268 पर पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी का प्रवचन)

त्रिकालवर्ती सन्तों का एक ही प्रकार

तीनों काल के अनन्त सन्तों का एक ही प्रकार है कि उन्हें पहले आत्मभानपूर्वक मुनि होने का विकल्प होता है, परन्तु वे उसे आश्रय करने योग्य नहीं मानते और उन्हें बाह्य परिग्रह का सङ्ग भी नहीं होता; फिर अन्दर चैतन्य में लीन होने पर उन्हें पहले सातवाँ गुणस्थान प्रगट होता है। ऐसी मुनिदशा हुए बिना कभी मुक्ति प्राप्त नहीं होती। गृहस्थदशा में सम्यग्दर्शन और एकावतारीपना हो सकता है, परन्तु ऐसी मुनिदशा हुए बिना गृहस्थ सम्यग्दृष्टि को भी मुक्ति नहीं होती।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, महामहोत्सव प्रवचन, पृष्ठ १५

लौकिकजनों के परिचय का रस क्यों ?

मुनि को संयम, नियम और तप - सब में आत्मा समीप होता है। अहा! तू तो आत्मा की साधना करने निकला है... वहाँ यह लौकिकजनों के परिचय का रस क्यों ? तुझे शुद्धि बढ़ाना हो, दुःख से छूटने की भावना हो तो अधिक गुणवाले या समान गुणवाले आत्मा के सङ्ग में रहना।

लौकिक सङ्ग तेरा पुरुषार्थ मन्द होने का कारण होगा। विशेष गुणी का सङ्ग तेरे चैतन्यतत्त्व को निहारने की परिणति में विशेष वृद्धि का कारण होगा।

अचानक आ पड़े असत्सङ्ग में तो स्वयं पुरुषार्थ रखकर अलग रहे परन्तु स्वयं रसपूर्वक यदि असत्सङ्ग करेगा तो अपनी परिणति मन्द पड़ जायेगी।

- यह तो स्वरूप में झूलते हुए मुनियों को (आचार्यदेव की) सीख है। निश्चय-व्यवहार की सन्धि ही ऐसी है। इस प्रकार अपनी भूमिकानुसार सबको समझ लेना है।

अहा! मुनि किसे कहते हैं ? बाहर से नग्न हो गये, स्त्री-बच्चों को छोड़ दिया, वह तो धूल भी साधुपना नहीं है। 'साधयति इति साधुः।' - जो आत्मस्वरूप साधे वह साधु है। जहाँ अभी वस्तु स्वरूप की खबर नहीं है, वहाँ साधुपना आया कहाँ से ?

यहाँ उत्कृष्ट मुनि की बात ली है। मुनि को संयम, नियम और तपादि में आत्मा समीप होता है, श्रद्धा-अपेक्षा से तो चतुर्थ गुणस्थान में भी आत्मा समीप होता है परन्तु यहाँ मुनिदशा की बात कही है। नियमसार की १२७ वीं गाथा में कहा है -

संयम नियम अरु तप विषे आत्मा समीप है जिसे,
स्थायी सामायिक है उसे कहा श्री केवली शासन विषे।

जिस मुनि को संयम में, नियम में, तप में और सत्चारित्र में निज कारण परमात्मा सदा समीप अर्थात् निकट है, आत्मा सदा ऊर्ध्व रहता है, उस परद्रव्यपराङ्मुख परम वीतराग सम्यग्दृष्टि वीतराग-चारित्रवन्त को सामायिकव्रत स्थायी है - ऐसा केवलियों के शासन में कहा है।

संयम = सं + यम् सम्यक् प्रकार से इन्द्रियों तथा वासनाओं का दमन। त्रैकालिक ज्ञायक भाव को सम्यक् प्रकार से जानकर स्वरूप में विशेष स्थिर होना-आत्मानुभव में विशेष लीन होना, उसका नाम संयम और नियमादि है। आत्मा की प्रतीति बिना बाह्य नियम तो जीव ने अनन्तबार किये परन्तु उससे क्या ? ऐसे कठिन नियम धारण किये कि छह-छह महीने के उपवास के पारणे हेतु जब आहार लेने निकले तब भिक्षा देनेवाली स्त्री का नाम मोती हो, उसने मोती भरी हुई साड़ी पहनी हो, साड़ी के पल्ले में मोती बँधा हो और मोतीचूर के लड्डू बनाये हों - ऐसा योग होगा तो आहार लूँगा अन्यथा देहान्त होने तक आहार नहीं लूँगा परन्तु आनन्दमूर्ति भगवान आत्मा यदि समीप नहीं वर्ते तो उसे संयम-नियम नहीं कहा जाता।

प्रश्न : तप किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिसे शुद्धात्मा का श्रद्धान, ज्ञान और अनुभव हुआ है उसे स्वरूप में विशेष स्थिरता होने पर, इच्छा का निरोध करके आनन्द का जो उग्र स्वाद आये उसका नाम तप है। स्वरूपे प्रतपनं तपः। जैसे, सोना गेरु से दमकता है, शोभता है, उसी प्रकार भगवान आत्मा अन्तर आनन्द की दशा में उग्ररूप से प्रतपन करता है, उग्र रूप से शोभता है, उसका नाम तप है; शेष सब लंघन है। देश की समस्या के लिये उपवास पर बैठ जाते हैं उसमें धूल भी संयम या तप नहीं है, वह तो राग की तथा बन्ध की क्रिया है। बन्धन के फल में तो गति मिलती है। यहाँ तो कहते हैं कि आनन्द का नाथ निज शुद्धात्मा, जब समीप होता है तब संयम और नियम कहे जाते हैं। अहा ! बात-बात में फेर है। यह मार्ग ही अलग है भाई!

अनन्तकाल से भटक रहा बिना भान भगवान;

सेये नहीं गुरु-सन्त को, छोड़ा नहीं अभिमान।

आत्मा की प्रतीति बिना अनन्तकाल से भटक रहा है। ज्ञानी धर्मात्मा क्या कहते

हैं वह नहीं माना। पैर दबाना वह कोई सेवा नहीं है; उन्होंने जो तत्त्व कहा उसे अन्तर में स्वीकार करना वह सेवा है। अनादि से सत्पुरुष को कभी अन्तर से नहीं माना और 'मैं जानता हूँ, मुझे आता है' ऐसे अभिमान में जीवन बिता दिया प्रभु! जीव ने अनन्त भव किये। भवों का आदि है? आदि हो तो कब से भव प्रारम्भ हुए? आत्मा जैसे अनादि है वैसे ही उसके भव भी अनादि हैं। भाई! अपना भूतकाल देख! भव... भव... भव। अरे! उन भवों का कोई अन्त है या नहीं? भाई! उन भवों का अन्त लानेवाली वस्तु जो भीतर विद्यमान है उसे समीप नहीं लाया; उस ज्ञायक भगवान से दूर ही रह गया।

आनन्दस्वरूप को साधु, शक्ति के आलम्बन से व्यक्तता प्रगट करे, वह साधु है। जिस प्रकार लैंडी पीपर में चौंसठ-पुटी चरपराहट भरी है, वह घोंटने से व्यक्त होती है; उसी प्रकार भगवान आत्मा में ज्ञान और आनन्द की पूर्ण शक्ति भरी पड़ है; उस ज्ञानानन्दस्वभावी आत्मा को समीप लेकर, उसकी एकाग्रता से, राग को दूर करके तुझे भगवान आत्मा की पूर्ण साधना करना है... वहाँ यह लौकिकजनों के परिचय का प्रेम क्यों? सभा में राजा आये या सेठ आये, तू उन्हें प्रसन्न करने के लिए रुकता है! यह सब किसलिए? दुनिया को सन्तोष हो, सभाजन कैसे प्रसन्न हों - यह सब तू क्यों करता है? क्या तुझे लोकरञ्जन करना है? यहाँ तो कहते हैं कि जिसे आत्मा की प्रतीति नहीं है, चैतन्य की दृष्टि नहीं है, ऐसे लौकिकजनों का परिचय करने से तुझे क्या लाभ होगा? उनका परिचय छोड़कर अपने स्वभाव का परिचय कर।

इस बोल में मुनि की मुख्यता से कथन है। जिन्हें सङ्ग और राग से भिन्न निज ज्ञायक प्रभु की दृष्टि और अनुभव हुआ हो और पश्चात् स्वरूप में विशेष रमणता होने से संयम, नियम तथा तपादि अनुष्ठान में भगवान आत्मा सदा समीप वर्तता हो, वे सच्चे मुनि हैं। ऐसे मुनि को श्री आचार्यदेव कहते हैं कि पूर्णानन्दस्वरूप आत्मा तेरे अनुभव में आया है और चरित्र-स्वरूप की विशेष रमणता भी प्रगट हुई है परन्तु उससे विशेष शुद्धि बढ़ाना हो, दुःख से सम्पूर्णतया छूटने की भावना हो, तो जिन में अपने से अधिक गुण हों अथवा समान गुण हों उनके सङ्ग में रहना। यहाँ तो यह कहना है कि सङ्ग करना पड़े तो किसका करना? यदि असङ्गतत्व में अपने ज्ञायकस्वरूप में सम्पूर्ण स्थिरता हो सके तब तो सर्वश्रेष्ठ है परन्तु मुनि भी इस प्रकार सदा असङ्ग नहीं रह सकते। अन्तर में ज्ञायक प्रभु

दृष्टि एवं स्थिरता से जागृत तो हुआ है परन्तु स्थिरता में अभी कचास-कमी है, इसलिए उपयोग स्वानुभव में से बाहर तो आ जाता है-विकल्प तो आते हैं। ऐसे सन्त से कहते हैं - अपने से अधिक गुणवाले अथवा समान गुणवाले साधक सन्त के समागम में रहना। प्रवचनसार की चरणानुयोगसूचक चूलिका में कहा है न! -

इससे श्रमण में को होय यदि दुःख मुक्ति की भावना।

तो नित्य बसना समान अथवा विशेष गुणी के संग में ॥२७० ॥

लौकिकजन के सङ्ग से संयत भी असंयत होता है। इसलिए यदि श्रमण दुःख से परिमुक्त होना चाहता हो तो वह समान गुणवाले अथवा अधिक गुणवाले श्रमण के सङ्ग में नित्य बसे। जिस प्रकार शीतल घर के कोने में रखा हुआ पानी शीतल रहता है और बर्फ के सङ्ग से शीतल हो जाता है उसी प्रकार समानगुणवाले के सङ्ग से श्रमण के गुणों की रक्षा होती है और अधिक गुणवाले के सङ्ग से उसके गुणों की वृद्धि होती है।

यह उपदेश मुख्यरूप से मुनि को लक्ष्य में रखकर है। जिन्होंने अभी व्यापार-धन्धा नहीं छोड़ा है, सांसारिक पाप प्रवृत्तियों में पड़े हैं - ऐसे राजाओं तथा सेठों का सङ्ग तुझे हानि पहुँचायेगा। अग्नि के सङ्ग से पानी की भाँति, लौकिक सङ्ग से तेरी साधना विकारी हो जाएगी, असंयतपना आ जाएगा। इसलिए यदि शुद्धि की वृद्धि करना हो तो अपने से शुद्धि में अधिक हों अथवा समान गुणवाले हों उनका सङ्ग करना। राजा और सेठ आये हैं इसलिए उपदेश दूँ, उन्हें सन्तुष्ट रखूँ - ऐसे विकल्प तुझे हानि करेंगे विशेष गुणी का सङ्ग तुझे अपनी परिणति में विशेष वृद्धि का कारण होगा और समान गुणी के सङ्ग में तेरी साधना परिणति की रक्षा होगी इसलिए लौकिकजन का सङ्ग छोड़कर गुणी के सङ्ग में निवास करना।

जिनकी दृष्टि विपरीत है और जो विषय कषाय में रत हैं - ऐसे धर्म विमुख लौकिकजनों के सङ्ग का कोई अप्रत्याशित प्रसङ्ग आ जाए तो उस समय स्वयं अपने पुरुषार्थ द्वारा सावधानी रखकर पृथक् रहे परन्तु यदि स्वयं ही रसपूर्वक उनके आदरपूर्वक-परिचय करे तो उसकी परिणति मन्द हो जाएगी, साधना से विचलित हो जाएगा।

अहा! यह तो स्वरूप में झूलते हुए तथा वन-जङ्गल में विचरते हुए मुनियों की बात है। स्वरूप रमणतारूप अन्तर की शुद्धि और भूमिकानुसार आनेवाले व्रतादि के

विकल्प-यह दोनों निश्चय और व्यवहार का सुमेल है। उन दोनों की सन्धि ही ऐसी है कि मुनि अन्तर स्वरूप में जाए और बाहर आये - व्यवहार विकल्प आये तो अच्छे गुणी का-अधिक गुणवान का सङ्ग करे।

सम्यग्दर्शन के अभिलाषी को कुदेव, कुगुरु और कुशास्त्र का, सत्य-असत्य की परीक्षा करके, सङ्ग छोड़ देना चाहिए। सच्चे देव, शास्त्र और गुरु का सङ्ग मिले-सत्समागम करे तो अन्तर में परमपुरुष के समीप जाए। स्वयं स्वभाव सन्मुख दृष्टि की तो सत्समागम तथा उसका विकल्प निमित्त कहा जाता है। अन्तर में स्वभाव का लक्ष्य न करे तो सच्चे देव, शास्त्र और गुरु के प्रति बहिर्लक्ष्यी विकल्प तो बन्ध का कारण है। जैसे, मुनियों को आचार्यदेव का उपदेश है कि लौकिकजनों के परिचय का रस छोड़कर, विशेष गुणी अथवा समान गुणी के परिचय में रहना, उसी प्रकार निचली भूमिका वालों को भी अपनी भूमिकानुसार समझ लेना। ●

(- वचनामृत-प्रचवन, 2/377)

दीक्षा के लिए तैयार भगवान शान्तिनाथ की भावना

‘जिस मार्ग पर अनन्त तीर्थङ्कर चले, उसी पथ का मैं पथिक बनूँगा। हमारे पुरुषार्थ की धारा टूटेगी नहीं, हम अप्रतिहत पुरुषार्थवाले हैं; अब हम अपने स्वभाव में ही ढलते हैं। जिस निर्विकल्प स्वभाव के गीत हम गाते थे, उसे प्रगट करने को अब हम तैयार हैं, अब हमारे स्वरूप में ठहरने का समय आ गया है। अब स्वभाव में लीन होने का भाव जागा है, उसे हम शिथिल नहीं होने देंगे। अखण्डानन्द स्वभाव की भावना के सिवाय अब हमें पुण्य-पाप का भाव नहीं आयेगा।’ — दीक्षा के लिए तैयार शान्तिनाथ भगवान ऐसी भावना भाते थे।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, महामहोत्सव प्रवचन, पृष्ठ ३१

वन्दना प्रतिक्रमण में युक्तता भी लाचारी

मुनिराज वन्दना-प्रतिक्रमणादि में लाचारी से युक्त होते हैं।

जिनको महाव्रतादि अट्टाईस मूलगुण के परिणाम भी, शुभराग होने से, दुःखरूप लगते हैं, जो अपने आनन्दकन्द चैतन्यस्वरूप की परिणति में अतीन्द्रिय आनन्द को उग्ररूप से देखते हैं-अनुभवते हैं, ऐसे वनवासी नग्न दिगम्बर भावलिङ्गी मुनिराज वन्दना-प्रतिक्रमण आदि षट् आवश्यक में ज्यों-त्यों युक्त होते हैं। प्रतिक्रमण, देव-गुरु, वन्दनादि के शुभविकल्प अस्थिरता के कारण अशक्ति से आते हैं परन्तु अन्तर में राग नहीं होने से उसके कर्तृत्व का उत्साह नहीं है, विवशता से अशक्ति के भाव से ज्यों-त्योंकर युक्त होते हैं।

केवलज्ञान नहीं होता इसलिए युक्त होना पड़ता है।

पुरुषार्थ की अशक्ति के कारण केवलज्ञान, पूर्णानन्द आदि पूर्णदशा प्रगट नहीं होती इसलिए प्रतिक्रमणादि शुभविकल्पों में लगना पड़ता है। मुनिराज को भूमिकानुसार ऐसे विकल्प बीच में आते अवश्य हैं परन्तु वे उन्हें रुचते नहीं हैं, अन्तर में ऐसे शुभराग की भी रुचि नहीं है। आनन्दमय निर्मलदशा में से बाहर आकर ऐसे शुभविकल्पों में लगना पड़े वह बोझ लगता है।

अहा! मुनिदशा किसे कहते हैं? सम्यग्दर्शन और स्वानुभूति बिना बाहर से नग्नता आदि द्रव्यलिङ्ग धारण कर ले, पञ्च महाव्रत के शुभ परिणाम में प्रयत्न परायण रहे, वह कोई सच्चा मुनिपना नहीं है। जिनके लिए 'आत्मा मात्र ज्ञान और आनन्दस्वरूप है, शुभाशुभ विभाव का एक कण भी मेरा स्वरूप नहीं है' - ऐसा स्वानुभव श्रद्धान तथा ज्ञान

प्रगट हुआ है और स्वरूप-रमणता बढ़ जाने से जिनको पर्याय में आनन्द से भरपूर प्रचुर स्वसंवेदन वर्त रहा है, उन्हें मुनिराज कहा जाता है।

समयसार में भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने अपना आत्मवैभव दर्शाया है। कैसा है वह वैभव ? निरन्तर झरता आस्वाद में आता हुआ, सुन्दर जो आनन्द उसकी छापवाला जो प्रचुर स्वसंवेदनस्वरूप स्वसंवेदन, उससे जिसका जन्म है। आचार्यदेव ने आगम का सेवन, युक्ति का अवलम्बन, परापर गुरु का उपदेश तथा प्रचुर स्वसंवेदन – ऐसे चार प्रकार से उत्पन्न हुए अपने ज्ञान के विभव से एकत्व-विभक्त शुद्ध आत्मा का स्वरूप बतलाया है। कुन्दकुन्दाचार्यदेव महासमर्थ भावलिङ्गी दिगम्बर सन्त थे, वि.सं. ४९ में इस भरतक्षेत्र में विचरते थे। वे सदेह विदेहक्षेत्र में श्री सीमन्धर भगवान के पास गये थे, वहाँ आठ दिन रहे थे, वहाँ केवली-श्रुतकेवली की वाणी सुनकर पश्चात् इन समयसारादि शास्त्रों की रचना की है। वे कहते हैं कि अतीन्द्रिय आनन्द के प्रचुर स्वसंवेदनस्वरूप निजवैभव द्वारा मैं इस एकत्व-विभक्त आत्मा को दर्शाऊँगा। अहा ! धन्य वह दशा !

भूमिकानुसार वह सब आता है परन्तु स्वभाव से विरुद्ध होने के कारण उपाधिरूप लगता है।

जिसे शुभराग का प्रेम है, उसे आत्मा के आनन्द की महिमा नहीं है और जिसे आत्मानन्द की महिमा है, उसे शुभराग दुःखरूप लगता है, विष जैसा भासित होता है। ऐसा होने पर भी मुनिराज को भी भूमिकानुसार पञ्च महाव्रत, पाँचसमिति तथा तीन गुप्ति के शुभ विकल्प आते हैं परन्तु अपने आनन्दस्वभाव से विपरीत उपाधिरूप होने से दुःखरूप लगते हैं। चतुर्थ गुणस्थान में देव-शास्त्र-गुरु तथ प्रत्यक्ष सत्पुरुष के प्रति श्रद्धा-भक्ति के भाव, पञ्चम गुणस्थान में अंशतः स्वरूपस्थिरता बढ़ने पर अणुव्रत, प्रतिमा के भाव और छठवें गुणस्थान में भावलिङ्गी सन्त को अट्टाईस मूलगुण के भाव भूमिकानुसार आते अवश्य हैं परन्तु वे शुभभाव भी राग होने से, वीतरागभाव से विपरीत होने के कारण, उपाधिरूप हैं, दुःखरूप हैं। सम्यग्दृष्टि उसे कहते हैं जिसे भूमिकानुसार शुभराग आने पर भी उसमें से सुखबुद्धि उड़ गई है, रागमात्र दुःखरूप, उपाधिरूप लगता है।

प्रश्न : यदि ज्ञानी को शुभभाव दुःख और उपाधिरूप लगते हैं तो वह पूजा-भक्ति के तथा व्रत-तप के शुभभाव क्यों करता है ?

उत्तर : ज्ञानी शुभभावों को कर्ताबुद्धि से नहीं करता किन्तु भूमिकानुसार अशक्ति के कारण अशुभ से बचने के लिए ऐसे भाव आये बिना नहीं रहते। पूजा-भक्ति के भाव, व्रत-तप के भाव, शास्त्र-स्वाध्याय के भाव, उपदेशादि के भाव इत्यादि अनेक प्रकार के विकल्प भूमिकानुसार आते अवश्य हैं, परन्तु वे सब भाव आनन्दनिधि निज ज्ञायकस्वरूप से विरुद्ध जाति के हैं, इसलिए उपाधि और दुःखरूप हैं। लोग कहते हैं - शुभभाव व्यवहार है और व्यवहार करते-करते निश्चय शुद्धभाव हो जाएगा। भाई! लहसुन खाते-खाते क्या कस्तूरी की डकारें आ सकती हैं? वैसे ही राग की क्रिया अथवा शुभभाव करते-करते क्या कल्याण-धर्म हो सकता है? उसमें तो धूल भी धर्म या कल्याण नहीं है अर्थात् शुभभाव से धर्म माने उसे पुण्यानुबन्धी पुण्यबन्ध भी नहीं होता। जिसने शुभराग में धर्म माना है, वह मिथ्यादृष्टि है, उसे मिथ्यादृष्टि के महापाप के साथ पापानुबन्धी पुण्यबन्ध होता है। अहा! बड़ी कठिन बात है भाई!

आजकल तो सम्प्रदाय में सब क्रियाकाण्ड की धमाल में फँस गये हैं। व्रत किये और तप किये, प्रतिष्ठा करवायी और गजरथ चलाया, किन्तु भाई! इन सबमें भीतर यदि राग की मन्दता की हो तो वह शुभभाव है, धर्म नहीं है। जिससे धर्म होता है ऐसी तेरी वस्तु तो अन्तर में समस्त शुभाशुभ विकल्पों से रहित शुद्ध आनन्दकन्द है उस पर दृष्टि करने से जिसे साधकदशा प्रगट हुई है, ऐसे ज्ञानी को भी भूमिकानुसार शुभभाव आते हैं परन्तु वे उपाधिरूप लगते हैं। अज्ञानी को 'शुभभाव भी उपाधि है' - ऐसी खबर ही नहीं है, वह तो उसे धर्म का यथार्थ साधन मानता है। क्या किया जाए? अहा! परम सत्य की यह बात समझने के लिए कितना धैर्य चाहिए?

स्वभाव निष्क्रिय है उसमें से मुनिराज को बाहर आना नहीं सुहाता।

क्या कहते हैं? चैतन्यमूर्ति आनन्दकन्द भगवान् आत्मा का स्वभाव तो रागादि समस्त क्रिया से रहित है-निष्क्रिय है। त्रैकालिक ध्रुव ज्ञायक स्वभाव वास्तव में तो समस्त पर्यायों से भी रहित है-रागादि विभाव क्रिया से तो भिन्न है परन्तु सम्यग्दर्शनादि अपूर्व

निर्मल स्वभावक्रिया से भी भिन्न है। त्रैकालिक निष्क्रिय ध्रुव स्वभाव के उग्र आलम्बन से मुनिराज को जो रागादि विभावक्रियारहित निष्क्रिय निर्मलदशा प्रगटी है – ज्ञायकस्वभाव के आश्रय से निर्विकल्प अभेद निष्क्रिय दशा प्रगट हुई है, उसमें से बाहर आना उन्हें रुचता नहीं है – अच्छा नहीं लगता। अहा! ऐसी बातें हैं... आया कुछ समझ में ?

जो सम्यग्दर्शनादि धर्म प्रगट हुआ उस पर धर्मी की दृष्टि नहीं है, उसकी दृष्टि त्रिकाल निष्क्रिय नित्यानन्द ध्रुव ज्ञायक पर है। मुनिराज को ध्रुव ज्ञायक निक्रिष्य स्वभाव का जो आश्रय वर्त रहा है, उसमें से उन्हें बाहर आना नहीं रुचता। क्या कहते हैं ? आनन्दसागर चैतन्यप्रभु में जिसकी दृष्टि पहुँच गई है – स्थिरता हो गई है, उसे उसमें बाहर आना-विकल्पों में आना नहीं रुचता। अहा! सच्चे सन्त उन्हें कहा जाता है, जिन्हें सुख की प्रचुर स्वसंवेदन दशा प्रगटी हो। जो बाह्य क्रियाकाण्डी अथवा द्रव्यलिङ्गी है, वह वास्तव में मुनि नहीं है। सच्चे मुनि को व्रतादि के शुभभाव होते हैं परन्तु उनके अन्तर में उनकी रुचि नहीं है। व्रतादि की क्रिया जड़ की पर्याय है, आत्मा उसका कर्ता नहीं है; शुभभाव आता है परन्तु वह तो राग है। मुनिराज को बाह्य राग में आना रुचता नहीं है।

जिसे जो कार्य न रुचे वह कार्य उसे भाररूप लगता है।

सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा को तो अपना आनन्द रुचता है। आनन्द के सिवा राग की क्रिया उसे भाररूप लगती है। अतीन्द्रिय स्वरूपानन्द के स्वादी को भूमिकानुसार जो राग आता है, वह बोझरूप लगता है। समयसार के निर्जरा अधिकार में आता है न ? कि कोई जीव महाव्रत और तप के भार से-बोझ से दीर्घकाल तक टूट मरते हुए क्लेश प्राप्त करते हों तो करो परन्तु जो साक्षात् मोक्षरूप है, निरामय पद है और स्वयं संवेद्यमान है – ऐसा यह ज्ञान तो ज्ञानगुण के बिना किसी भी प्रकार वे प्राप्त कर ही नहीं सकते। ज्ञानी को तो ज्ञानानन्दस्वभाव का वेदन-अनुभव हुआ है; उसे जो भगवान की भक्ति आदि के शुभभाव आते हैं, वे भाररूप लगते हैं; वे भाव उसे नहीं रुचते। कन्दमूल नहीं खाना, ब्रह्मचर्य का पालन करना, व्रत-उपवास करना, भक्ति करना, मन्दिर बनवाना – यह सब तो राग और क्रिया की बातें हैं। रागमन्द हो तो पुण्यबन्ध होता है परन्तु उससे वीतरागता नहीं होती।

धर्मात्मा को जो धर्मानुराग आता है वह वीतराग का धर्म है ही नहीं, उससे तो भगवान ने पुण्यबन्ध कहा है। 'भावपाहुड़' में आता है न! —

पूजादि अरु व्रत में जिनेन्द्र ने पुण्य कहा है शासन में।
है धर्म कहा है मोहक्षोमविहीन निज परिणाम को।

ज्ञानी धर्मात्मा को विषय-वासना के भाव भी आते हैं परन्तु वे उसे अच्छे नहीं लगते। पुरुषार्थ की कमजोरी है इसलिए ऐसे भाव आते हैं। ज्ञानी को शुभभाव तो काले नाग जैसे लगते हैं और जो शुभभाव आते हैं, वे उपाधिरूप-बोझरूप लगते हैं। ज्ञानी को रुचि विभाव के कार्य में नहीं है; जिसमें उसे रुचि नहीं है, वह कार्य उसे बोझरूप-दुःखरूप लगता है। ●

[(बहिनश्री के वचनामृत, वचनामृत ३१७) वचनामृत प्रवचन, 3/236]



अहाहा! मुनिपना तो ऐसा है भाई!

चक्रवर्ती के पुत्र राजकुमार, पूर्ण सुख-सुविधाओं में जिनका पालन-पोषण हुआ हो, वे भी जब सम्यग्दर्शनसहित आत्मा का विशेष अनुभव करने के लिए वन में जाते हैं; तब कहते हैं — 'माता! मुझे कहीं अच्छा नहीं लगता, मुझे जहाँ अच्छा लगता है, ऐसे अपने स्वरूप में ही मैं जाना चाहता हूँ। मेरा नाथ भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द से परिपूर्ण है; उसमें आवरण, अशुद्धि या अपूर्णता नहीं है। मेरा ज्ञायक प्रभु पूर्णानन्द का नाथ है, उसके आनन्द को लूटने के लिए, अनुभवने के लिए मैं तो जाता हूँ। अहाहा! मुनिपना तो ऐसा है भाई!

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, द्रव्यदृष्टि जिनेश्वर, बोल ६५२

कब नष्ट हो जाता है चारित्र ?

यद्यपि जैनदर्शन में विनय का अत्यधिक महत्व बताया गया है, तथापि योग्य स्थान पर विनय का अभाव और अयोग्य स्थान पर विनय का सद्भाव निषिद्ध है। यह बात मुनिराजों पर भी लागू होती है। इस नियम का उल्लंघन करनेवाले का चारित्र नष्ट हो जाता है। इस तथ्य को प्रवचनसार गाथा 265 से 267 तक आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने उद्घाटित किया है। इन गाथाओं पर हुए पूज्य गुरुदेवश्री के मङ्गल प्रवचन इस प्रकार हैं।

अब, जो मुनिपने में समान है, उसका अनुमोदन नहीं करनेवाले का विनाश बतलाते हैं।

अववददि सासणत्थं समणं दिट्ठा पदोसदो जो हि।

किरियासु णाणुमण्णदि हवदि हि सो णट्ठचारित्तो ॥२६५॥

जो शासनस्थ, अर्थात् जिनदेव के शासन में रहे हुए श्रमण को देखकर, द्वेष से उसका अपवाद करता है और सत्कार आदि क्रियाएँ करने में अनुमत्त, अर्थात् प्रसन्न नहीं है, उसका चारित्र नष्ट होता है।

जो भावलिङ्गी मुनिराज दूसरे भावलिङ्गी मुनि का अपवाद करें, द्वेष करें तो उन मुनिराज का चारित्र नष्ट हो जाता है। स्वयं का दोष होने पर भी वह ठीक है – ऐसा माने, दोष को दोष के रूप में स्वीकार नहीं करे तो वह श्रद्धा से भी भ्रष्ट होता है। यहाँ वस्त्रसहित कहे जानेवाले मुनि अथवा द्रव्यलिङ्गी मुनि की तो बात ही नहीं है। भगवान के द्वारा कथित

स्वरूप को जानकर अन्तरश्रद्धा प्रगट करके चारित्र प्रगट किया है – ऐसा मुनि, दूसरे भावलिङ्गी मुनि हों परन्तु अल्प क्षयोपशमवाले हों, अच्छा पढ़ना अथवा व्याख्यान करना न आता हो; उनकी ईर्ष्या करे तो चारित्र में दोष आता है।

किसी मुनि को क्षयोपशम कम हो, अवधि अथवा मनःपर्ययज्ञान भी न प्रगटे तथा मति-श्रुतज्ञान का विकास भी बहुत कम हो; द्रव्यवचन में निमित्त होनेयोग्य भाववचन भी न हो तो मुनि को क्षोभ नहीं होता कि ऐसा क्यों ? क्योंकि केवलज्ञान प्रगट होने का मूल हाथ में है तो सीधा केवलज्ञान प्रगट हो जाएगा। जिस प्रकार राज्य का पैसा कोई लूट ले जाए परन्तु राज्य हाथ में हो तो आमदनी होती रहती है और दो वर्ष में वापस खजाना भर जाता है; इसी प्रकार किसी मुनि को अवधि अथवा मनःपर्ययज्ञान न हो और मति-श्रुतज्ञान का विकास भी अल्प हो परन्तु चैतन्यस्वभाव हाथ में है तो वह अन्तर्मुहूर्त में शुक्लध्यान प्रगट करके केवलज्ञान प्राप्त कर लेगा। इसलिए किसी मुनि को ज्ञान का विकास कम हो अथवा अधिक हो; किसी मुनि को बाहर में मान-प्रतिष्ठा अधिक हो या कम हो तो भी सभी भावलिङ्गी मुनि एक ही प्रकार के हैं। जिस प्रकार माला के सभी मोती एक प्रकार के हैं, उसी प्रकार केवलज्ञान प्राप्त करने के लिए आये हुए सभी साधक, मोती के समान हैं, वे एक के बाद एक केवलज्ञान लेनेवाले हैं। इसीलिए भावलिङ्गी मुनि को दूसरे भावलिङ्गी मुनि की अनदेखी नहीं करना चाहिए।

वर्तमान में मुनि नाम धराकर मुनि के नाम को लजाते हैं; एक-दूसरे को एक-दूसरे की धर्मशाला / ठहरने के स्थान में उतरने नहीं देते, मानो जमीन के मालिक हो गये हों; यहाँ तो व्यवहार का भी ठिकाना नहीं है... शान्ति रखना चाहिए... किसी के प्रति द्वेष नहीं करना चाहिए।

यहाँ तो जो भावलिङ्गी मुनिराज दूसरे भावलिङ्गी मुनि का आदर-सत्कार आदि क्रिया में प्रसन्न नहीं हैं और द्वेष से रँगे हुए हैं, उनका चारित्र नहीं रहता है। अस्थिरतावश द्वेष हुआ, उसे दोष नहीं मानकर गुण माने तो दर्शन भी नहीं रहता है। चारित्रभ्रष्ट जीव तो फिर से चारित्र प्राप्त कर लेता है; दर्शनभ्रष्ट को तो फिर से सन्धि करना कठिन पड़ती है। चारित्र की कमजोरीवाला जीव विचारता है कि कमजोरीवश द्वेष हो गया, पामरता आ गयी,

मेरी प्रभुता में ऐसी पामरता नहीं पोषाती क्योंकि पामरता आने से वीतरागी समता नहीं रहती। इसलिए विचार करके पुरुषार्थ लाकर स्वरूपलीनता में सन्धि कर लेता है।

यहाँ चरणानुयोग का अधिकार है। यदि मुनि भूल करें तो चारित्र से गिरते हैं – ऐसा साधकदशा का यथार्थ ज्ञान कराया है। वह वीतराग का मार्ग है, वीतराग के मार्ग में रञ्चमात्र भी दोष नहीं चलता है।

अब, जो श्रामण्य में अधिक हों, उनके प्रति, मानों कि वे श्रामण्य में हीन हों – ऐसा आचरण करनेवाले का विनाश बतलाते हैं।

गुणदोधिगस्स विणयं पडिच्छगो जो वि होमि समणो त्ति ।

होज्जं गुणाधरो जदि सो होदि अणंतसंसारी ॥२६६ ॥

अर्थात् जो श्रमण गुणों में हीन होने पर भी 'मैं भी श्रमण हूँ' – ऐसा मानकर, अर्थात् गर्व करके गुणों में अधिक (ऐसे श्रमण) के पास से विनय (करवाना) चाहता है, वह अनन्त संसारी होता है।

देखो, यह चरणानुयोग का अधिकार है। आत्मा की दृष्टि शुद्ध स्वभाव पर होने पर भी, स्वरूप में लीनतारूपी चारित्रदशा होने पर भी, उस-उस गुणस्थान में उसके योग्य विनय आदि करे तो मुनिदशा रहती है। अपने से अधिक मुनियों का विवेक नहीं रखे तो चारित्र नहीं रहता। आत्मा शुद्ध है – ऐसी द्रव्यदृष्टि और समय-समय की पर्याय का विवेक मुनिराज को होता है; यदि न हो तो वे चारित्रभ्रष्ट होते हैं और सर्वथा विवेक छूट जाए तो दर्शनभ्रष्ट हो जाते हैं।

अब, इस गाथा में यह कहना है कि दूसरे मुनि की अपेक्षा अपनी निर्मलता कम होने पर भी, मैं भी मुनि हूँ – ऐसा गर्व लाकर, अपने से अधिक महात्मा से विनय की इच्छा रखे तो वह पर्याय का विवेक नहीं रखता; इसलिए चारित्र से भ्रष्ट होता है और यदि सर्वथा विवेक भूल जाए तो दर्शनभ्रष्ट होकर अनन्त संसारी होता है।

कोई कहता है कि सबके साथ समान भाव रखें तो ?

भाई! जो वस्तुस्वरूप हो, वह समझना चाहिए। जो पुण्य से अथवा निमित्त से धर्म

मानते हों, उनके साथ समानपना रखना, वह तो मिथ्यादृष्टिपना है। विपरीतमान्यतावाले का आदर नहीं करना तथा द्वेष भी नहीं करना, मध्यस्थ रहना। जो पुरुष, पर्याय में सर्वज्ञदशा को प्राप्त है, वह पूज्य है परन्तु पर्याय में सर्वज्ञपना प्रगट न हो, वह सर्वज्ञ के रूप में पूज्य नहीं है। शक्ति अपेक्षा तो सभी समान हैं; निगोद का जीव, कौए का जीव और भगवान का जीव, सब शक्ति अपेक्षा तो सिद्धसमान हैं, तथापि जिसकी पर्याय आगे बढ़कर सर्वज्ञदशारूप से व्यक्त हुई है, उसका आदर होता है और उसके अतिरिक्त अन्य जीव का आदर नहीं होता। निगोद के अथवा कौए के जीव के पैर नहीं पड़ता। कुदेव और सुदेव; कुगुरु और सुगुरु; पात्र और अपात्र; सज्जन और दुर्जन – इस प्रकार दोनों के बीच जैसा भेद है, वैसा जानना, वह समदर्शिता है। दोनों समान हैं – ऐसा मानना, वह समदर्शीपना नहीं है; वह तो मिथ्याभ्रान्ति है।

माता और स्त्री दोनों नारी जाति है, तथापि वहाँ विवेक रखता है। रोटी और अभक्ष्य पदार्थ दोनों पुद्गल परमाणुओं के स्कन्ध हैं, तथापि धर्मी जीव का लक्ष्य रोटी पर जाएगा किन्तु अभक्ष्य पदार्थ पर लक्ष्य नहीं जाएगा क्योंकि दोनों की वर्तमान पर्याय में अन्तर है। इस दृष्टान्त से मुनि के रूप में सब समान होने पर भी, प्रत्येक की पर्याय में अन्तर है; इसलिए पर्याय का विवेक होना चाहिए।

जो मुनि बहुत गर्व करता है और अधिक निर्मलतावाले मुनि से विनय चाहता है, उसे वस्तु स्वभाव का तथा धर्मात्मा का अनादर वर्तता है। वह भले ही शास्त्रपाठी हो अथवा व्रत-तप करता हो तो भी अनन्त संसारी है। श्री कुन्दकुन्दाचार्य भगवान तो एकदम कड़क सत्य बात करते हैं। उन्होंने मुनिपने के स्वरूप में भी कहा था कि चारित्रदशा में वस्त्र का राग नहीं होता, तथापि वस्त्र का राग रखकर मुनिपना मनानेवाला निगोद में जाएगा। उसी प्रकार यहाँ भी कहते हैं कि जो जीव, पर्याय का विवेक नहीं रखता और गर्व करता है; अधिक गुणवान मुनि से आदर चाहता है तो उसे नम्रता नहीं रहती, उसे पर्याय का विवेक नहीं है; इसलिए वह अनन्त संसारी होता है। यहाँ मुनि की बात की है तो इसमें श्रावक और समकिति भी आ जाते हैं, वे भी अपने से अधिक गुणवालों से विनय कराना चाहें तो वे भी अनन्त संसारी होते हैं।

कोई कहता है कि हमें श्री कुन्दकुन्दाचार्य का मानना या अन्यमत में बड़े हो गये हों उनका मानना ?

भाई! सर्वज्ञ से विपरीत जितने मत हैं, जो कोई आत्मा को एकान्त कूटस्थ मानते हैं और परिणामी, अर्थात् बदलता हुआ नहीं मानते हैं तथा दूसरे प्रकार से एकान्त मान्यतावाले हों तो वे गृहीत मिथ्यादृष्टि हैं, उनकी तो बात ही नहीं है, उन्हें मानना नहीं हो सकता है। यहाँ तो सच्चे देव-शास्त्र-गुरु को माननेवाले सच्चे भावलिङ्गी मुनि भी, पर्याय का विवेक भूलकर गर्व करें तो वे अनन्त संसारी हो जाते हैं – यह बताया है।

अब, जो श्रमण, श्रामण्य में अधिक होते हैं, वे यदि अपने से हीन श्रमण के प्रति अपने समान आचरण करते हैं तो उनका विनाश दर्शाते हैं।

अधिगगुणा सामण्णे वट्टंति गुणाधरेहिं किरियासु।

जदि ते मिच्छुवजुत्ता हवंति पब्भट्टुचारित्ता ॥२६७॥

अर्थात् जो श्रामण्य में अधिक गुणवाले हैं, तथापि हीनगुणवालों के प्रति (वन्दनादि) क्रियाओं में वर्तते हैं, वे मिथ्या उपयुक्त होते हुए चारित्र से भ्रष्ट होते हैं।

जो जीव बाहर का वेष अथवा त्याग देखकर जहाँ-तहाँ विनय करता है, वह विनयमिथ्यादृष्टि है। एक राजा भगवा वस्त्र जहाँ-जहाँ देखे, वहाँ पैर पड़ता था, उसे किसी अज्ञानी ने कह रखा था कि भगवा कपड़े पहने हुए दिखाई दें, उनके पैरों पड़ना चाहिए। एक बार एक गधे पर भगवा कपड़ा फैला हुआ देखकर राजा अपने हाथी से उतर कर उसके पैरों में पड़ने लगा। इससे एक साधु ने कहा कि भगवा वस्त्र, वह साधु का चिह्न नहीं है। मात्र बाह्य से साधु नाम धराये, वह साधु नहीं कहा जाता। जो जीव बाहर का त्याग देखकर जहाँ-तहाँ नमन करता है; सामने त्यागी दिखनेवाला जीव मुनि है या नहीं, उसकी परीक्षा नहीं करता और बाह्यत्याग देखकर विनय करता है, वह विनयमिथ्यादृष्टि है।

जो मुनि दूसरों से अधिक गुणवाला होने पर भी, दूसरे हीन मुनियों के प्रति वन्दन-सत्कार आदि विधि में वर्तता है, तो वह अपने स्वरूप की सावधानी चूक जाता है, पर्याय का विवेक भूल जाता है, वह मिथ्याभाव में जुड़ता है, इसलिए चारित्र से भ्रष्ट हो जाता है।

जो अन्यमतवाले त्यागी होकर अथवा वस्त्रसहित मुनिपना मनवाते हैं, उनकी तो बात ही नहीं है, उनके प्रति आदर नहीं हो सकता परन्तु यथाजात भावलिङ्गी मुनि की बात है। अधिक गुणवाले मुनि को अपने से हीन मुनि की वन्दना भी नहीं करना चाहिए, तथापि मोह के वश होकर हीनदशावाले को प्रसन्न रखने के लिए वन्दन करता है तो वह चारित्र से च्युत होता है। ●

[सद्गुरु प्रवचन प्रसाद (हस्तलिखित दैनिक) गुजराती]



मुनिदशा अर्थात् प्रगट परमेश्वर पद

प्रश्न - यह तो मुनि की बात है, इससे हमें क्या ?

उत्तर - भाई! मुनिदशा कैसी होती है, उसका ज्ञान तो करना पड़ेगा न? पञ्च परमेष्ठी में अरहन्त और सिद्ध परमेष्ठी देव हैं और आचार्य, उपाध्याय तथा साधु परमेष्ठी — यह तीन गुरु हैं। गुरु का यथार्थ स्वरूप कैसा है, वह जाने बिना अन्तर साधना का स्वरूप कैसे समझ में आयेगा? इसलिए साधकदशा - मुनिपना और श्रावकपना क्या वस्तु है, वह समझना पड़ेगा। भावलिङ्गी सच्चे सन्त को अन्तर में बहुत निर्मलता बढ़ गई है, उन्हें तो उपदेश देते-देते भी उपयोग अन्तर स्वरूप में चला जाता है।

जिस प्रकार ज्ञायकस्वभाव में शक्तिरूप परमेश्वरता है; उसी प्रकार व्यक्तिरूप परमेश्वरपद मुनिराज को प्रगट हुआ है, क्योंकि वे परमेष्ठी हैं न? उन्हें भूमिकानुसार महाव्रतादि के विकल्प आते हैं, परन्तु उपयोग तत्काल अन्तर आनन्द के नाथ में शीघ्रता से चला जाता है।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, वचनामृत प्रवचन, २/२२२

आचार्यदेव की सीख यदि दुःख से छूटने की भावना हो तो....

मुनि को संयम, नियम और तप – सब में आत्मा समीप होता है। अहा! तू तो आत्मा की साधना करने निकला है... वहाँ यह लौकिकजनों के परिचय का रस क्यों ?

तुझे शुद्धि बढ़ाना हो, दुःख से छूटने की भावना हो तो अधिक गुणवाले या समान गुणवाले आत्मा के सङ्ग में रहना।

लौकिक सङ्ग तेरा पुरुषार्थ मन्द होने का कारण होगा। विशेष गुणी का सङ्ग तेरे चैतन्यतत्त्व को निहारने की परिणति में विशेष वृद्धि का कारण होगा।

अचानक आ पड़े असत्सङ्ग में तो स्वयं पुरुषार्थ रखकर अलग रहे परन्तु स्वयं रसपूर्वक यदि असत्सङ्ग करेगा तो अपनी परिणति मन्द पड़ जाएगी।

— यह तो स्वरूप में झूलते हुए मुनियों को (आचार्यदेव की) सीख है। निश्चय-व्यवहार की सन्धि ही ऐसी है। इस प्रकार अपनी भूमिकानुसार सबको समझ लेना है।

अहा! मुनि किसे कहते हैं ? बाहर से नग्न हो गये, स्त्री-बच्चों को छोड़ दिया, वह तो धूल भी साधुपना नहीं है। 'साधयति इति साधुः।' अर्थात् जो आत्मस्वरूप साधे, वह साधु है। जहाँ अभी वस्तु स्वरूप का भी पता नहीं है, वहाँ साधुपना आया कहाँ से ?

यहाँ उत्कृष्ट मुनि की बात ली है। मुनि को संयम, नियम और तपादि में आत्मा समीप होता है। श्रद्धा-अपेक्षा से तो चतुर्थ गुणस्थान में भी आत्मा समीप होता है परन्तु यहाँ मुनिदशा की बात कही है। नियमसार की 127 वीं गाथा में कहा है —

संयम-नियम-तप में अहो! आत्मा समीप जिसे रहे।
स्थायी समाधिक है उसे, यों केवली शासन कहे ॥

जिस मुनि को संयम में, नियम में, तप में और सत्चारित्र में निज कारणपरमात्मा सदा समीप, अर्थात् निकट है; आत्मा सदा ऊर्ध्व रहता है, उस परद्रव्यपराङ्मुख परम वीतराग सम्यग्दृष्टि, वीतराग-चारित्रवन्त को सामायिकव्रत स्थायी है – ऐसा केवलियों के शासन में कहा है।

संयम = सं + यम्, अर्थात् सम्यक् प्रकार से इन्द्रियों तथा वासनाओं का दमन। त्रैकालिक ज्ञायकभाव को सम्यक् प्रकार से जानकर, स्वरूप में विशेष स्थिर होना / आत्मानुभव में विशेष लीन होना, उसका नाम संयम और नियमादि है। आत्मा की प्रतीति के बिना बाह्य नियम तो जीव ने अनन्त बार किये परन्तु उससे क्या? ऐसे कठिन नियम धारण किये कि छह-छह महीने के उपवास के पारणे हेतु जब आहार लेने निकले, तब भिक्षा देनेवाली स्त्री का नाम मोती हो, उसने मोती भरी हुई साड़ी पहनी हो, साड़ी के पल्ले में मोती बँधा हो और मोतीचूर के लड्डू बनाये हों – ऐसा योग होगा तो आहार लूँगा, अन्यथा देहान्त होने तक आहार नहीं लूँगा, परन्तु आनन्दमूर्ति भगवान आत्मा यदि समीप नहीं वर्ते तो, उसे संयम-नियम नहीं कहा जाता।

प्रश्न : तप किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिसे शुद्धात्मा का श्रद्धान, ज्ञान और अनुभव हुआ है, उसे स्वरूप में विशेष स्थिरता होने पर, इच्छा का निरोध करके आनन्द का जो उग्र स्वाद आता है, उसका नाम तप है। **स्वरूपे प्रतपनं तपः।** जैसे, सोना, गेरु से दमकता है, शोभता है; उसी प्रकार भगवान आत्मा अन्तर आनन्द की दशा में उग्ररूप से प्रतपन करता है, उग्ररूप से शोभता है, उसका नाम तप है; शेष सब लंघन है।

देश की समस्या के लिए उपवास पर बैठ जाते हैं, उसमें रञ्चमात्र भी संयम या तप नहीं है, वह तो राग की तथा बन्ध की क्रिया है। बन्धन के फल में तो गति मिलती है। यहाँ तो कहते हैं कि जब आनन्द का नाथ निज शुद्धात्मा, समीप होता है, तब संयम और नियम कहे जाते हैं। अहा! बात-बात में फेर है। यह मार्ग ही अलग है भाई!

अनन्तकाल से परिभ्रमा, विनाभान भगवान;
सेव्या नहि गुरुसन्त को, छोड़ा नहि अभिमान।

आत्मा की प्रतीति के बिना जीव अनन्त काल से भटक रहा है। ज्ञानी-धर्मात्मा क्या कहते हैं? – वह नहीं माना। पैर दबाना वह कोई सेवा नहीं है; उन्होंने जो तत्त्व कहा, उसे अन्तर में स्वीकार करना, वह सेवा है। अनादि से सत्पुरुष को कभी अन्तर से नहीं माना और 'मैं जानता हूँ, मुझे आता है' – ऐसे अभिमान में जीवन व्यतीत कर दिया है। प्रभु! जीव ने अनन्त भव किये हैं। भवों का आदि है? आदि हो तो कब से भव प्रारम्भ हुए? जैसे, आत्मा अनादि है, वैसे ही उसके भव भी अनादि हैं। भाई! अपना भूतकाल देख! भव... भव... भव।अरे! उन भवों का कोई अन्त है या नहीं? भाई! उन भवों का अन्त लानेवाली वस्तु जो भीतर विद्यमान है, उसे समीप नहीं लाया; उस ज्ञायक भगवान से दूर ही रह गया।

आनन्दस्वरूप को साधे, शक्ति के आलम्बन से व्यक्तता प्रगट करे, वह साधु है। जिस प्रकार छोटी पीपल में चौंसठ-पहरी चरपराहट भरी है, वह घोंटने से व्यक्त होती है; उसी प्रकार भगवान आत्मा में ज्ञान और आनन्द की पूर्ण शक्ति भरी पड़ी है; उस ज्ञानानन्दस्वभावी आत्मा को समीप लेकर, उसकी एकाग्रता से राग को दूर करके, तुझे भगवान आत्मा की पूर्ण साधना करना है... वहाँ यह लौकिकजनों के परिचय का प्रेम क्यों? सभा में राजा आये या सेठ आये; तू उन्हें प्रसन्न करने के लिए रुकता है – यह सब किसलिए? दुनिया को सन्तोष हो, सभाजन कैसे प्रसन्न हों – यह सब तू क्यों करता है? क्या तुझे लोकरञ्जन करना है? यहाँ तो कहते हैं कि जिसे आत्मा की प्रतीति नहीं है, चैतन्य की दृष्टि नहीं है – ऐसे लौकिकजनों का परिचय करने से तुझे क्या लाभ होगा? उनका परिचय छोड़कर अपने स्वभाव का परिचय कर।

इस बोल में मुनि की मुख्यता से कथन है। जिन्हें सङ्ग और राग से भिन्न निज ज्ञायक प्रभु की दृष्टि और अनुभव हुआ हो और पश्चात् स्वरूप में विशेष रमणता होने से संयम, नियम तथा तपादि अनुष्ठान में भगवान आत्मा सदा समीप वर्तता हो, वे सच्चे मुनि हैं। ऐसे मुनि को श्री आचार्यदेव कहते हैं कि पूर्णानन्दस्वरूप आत्मा तेरे अनुभव में आया

है और चरित्र, अर्थात् स्वरूप की विशेष रमणता भी प्रगट हुई है परन्तु उससे विशेष शुद्धि बढ़ाना हो, दुःख से सम्पूर्णतया छूटने की भावना हो, तो जिनमें अपने से अधिक गुण हों अथवा समान गुण हों, उनके सङ्ग में रहना ।

यहाँ तो यह कहना है कि सङ्ग करना पड़े तो किसका करना ? यदि असङ्गतत्व में / अपने ज्ञायकस्वरूप में सम्पूर्ण स्थिरता हो सके तब तो सर्वश्रेष्ठ है परन्तु मुनि भी इस प्रकार सदा असङ्ग नहीं रह सकते । अन्तर में ज्ञायक प्रभु, दृष्टि एवं स्थिरता से जागृत तो हुआ है परन्तु स्थिरता में अभी कचास / कमी है; इसलिए उपयोग स्वानुभव में से बाहर तो आ जाता है, विकल्प तो आते हैं । ऐसे सन्त से कहते हैं – अपने से अधिक गुणवाले अथवा समान गुणवाले साधक सन्त के समागम में रहना ।

प्रवचनसार की चरणानुयोगसूचक चूलिका में कहा है न! —

यदि चाहते हो मुक्त होना दुखों से तो जान लो ।

गुणाधिक या समान गुण से युक्त की संगति करो ॥ २७० ॥

लौकिकजन के सङ्ग से संयत भी असंयत होता है । इसलिए यदि श्रमण, दुःख से परिमुक्त होना चाहता हो तो वह समान गुणवाले अथवा अधिक गुणवाले श्रमण के सङ्ग में नित्य बसे । जिस प्रकार शीतल घर के कोने में रखा हुआ पानी शीतल रहता है और बर्फ के सङ्ग से शीतल हो जाता है; उसी प्रकार समान गुणवाले के सङ्ग से श्रमण के गुणों की रक्षा होती है और अधिक गुणवाले के सङ्ग से उसके गुणों की वृद्धि होती है ।

यह उपदेश मुख्यरूप से मुनि को लक्ष्य में रखकर है । जिन्होंने अभी व्यापार-धन्धा नहीं छोड़ा है, सांसारिक पाप प्रवृत्तियों में पड़े हैं – ऐसे राजाओं तथा सेठों का सङ्ग तुझे हानि पहुँचायेगा । अग्नि के सङ्ग से पानी की भाँति, लौकिक सङ्ग से तेरी साधना विकारी हो जाएगी, असंयतपना आ जाएगा; इसलिए यदि शुद्धि की वृद्धि करना हो तो अपने से शुद्धि में अधिक हों अथवा समान गुणवाले हों, उनका सङ्ग करना । राजा और सेठ आये हैं; इसलिए उपदेश दूँ, उन्हें सन्तुष्ट रखूँ – ऐसे विकल्प तुझे हानि करेंगे । विशेष गुणी का सङ्ग तुझे अपनी परिणति में विशेष वृद्धि का कारण होगा और समान गुणी के सङ्ग में तेरी साधनापरिणति की रक्षा होगी, इसलिए लौकिकजन का सङ्ग छोड़कर गुणी के सङ्ग में निवास करना ।

जिनकी दृष्टि विपरीत है और जो विषय-कषाय में रत हैं – ऐसे धर्म -विमुख लौकिकजनों के सङ्ग का कोई अप्रत्याशित प्रसङ्ग आ जाए तो उस समय स्वयं अपने पुरुषार्थ द्वारा सावधानी रखकर पृथक् रहे परन्तु यदि स्वयं ही रसपूर्वक, उनके आदरपूर्वक, परिचय करे तो उसकी परिणति मन्द हो जाएगी, वह साधना से विचलित हो जाएगा ।

अहा ! यह तो स्वरूप में झूलते हुए तथा वन-जङ्गल में विचरते हुए मुनियों की बात है । स्वरूप रमणतारूप अन्तर की शुद्धि और भूमिकानुसार आनेवाले व्रतादि के विकल्प-यह दोनों निश्चय और व्यवहार का सुमेल है । उन दोनों की सन्धि ही ऐसी है कि मुनि, अन्तर स्वरूप में जाएँ और बाहर आयें, अर्थात् व्यवहार-विकल्प आये तो अच्छे गुणी का-अधिक गुणवान का सङ्ग करे ।

सम्यग्दर्शन के अभिलाषी को कुदेव, कुगुरु और कुशास्त्र का, सत्य -असत्य की परीक्षा करके, सङ्ग छोड़ देना चाहिए । सच्चे देव, शास्त्र और गुरु का सङ्ग मिले-सत्समागम करे तो अन्तर में परमपुरुष के समीप जाए । स्वयं स्वभाव सन्मुख दृष्टि की तो सत्समागम तथा उसके विकल्प को निमित्त कहा जाता है । अन्तर में स्वभाव का लक्ष्य न करे तो सच्चे देव, शास्त्र और गुरु के प्रति बहिर्लक्ष्यी विकल्प तो बन्ध का कारण है । जैसे, मुनियों को आचार्यदेव का उपदेश है कि लौकिकजनों के परिचय का रस छोड़कर, विशेष गुणी अथवा समान गुणी के परिचय में रहना; उसी प्रकार निचली भूमिकावालों को भी अपनी भूमिकानुसार समझ लेना चाहिए । ●

(- वचनमृत-प्रवचन, 1/377)

(बहिनश्री के वचनमृत - २२९ पर पूज्य गुरुदेवश्री का प्रवचन)



मुनिराज के उत्तर गुण

दशलक्षण धर्म : वीतरागभाव

जो मुनिधर्म, क्षमादि भावों से दश प्रकार का है, वह कैसा है ? सौख्यसार, अर्थात् उससे सुख होता है। वीतराग का मार्ग सुखरूप है; उकताहट लगे - ऐसा नहीं है। अज्ञानी, चारित्र को कष्टरूप कहता है; बालू / रेत के ग्रास जैसा और दूध के दाँत से लोहे के चने चबाने जैसा कहता है; अर्थात्, वह चारित्रधर्म को / मुनिधर्म को दुःखरूप कहता है परन्तु यहाँ तो सुखरूप है - ऐसा कहा है।

अरे...रे... ! मुनि को कुछ नहीं होता, अपने को तो सब मिलता है - ऐसा कहकर मुनि की दया करता है। वस्तुतः वह मुनि के धर्म को समझा ही नहीं है। मुनि की तो भक्ति करनेयोग्य है। चारित्र तो अकषाय शान्ति का रस है। जिसे उस सुख और शान्ति का पता नहीं है, वह मुनि की दया करता है परन्तु मुनि तो सुख का सार है। उनमें सुख है, ऐसे मुनिधर्म के दश प्रकार आगे कहे जाएँगे। उन धर्मों को भक्ति से, उत्तम धर्मानुराग से जानना योग्य है।

उत्तमक्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिञ्चन्य और ब्रह्मचर्य - ऐसे दश प्रकार का मुनिधर्म है। मुनिधर्म के बिना किसी का मोक्ष नहीं होता। अरहन्त के स्वरूप का वर्णन करते हुए मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ दो में कहा है कि जो गृहस्थपना छोड़कर, मुनिधर्म अङ्गीकार करके, निजस्वभाव साधन द्वारा, चार घातिकर्मों का क्षय करके, अनन्त चतुष्टयरूप से विराजमान हुए हैं....।

यहाँ इस एक पंक्ति में गृहस्थाश्रम में मुनिपना नहीं होता और वस्त्र-पात्रवाले मुनि

नहीं होते - ऐसा सिद्ध करते हैं। श्वेताम्बर कथित पन्द्रह भेद से सिद्ध होते हैं - यह बात मिथ्या है क्योंकि गृहस्थपना छोड़कर मुनिपना ग्रहण करते हैं - ऐसा कहा है। 'निजस्वभाव साधन द्वारा' अरहन्त होते हैं; इस प्रकार प्रथम से ही सम्यग्दृष्टि, अरहन्त की पहचान करता है। अन्यमती का वेष हो और केवलज्ञान हो जाए - ऐसा नहीं होता। हाथी के हौदे पर स्त्री को केवलज्ञान नहीं होता। केवलज्ञान, निजस्वभाव साधन द्वारा ही होता है - ऐसा गृहस्थाश्रम में निर्णय करना चाहिए। अनादि सत्यमार्ग का एक ही प्रकार और नियम है। गृहस्थाश्रम छोड़कर, मुनिपना अङ्गीकार करके, छठवें-सातवें गुणस्थान में वर्तता है, उसमें छठवें गुणस्थान में मुनिराज को कैसा विकल्प होता है ? - उसका वर्णन करते हैं।

अब, उत्तमक्षमा की बात करते हैं। स्वभाव का अन्तर आश्रय होने से कर्म का उदय चाहे जैसा हो तो भी मुनि को कषायभाव नहीं होता क्योंकि मुनि, क्षमा का भण्डार हैं।

उत्तम क्षमाधर्म

उत्तम क्षमा अर्थात् सम्यग्दर्शनसहित क्षमा।

निश्चय से अपना आत्मस्वभाव त्रिकाल ज्ञायकमूर्ति है, उसकी प्रतीति एवं बहुमान करना तथा राग-द्वेष-क्रोधादि की रुचि को छोड़ना ही उत्तम क्षमा की यथार्थ आराधना है। आत्मस्वभाव का अनादर करके पुण्य-पाप की रुचि करना क्रोध है और आत्मस्वभाव के आदर द्वारा पुण्य-पाप की रुचि को छोड़ देना ही उत्तम क्षमा है।

उत्तम क्षमा तो सहज वीतरागतारूप है। आत्मस्वरूप को भूलकर पुण्य-पाप की रुचि करना, महान क्रोध है। आत्मा के त्रैकालिक स्वरूप की रुचि द्वारा शुभाशुभराग की रुचि को छोड़ देने से वीतरागी क्षमाभाव प्रगट होता है।

मुनिदशा में शरीर को सिंह-बाघ खाये जा रहा हो, फिर भी उस ओर की कोई वृत्ति ही न उठे, अशुभवृत्ति तो न ही उठे, किन्तु शुभवृत्ति भी न उठे — ऐसी जो आत्मा की उत्कट आनन्दमय वीतरागीदशा है, वही उत्तम क्षमा है, वही धर्म है। उसमें दुःख नहीं, बल्कि आनन्द है।

मात्र वीतरागभाव ही उत्तम क्षमाधर्म है। मैं वीतराग होऊँ और राग को दूर कर दूँ

— ऐसे विकल्प की मुख्यता नहीं है। विकल्प क्षमा नहीं है, किन्तु स्वभाव की एकाग्रता में वीतरागरूप से परिणमित हो जाना और राग-द्वेष की उत्पत्ति ही न होने देना **उत्तम क्षमा** है। जितने रागादि के विकल्प उत्पन्न होते हैं, उतना उत्तम क्षमा में भङ्ग पड़ता है। मिथ्यादृष्टि को तो उत्तम क्षमा होती ही नहीं।

(पद्मनन्दिपंचविंशतिका में समागत क्षमाधर्म के प्रवचन से)

जो मुनि, देव-मनुष्य-तिर्यञ्च आदि द्वारा रौद्र, अर्थात् भयानक / घोर उपसर्ग होने पर भी क्रोध से तप्तायमान नहीं होता, उस मुनि को निर्मलक्षमा होती है। मुनिराज को चार प्रकार के उपसर्ग का संयोग होता है। अग्नि में जलाये, पानी में डूबोये इत्यादि होता है परन्तु उनका आत्मा, चिदानन्द अमृतसागर में लवलीन होता है, और अन्तर स्थिरता में शान्ति का रस आने से उन्हें क्रोध नहीं होता है। हमारे कर्म का उदय है, इसलिए ऐसे संयोग हैं - ऐसा विकल्प भी मुनि को नहीं होता, वह उत्तमक्षमा है। वे तो साधकदशा में शुद्धि की वृद्धि कर रहे हैं, उन्हें रोकनेवाला जगत में कोई पदार्थ नहीं है।

मुनि अपने स्वरूपसाधन से पूर्ण शुद्धि करके मोक्ष में जाते हैं। ऐसे उत्तमक्षमाधारी मुनियों के दृष्टान्त अब कहते हैं।

श्रीदत्त मुनि, व्यन्तरदेव कृत उपसर्ग को जीतकर केवलज्ञान उत्पन्न करके मोक्ष में गये हैं। श्रीदत्त मुनि, स्वयं गृहस्थदशा में राजा थे, और वे अपने रानी के साथ क्रीड़ा करते थे। उस समय उनका एक तोता था, उसे रानी के प्रति प्रेम था; इसलिए जब रानी जीते, तब वह दो लकीर खींचता था और राजा जीते, तब एक लकीर खींचता था। इस बात का जब राजा को पता चला तो कषाय से उसने तोते की गर्दन मरोड़ कर मार डाला। तोता मरकर व्यन्तर हुआ और जब राजा ने गृहस्थदशा त्याग कर दीक्षा अङ्गीकार की, तब उसने उपसर्ग किया, परन्तु मुनि तो अपने शान्तस्वभाव में झूल रहे थे; शान्ति के रसपूर्वक पूर्ण शुद्धि प्राप्त करके मुक्ति को प्राप्त हुए।

कोई कहे कि अहिंसा के कारण सामनेवाले को वैर उल्लसित नहीं होता तो यह बात मिथ्या है। बाहर में तो पुण्य का योग हो तो प्रतिकूल संयोग नहीं होते, वरना उपसर्ग ही होता है। मुनि को पूर्ण अहिंसा के परिणाम हैं, तथापि बाहर में उपसर्ग नहीं टाल सकते, परन्तु अपने में वीतरागता करके मोक्ष प्राप्त करते हैं।

चिलातीपुत्र मुनि, व्यन्तरकृत उपसर्ग को जीतकर सर्वार्थसिद्धि गये। पूर्व के वैरी व्यन्तरदेव ने चींटियाँ बनकर उपसर्ग किया, परन्तु मुनि ने क्रोध नहीं किया। वे आत्मा के स्वभाव में लीन रहे और शुद्धि की वृद्धि करके देव हुए।

स्वामी कार्तिकेय मुनि, जो इस ग्रन्थ के कर्ता हैं, कौचक राजा कृत उपसर्ग जीतकर देवलोक गये। जो स्वामी कार्तिकेय के पिता थे, वे उनकी माता के भी पिता थे। उन्होंने अपनी पुत्री से विवाह किया था। एक बार राजकुमार कहने लगा कि माताजी! इन सबको ननिहाल से भेंट आती है और मुझे क्यों कुछ नहीं आता? मेरी ननिहाल कहाँ है? तब उनकी माता रुदन करती है कि अरे पुत्र! यह बात कही जा सके, ऐसी नहीं है! जो तेरा पिता हैं, वही मेरा पिता हैं। यह सुनकर राजकुमार को वैराग्य होता है। अहो! धिक्कार है इस संसार को! ऐसा विचार कर स्वयं दीक्षा ले लेता है। जङ्गल में जाता है। एक बार वे मुनिराज, स्वयं अपनी बहिन के गाँव जाते हैं, वहाँ खिड़की से मुनि को देखकर बहिन नीचे आयी, अपना भाई और फिर मुनि है, इसलिए बहिन वन्दन करती है। इस अनजान नग्न पुरुष को वन्दन करते देखकर उसका स्वामी कौच राजा क्रोधित होता है और मुनि के ऊपर बहुत प्रहार करता है। तब मुनि की माँ जो मरकर व्यन्तर हुई थी, वह आकर मुनि को वहाँ से ले जाती है। मुनि, समाधिमरण करके देवलोक में जाते हैं। यह मुनि दो हजार वर्ष पहले हो गये हैं। क्षमा की मूर्ति थे; क्रोध का अंश नहीं था, साधकदशा में थे, शुद्धि की वृद्धि करते थे।

गुरुदत्त मुनि, कपिल ब्रह्माण कृत उपसर्ग को जीत कर मुक्त हुए। श्रीधन्य मुनि, चक्र राजा कृत उपसर्ग को जीतकर केवलज्ञान उत्पन्न करके मोक्ष गये। पाँच सौ मुनि, दण्डक राजा कृत उपसर्ग को जीतकर सिद्धि को प्राप्त हुए। चाणक्य आदि पाँच सौ मुनि, मन्त्री कृत उपसर्ग को जीतकर मोक्ष गये। राजकुमार मुनि, पांशुलश्रेष्ठी कृत उपसर्ग को जीतकर सिद्धि को प्राप्त हुए। सुकुमाल मुनि, सियालनी कृत उपसर्ग सहन करके देव हुए। श्रेष्ठी के बाईस पुत्र नदी के प्रवाह में पद्मासन से शुभध्यान करके मरकर देव हुए। सुकौशल मुनि, बाघिन कृत उपसर्ग को जीतकर सर्वार्थसिद्धि गये तथा पाणिक मुनि, जल का उपसर्ग सहन करके मोक्ष गये।

इस प्रकार मुनियों ने देव-मनुष्य-पशु और अचेतन कृत उपसर्ग सहन किये तो भी क्रोध नहीं किया, उन्हें उत्तमक्षमा थी। आत्मा, क्षमा की मूर्ति है। ऐसे स्वभाव का भान तो पहले से ही है और उसमें लीन होने पर कषाय की उत्पत्ति नहीं होती, वह उत्तमक्षमा है। इस प्रकार उपसर्ग करनेवाले के प्रति भी क्रोध उत्पन्न न हों, वह उत्तमक्षमा है।

मुनि, क्रोध का निमित्त आने पर ऐसा चिन्तवन करते हैं कि कोई मेरे दोष कहता है, वह यदि मुझमें विद्यमान है तो वह क्या बुरा कहता है? ऐसा विचार कर क्षमा करना, क्योंकि मैं उस दोष को जानता हूँ, वह दोष उसने कहा; इसलिए हम दोनों मित्र हुए; अतः उसके प्रति क्रोध करना नहीं रहता। यदि मुझमें दोष नहीं है तो वह जाने बिना कहता है, वहाँ अज्ञानी के प्रति क्रोध क्या करना? - ऐसा विचार कर क्षमा करना। देखो! यह सब उपदेश के वाक्य हैं। वस्तुस्थिति दूसरी होती है। उत्तमक्षमा में ऐसे विकल्पों की उत्पत्ति ही नहीं होती। अज्ञानी का तो बालस्वभाव चिन्तवन करना, अर्थात् बालक तो प्रत्यक्ष कहता है और यह तो परोक्ष ही कहता है, इतना यह भला है - ऐसा जानकर क्षमा करना।

कोई प्रत्यक्ष कुवचन कहे तो ऐसा विचार करना कि बालक तो ताड़ना करता है और यह तो कुवचन ही कहता है; ताड़ना तो नहीं करता, यही भला है।

यदि ताड़ना करे तो ऐसा विचार करना कि बालक अज्ञानी तो प्राणघात भी करता है, और यह तो मात्र ताड़ना ही करता है परन्तु प्राणघात तो नहीं किया, यही भला है।

कोई प्राणघात करे तो ऐसा विचार करना कि अज्ञानी तो धर्म का भी विध्वंस करता है और यह तो प्राणघात करता है परन्तु धर्म का नाश तो नहीं करता; तथा मुनिराज विचार करते हैं कि मैंने पूर्व में पापकर्म उत्पन्न किया था, उसका फल यह दुर्वचन आदि उपसर्ग है। वास्तव में यह मेरा ही अपराध है; अन्य सब निमित्तमात्र हैं - इत्यादि चिन्तवन करते हुए उन्हें उपसर्ग आदि के निमित्त से क्रोध उत्पन्न नहीं होता और उत्तमक्षमाधर्म सधता है।

देखो! एक द्रव्य, दूसरे द्रव्य को स्पर्श नहीं करता; अतः किसी संयोग के कारण क्रोध होता है - ऐसा है ही नहीं। कर्म के कारण और अपराध के कारण संयोग मिला - ऐसा कहना, वह निमित्त का कथन है। क्रोध करना नहीं, यह भी उपदेश का कथन है -

ऐसे भानसहित आत्मा में लीनता होने पर उपसर्ग के समय, कषाय की उत्पत्ति भी नहीं होती, वह उत्तमक्षमा है।

(कार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा ३९४ पर प्रवचन)

उत्तम मार्दवधर्म

उत्तम मार्दव अर्थात् उत्तम निरभिमानता। सम्यग्दर्शनसहित निरभिमानता सो उत्तम मार्दवधर्म है।

ज्ञानी जीव जानता है कि पूर्ण ज्ञान और आनन्द ही मेरा रूप है। जाति, कुल, शरीर, बल, विद्याएँ अथवा अपूर्णज्ञान, इनमें से कोई भी मेरा रूप नहीं है। जहाँ ऐसा भिन्नत्व यथार्थतया जाना, वहीं पर का अहङ्कार दूर हो गया है। पश्चात् जो अल्पराग की वृत्ति होती है, उसका भी ज्ञानी को निषेध वर्तता है। यहाँ तो ऐसी बात है कि उस राग-वृत्ति को उठने ही नहीं देना और वीतरागरूप स्थिर रहना सो उत्तम मार्दवधर्म है और वह धर्म, मोक्षमार्ग में विचरनेवाले मुनियों को सहचररूप होता है।

ज्ञानियों को ज्ञानमद नहीं होता। शास्त्र का ज्ञान हो या अवधि - मनःपर्ययज्ञान हो, उसका ज्ञानी को अभिमान नहीं होता। जिन्होंने पूर्ण ज्ञानस्वभाव को जाना है, उन्हें अपूर्णज्ञान में संतोष या उसका अभिमान कैसे होगा? बारहवें गुणस्थान तक का समस्त ज्ञान, अल्प है; केवलज्ञान के अनन्तवें भाग है। उस तुच्छ पर्याय का ज्ञानी को अभिमान नहीं है; वे तो अनन्त चैतन्यस्वभाव की महिमा और विनय से स्वभाव में लीन होकर, अपूर्णज्ञान का विकल्प छोड़कर केवलज्ञान प्रगट करते हैं।

(पद्मनन्दिपंचविंशतिका में समागत मार्दवधर्म के प्रवचन से)

जो मुनि, उत्तम ज्ञान से तो प्रधान हो और उत्तम तपश्चरण करने का जिसका स्वभाव हो तो भी जो अपने आत्मा को मदरहित करता है, उस मुनि को उत्तममार्दवधर्मरत्न होता है।

तप का अर्थ दीक्षा होता है। मुनिपना लेकर बारह-बारह महीने के उपवास करके अन्तर शान्ति में रहता है। वह ऐसा विचार करता है कि कहाँ केवलज्ञान और कहाँ मेरी पर्याय! ऐसा जानकर पर्याय में पामरता मानता है; इसलिए उसे अभिमान नहीं होता है। मुनि चिन्तवन करते हैं कि गणधर सन्तों को बारह अङ्ग और चौदह पूर्व का ज्ञान होता है, दो

घड़ी में बारह अङ्ग की रचना करें - ऐसी गणधर की दशा विचार कर, स्वयं को उनसे हीन जानते हैं; इसलिए मद नहीं होता। धवला टीका रचनेवाले आचार्य (वीरसेनस्वामी) अगाध ज्ञान के समुद्र थे, फिर भी वह ज्ञान, केवलज्ञान के अनन्तवें भाग है; मैं अल्प ज्ञान का धारक हूँ - ऐसी निर्मान्ता करते हैं। सन्त-मुनियों को एक बार पढ़ाये तो कण्ठस्थ हो जाए, ऐसे कुशाग्रबुद्धिवाले थे। अभी तो बारम्बार रटे तो भी धारणा नहीं होती। इसलिए ज्ञानी को अल्प उघाड़ का अभिमान नहीं होता। मुनियों को अगाध ज्ञान होने पर भी, स्वभाव की उग्रता में उन्हें ज्ञान का मद नहीं होता है।

समस्त शास्त्रों को जाननेवाला पण्डित हो तो भी वह ज्ञान का मद नहीं करता है। अवधिज्ञान द्वारा किसी के लिखे हुए शास्त्रों को जाने - ऐसी सामर्थ्य प्रगट हुई हो परन्तु फिर भी ज्ञान का मद नहीं करता; और मनःपर्ययज्ञान में किसे, किस काल में (क्या) विचार होगा - यह जान लेता है। क्रमबद्धपर्याय है, भविष्य में क्या होनेवाला है - इसका भी ज्ञान होता है क्योंकि यदि ऐसा ज्ञान न हो तो एक भी बात सिद्ध नहीं होगी। मुनि, कितने दिन की आयु शेष है, यह कहते हैं। राजकुमार (सुकुमाल) की तीन दिन की आयु बाकी है - ऐसा कहा और यह सुनकर उसने दीक्षा अङ्गीकार कर ली। राजकुमार का शरीर मक्खन के पिण्ड जैसा है, पैर में कंकड़ लगे, परन्तु जानता है कि जिस समय जो संयोग होना है, वह बदलेगा नहीं। इस प्रकार क्रमबद्ध की श्रद्धापूर्वक स्वभाव की रुचि करता है; पर की रुचि छोड़ देता है। ज्ञानी को स्वभाव की महिमा है। थोड़ा ज्ञान हो तो भी सम्यग्ज्ञान होता है तो वह केवलज्ञान का कारण होता है। ज्ञानी को उस (अल्प ज्ञान का) मद नहीं है।

मुनिराज, उत्तमतप करते हैं परन्तु उसका अभिमान नहीं करते हैं। रूखा आहार करते हैं; किसी समय आहार नहीं मिलता तो विकल्प तोड़ डालते हैं - ऐसी दशा हुई होने पर भी उसका मद, ज्ञानी को नहीं होता है। जहाँ तक शुक्लध्यानरूपी महान तप नहीं है, वहाँ तक अपूर्ण हूँ - ऐसा जानकर, तप का मद मुनिराज को नहीं होता - यह उत्तममार्दवधर्म है। धर्मी, जाति का मद नहीं करता। धर्मी को माता-पिता की जाति से पहिचान कराना, वह ठीक नहीं है क्योंकि आत्मा तो सर्वज्ञ की जाति का है; आत्मा, माता-पिता की जाति में नहीं जन्मता है; इसलिए मुनिराज को जाति का मद नहीं होता। मुनिराज को कुल का

मद नहीं होता। शरीर के बल का मद भी धर्मी जीव नहीं करता है। मुनिराज, विद्या का मद नहीं करते हैं। श्रीकृष्ण के पुत्र श्री प्रद्युम्नकुमार ने सब विद्याएँ साधी थीं परन्तु उन्हें विद्या का मद नहीं था। वे तो समझते हैं कि हम आत्मा की विद्या के साधक हैं। आत्मा में मद नहीं है; इसलिए मुनिराज, विद्या का मद नहीं करते हैं। यह उत्तममार्दवधर्म है।

देखो, यह धर्मभावना का अधिकार है। चारित्र ही धर्म है, उस धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकता, वह मुनिधर्म है। उस मुनिधर्म के बिना मोक्षमार्ग की शुरुआत नहीं होती। इसलिए जिसे मुनिधर्म का पता नहीं है, उसे मोक्षमार्ग का भी पता नहीं है। अभी जैन सम्प्रदाय में भी चारित्र के नाम से बहुत गड़बड़ चलती है परन्तु वह मिथ्या अभिप्राय है। इसीलिए जीवों को परमभक्ति से धर्मभावना का स्वरूप जानना योग्य है।

यहाँ मुनिराज के उत्तममार्दवधर्म की व्याख्या चल रही है। मुनिराज को ज्ञान का मद नहीं होता है। उत्तमतप करें, उसका भी मद नहीं करते हैं। जाति, कुल, बल, विद्या आदि में बड़े होने पर भी दूसरे के अपमान से कषाय या गर्व, मुनिराज नहीं करते हैं तो वहाँ उत्तममार्दवधर्म है।

मुनि कैसे होते हैं ? निर्मानी होते हैं। स्वयं को महान ऋद्धि प्रगट हुई हो, आचार्यपद प्राप्त हुआ हो, तथापि मुनि उसका अभिमान नहीं करते हैं। माता से जन्म हुआ, तदनुसार नग्न शरीर होता है; वस्त्र का एक धागा नहीं रखते - ऐसा मुनिपद है। बड़े इन्द्र आकर नमस्कार करें, उसका मद नहीं और साधारण प्राणी अपमान कर जाए तो अपमान नहीं लगता। गणधरदेव नमस्कारमन्त्र पढ़ते हैं, उसमें मुनियों को भी नमस्कार करते हैं - ऐसा मुनिपद है।

मुनिपद के स्वरूप में गड़बड़ करे और जैसा स्वरूप है, वैसा न माने तो वह प्रयोजनभूत भूल है; इसलिए मिथ्यादृष्टि है। सत्तास्वरूप में पण्डित भागचन्द्रजी ने इक्यावन मूल रकम कही हैं। देव-शास्त्र-गुरु, छह द्रव्य, नव तत्त्व, निमित्त-उपादान इत्यादि मूल रकम हैं। उसे यथार्थ नहीं जाननेवाला, मिथ्यादृष्टि है। बहुत बार दृष्टान्त देते हैं कि एक 'आपो' काठी था, वह व्यापारी के साथ हिसाब मिलाने बैठा, तो छोटी-छोटी रकम वह

स्वीकार करता, परन्तु बड़ी रकम आवे तब मैं नहीं जानता, मैंने नहीं ली – ऐसा कहता। वह आपा बहियों में से बाहर किस प्रकार निकले ? इसी प्रकार प्रयोजनभूत रकम जैसे कि देव कैसे होते हैं ? गुरु कैसे होते हैं ? शास्त्र कैसे होते हैं ? उन्हें तो जाने नहीं, वह कभी संसार में से बाहर नहीं निकलेगा। यहाँ तो कहते हैं कि मुनि को मान नहीं होता। इस प्रकार उत्तम मार्दवधर्म का स्वरूप कहा।

(कार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा ३९५ पर प्रवचन)

उत्तम आर्जवधर्म

उत्तम आर्जव अर्थात् सम्यग्दर्शनसहित वीतरागी सरलता।

जैसा सहज ज्ञायकमूर्ति आत्मस्वरूप है, वैसा ही मानना; किञ्चित् भी विपरीत न मानना, उत्तम सरलता है और चैतन्यस्वरूप की प्रतीति में वक्रता करके किसी विकल्प या व्यवहार के आश्रय से लाभ मानना असरलता है। व्यवहाररत्नत्रय भी रागरूप है, वह आत्मा का स्वरूप नहीं है। आत्मा का ज्ञायकस्वरूप पुण्य-पापरहित है, व्यवहाररत्नत्रयरूप पराश्रितभाव से आत्मा को लाभ मानना, अनन्त कपट का सेवन है और उस व्यवहार का आश्रय छोड़कर निश्चय शुद्ध ज्ञातास्वभाव को जानना-मानना और उसमें स्थिर होना, उत्तम आर्जवधर्म है।

जो श्रीगुरु आदि के उपकार का छिपाता है, वह तो व्यवहार में भी सरल नहीं है, उसे उत्तम वीतरागी सरलता तो होती ही नहीं। जिसे व्यवहार सरलता प्रगटी हो, वह जीव श्रीगुरु के पास विनयपूर्वक ऐसा कहता है — ‘प्रभो! मैं मूढ़, पामर था, आज तक मुझे कुछ भी पता नहीं था, आपकी कृपा से ही मुझे अपूर्व सत्य प्राप्त हुआ।’

इस प्रकार सीधा-सरल होकर, अर्पणता लाकर, स्वभाव का बहुमान किये बिना तो व्यवहार सरलता भी नहीं होती और उसका दोष दूर होकर वीतरागता प्रगट नहीं होती। प्रथम तो भलीभाँति पहिचान करना चाहिए कि ‘धर्म क्या है और दोष क्या है?’

अपने परमार्थ स्वभाव को जानकर उसके आश्रय से स्थिर रहने में राग-द्वेषरूप माया की उत्पत्ति ही न होना, उत्तम आर्जवधर्म है।

(पद्मनन्दिपंचविंशतिका में समागत आर्जवधर्म के प्रवचन से)

जो मुनि, मन में वक्रता का चिन्तन नहीं करते, काया से वक्रता नहीं करते, वचन

से वक्रतारूप नहीं बोलते और अपने दोषों को नहीं छिपाते, उन मुनिराज को उत्तमआर्जवधर्म होता है।

अपना मान या बड़ाई रखने के लिए कुछ का कुछ दूसरे को समझावे – ऐसी वक्रता मुनिराज को नहीं होती है। गुरु के समीप अपना दोष प्रसिद्ध करते हैं परन्तु स्वयं समझते हैं कि राग के काल में राग आया है। क्रमबद्ध की श्रद्धा होने पर भी भूमिका के अनुसार राग होता है, उसका सहज ज्ञान वर्तता है। छठवें गुणस्थान में ऐसी विचारश्रेणी होती है, उसमें अन्तर नहीं पड़ता है। यह मार्ग सरल, सुगम और सहज है; इसलिए मुनि को कृत्रिमता नहीं होती, यह उत्तमआर्जवधर्म है। (कार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा ३९६ पर प्रवचन)

उत्तम सत्यधर्म

उत्तम सत्य अर्थात् सम्यग्दर्शनसहित वीतरागी स्थिरता।

उत्तम सम्यग्ज्ञान के धारक मुनिवरो को प्रथम तो मौन रहना ही श्रेष्ठ है अर्थात् चैतन्यस्वरूप में वीतरागी स्थिरता प्रगट करके, वाणी की ओर का विकल्प ही नहीं होने देना चाहिए — ऐसा वीतरागीभाव ही परमार्थ से उत्तम सत्यधर्म है।

यदि अस्थिरता के कारण विकल्प उत्पन्न हो तो स्व और पर को हितकर, सत्य तथा प्रिय वचन बोलने का शुभराग होना व्यवहार से उत्तम सत्यधर्म है। उसमें जो राग हो, वह धर्म नहीं है किन्तु उस समय जितना वीतरागभाव है, उतना उत्तम सत्यधर्म है।

सच्चे ज्ञान से वस्तुस्वरूप का निश्चय किये बिना, परमार्थ सत्य नहीं होता। परमार्थ सत्य तो सम्यग्दर्शनपूर्वक ही हो सकता है। आत्मा के त्रैकालिक शुद्धस्वभाव को जानकर, उसमें विशेष स्थिरता के पुरुषार्थ द्वारा असत्य का अर्थात् शुभ-अशुभराग का अभाव करना ही उत्तम सत्यधर्म है। सम्यग्दृष्टि गृहस्थों को भी श्रद्धा-ज्ञान की अपेक्षा से उत्तम सत्यादि धर्म होते हैं। (पद्मनन्दिपंचविंशतिका में समागत सत्यधर्म के प्रवचन से)

अब, उत्तमसत्यधर्म की बात करते हैं।

यह मुनिदशा का वर्णन है। उसका विचार सम्यग्दृष्टि भी करता है क्योंकि उसे भी मुनि होना है। निर्ग्रन्थ गुरु के वचन प्रमाण हैं तथा मुनिधर्म मोक्षमार्ग है – ऐसी प्रतीति

सम्यग्दृष्टि करता है। मुनिपने में वस्त्र नहीं होते; एक बार आहार होता है – ऐसी मुनिदशा है। मुनि अन्य, अर्थात् विपरीत प्रकार से कथन नहीं करते हैं। काल बदल गया है; इसलिए मुनिपना वस्त्रसहित नहीं मनवाते हैं तथा जिनकल्पी मुनि नग्न होते हैं और स्थविरकल्पी वस्त्रसहित होते हैं – ऐसी प्ररूपणा नहीं करते हैं। किसी आचार में स्वयं असमर्थ होवें तो भी अन्य प्रकार से नहीं कहते हैं।

कोई पूजा-प्रभावना तथा मन्दिर में लाखों का खर्च करे; इसलिए उसे धर्म होता है – ऐसी प्ररूपणा नहीं करते हैं। पञ्च कल्याणक कराने से आठ भव में मुक्ति होती है – ऐसी प्ररूपणा नहीं करते हैं। वस्तुतः यह सब शुभ के प्रकार हैं, इनसे धर्म नहीं होता; रागरहित स्वभाव की दृष्टि और एकाग्रता से धर्म होता है। इस प्रकार मुनि जैसा है, वैसी प्ररूपणा करते हैं; इसलिए वे सत्यवादी हैं और उन्हें ही उत्तमसत्यधर्म होता है।

निर्ग्रन्थ मुनि, खड़े-खड़े एक बार आहार लेते हैं। शरीर जीर्ण हो जाए और खड़े नहीं रह सकें तो आहार नहीं लेते हैं। उनका पुरुषार्थ सिंहवृत्ति के समान है। सिद्धान्त का एक भी अक्षर नहीं बदलते हैं। श्री कुन्दकुन्दाचार्य सूत्रपाहुड़ में कहते हैं कि एक भी न्याय बदल जाए तो अनन्त तीर्थङ्करों और मुनियों की अशातना होती है। भगवान की दिव्यध्वनि के अनुसार गणधरों ने शास्त्रों की रचना की है, उनके अनुसार आचार्यों ने शास्त्रों की रचना की है। जैसे, लड़की के पैसे लेनेवाला खानदानी नहीं गिना जाता है; उसी प्रकार सर्वज्ञ के अनुसार जो शास्त्र का कथन करता है, वह खानदानी है। वह एक शब्द भी उल्टा-सीधा नहीं कहता। अभी जैन सम्प्रदाय में भगवान के नाम से आचाराङ्ग आदि शास्त्र कल्पित बनाये हैं; इसलिए सत्य क्या है? – उसकी समझ करना चाहिए। यह बात अपूर्व है! जीव को विचार करना चाहिए।

भगवान महावीर के छह सौ वर्ष बाद दुष्काल पड़ा था, उस समय कोई जीव, मुनिपने का पालन नहीं कर सके, वे वस्त्र रखने लगे और उन्होंने कहने पर भी प्रायश्चित्त नहीं लिया। फिर उन्होंने प्ररूपणा बदल डाली और वस्त्रसहित मुनिपना मनवानेवाला सम्प्रदाय शुरु किया। मुनिमार्ग वैसा नहीं हो सकता है। भगवान के श्रीमुख से अर्थ निकलते हैं, उनमें से गणधरदेव सूत्र की रचना करते हैं। उनकी परम्परा में से जो जीव,

सूत्र बदल देता है, वह अनन्त संसारी है। काल बदल गया है; इसलिए वस्त्रसहित मुनिपना मनवावे अथवा बैठे-बैठे आहार ले - ऐसा मार्ग सिंहवृत्ति में नहीं होता। अपना मान भङ्ग होगा - ऐसा मानकर गड़बड़ नहीं चलाते, अपने लिए बनाया हुआ आहार होवे तो मुनि उसे ग्रहण नहीं करते। अपने पेट में बहुत दर्द हो तो भी दवा नहीं माँगते - ऐसी मुनिदशा है। अन्तर वीतरागता बढ़ गयी हो, उसे बाह्य नग्न अवस्था होती है - ऐसी पर्याय की निमित्तता तथा उस पर्याय को द्रव्य का आश्रय है - ऐसी बात अन्यत्र कहीं नहीं है।

व्यवहार, जो भोजनादि व्यापार तथा पूजा, प्रभावनादि व्यवहार शास्त्रानुसार कहते हैं; पूजा से कल्याण होगा, उपवास से धर्म होगा - ऐसा नहीं कहते हैं। शास्त्र से विरुद्ध कुछ नहीं कहते हैं।

यहाँ दश प्रकार से सत्य का वर्णन है। नामसत्य, रूपसत्य, स्थापनासत्य, प्रतीतिसत्य, सम्वृतिसत्य, संयोजनासत्य, जनपदसत्य, देशसत्य, भावसत्य, तथा समयसत्य। अब, मुनिजनों का मुनिजनों के तथा श्रावक के साथ वचनालापरूप व्यवहार है। मुनि, आत्मा के आनन्द में बढ़ गये हैं, वे वार्तालाप करें तो मुनि अथवा श्रावक के साथ करते हैं परन्तु अन्य के साथ बात करते हैं - ऐसा नहीं कहा है। बहुत वचनालाप होवे तो भी सिद्धान्तानुसार करते हैं। यह दश प्रकार से सत्यरूप वचन की प्रवृत्ति होती है -

● गुण के बिना बोलनेवाले की इच्छा से किसी का नाम दे / रखे, वह **नामसत्य** है। जैसे कि किसी का नाम लक्ष्मीचन्द्र रखा हो और वह हो निर्धन। कोई पापी प्राणी हो और नाम धर्मविजय हो, यह नाम की अपेक्षा से सत्य है। कितने ही जीव, प्रतिमा का नाम लेने से द्वेष करते हैं और उसे पत्थर कहते हैं और प्रतिमा की पूजन को जड़पूजन कहते हैं तो वह द्वेष है। नाम अपेक्षा से, नाम लेने में आपत्ति नहीं है।

● कोई चित्र में देखकर कहता है कि यह श्वेतवर्णवाला पुरुष है। वह पुरुष तो चित्र में नहीं है परन्तु रूप की अपेक्षा से ऐसा कहा जाता है, वह **रूपसत्य** है।

● भगवान की प्रतिमा की स्थापना करके ऐसा कहना कि ये भगवान हैं, वह **स्थापनासत्य** है। वह पत्थर है, यह तो ख्याल है, तथापि आगम में 'जिनप्रतिमा जिनसारखी' कही है। वह स्थापनासत्य है। जैसे, भगवान के सन्मुख जाकर धर्मी जीव कहता है कि

‘जिनेन्द्र भगवान की जय हो!’ इसी प्रकार प्रतिमा के समक्ष जाकर भी कहता है कि ‘आपके अक्रिय चैतन्यबिम्ब की जय हो!’ किसकी जय कहता है? भगवान की प्रतिमा में उपचार करता है। राग है, वहाँ तक प्रतिमा के प्रति लक्ष्य जाता है। हे नाथ! आपके अनन्त चतुष्टय की जय हो! महाविदेह में आप हैं, उसका आरोप आपकी प्रतिमा में करते हैं – ऐसा कहकर अपना भाव मिलाता है। शतरंज में अथवा चौपड़ में बादशाह, रानी इत्यादि का आरोप करते हैं; इसी प्रकार भगवान का आरोप / उपचार, प्रतिमा में करना, वह असत्य नहीं, परन्तु **स्थापनासत्य** है।

यह सत्यधर्म, निर्विकल्प है। इसमें शुभराग की भी मुख्यता नहीं है। वीतरागता वर्तती है, ज्ञान में सत्य का न्याय वर्तता है। भाषा, धर्म नहीं है परन्तु ज्ञान में विवेक वर्तता है, वह सत्य-धर्म है।

स्थापनानिक्षेप का निषेध करने योग्य नहीं है। महाविदेह में भी भगवान की प्रतिमा होती है। सर्वत्र साक्षात् भगवान नहीं विचरते हैं, पाँचों परमेष्ठियों की प्रतिमा होती है और वह स्थापनासत्य है।

● किसी प्रतीति के लिए आश्रयपूर्वक कहा जाए, वह प्रतीतिसत्य है। जैसे कि किसी व्यक्ति को ताड़ जैसा ऊँचा कहने में आता है; इसलिए वह मनुष्य, ताड़ जितना ऊँचा नहीं है तथा उसके अनादर के लिए नहीं कहा जाता है परन्तु ठिगने व्यक्तियों की अपेक्षा से लम्बा बताने के लिए ताड़ जैसा कहा जाता है, वह अपेक्षा से सत्य है।

● लोकव्यवहार के आश्रय से कहना, वह संवृत्तिसत्य है। जैसे, कमल की उत्पत्ति में कारण तो पानी, खादर, कीचड़ इत्यादि बहुत हैं परन्तु कीचड़ की प्रधानता से उसे पंकज कहते हैं। वह असत्य नहीं, परन्तु सत्य है।

● वस्तु को अनुक्रम से स्थापित करने का वचन कहना, वह संयोजनसत्य है। जैसे, दशलक्षण का मण्डल बनाये, उसमें अनुक्रमपूर्वक चूर्ण के कोठा बनाते हैं और कहते हैं कि यह उत्तमक्षमा का कोठा है। पूजन-विधि करते समय लाल, पीले, चावल करके मण्डल बनाते हैं और कहते हैं कि यह अमुक धर्म का कोठा है तो वह संयोजनसत्य है। ज्वैलर्स कीमती मोतियों के नाम रखता है और जहाँ चाहिए, वहाँ अनुक्रम से मोती पिरोता

है। यह सब संयोजन सत्य है।

- जिस देश में जैसी भाषा हो, वह कहना, यह **जनपदसत्य** है।

- ग्राम, नगरादि का उपदेशक वचन, वह **देशसत्य** है। जैसे कि चारों तरफ बाड़ हो, उसे ग्राम कहते हैं।

- छद्मस्थ के ज्ञान से अगोचर और संयमादिक पालन के लिए जो वचन बोले जाते हैं, वह **भावसत्य** है। पानी में लौंग डालकर अचित्त हो जाता है, अपने ख्याल में अचित्त है तथापि कोई जीव, अपने ज्ञान से अगोचर होवे तो भी आगम के अनुसार उसे प्रासुक कहते हैं; वह भावसत्य है।

- आगमगोचर वस्तु को आगम के वचनानुसार कहना, वह **समयसत्य** है। जैसे कि पल्योपम, सागर इत्यादि कहना।

इन दश प्रकार के सत्य का कथन गोम्मटसार में भी है। वहाँ सात नाम तो इसमें हैं, वे ही हैं तथा तीन नाम – देश, संयोजना, और समय की जगह, वहाँ सम्भावना, व्यवहार, और उपमा हैं और उदाहरण भी अन्य प्रकार से है। इसे विवक्षा का भेद समझना, विरोध नहीं है। इस प्रकार जिनसूत्र अनुसार सत्यवचन की प्रवृत्ति करे, उसे उत्तमसत्यधर्म होता है। यहाँ बोलने की प्रधानता नहीं है, भाषा तो भाषा के कारण से निकलती है; ज्ञान में एकाग्रता करना, वह धर्म है।

(कार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा ३१८ पर प्रवचन)

उत्तम शौचधर्म

उत्तम शौच अर्थात् सम्यग्दर्शनसहित पवित्रता अर्थात् निर्लोभता।

शरीर को अपना मानना तो मिथ्या मान्यतारूप महान अशुचिता है। जिस आत्मा ने भेदज्ञानरूपी जल से उस मिथ्या मान्यतारूपी अशुचिता को धो डाला है, वही आत्मा शौचधर्म है।

शरीर से भिन्न और पुण्य-पाप से रहित, पवित्र आत्मस्वरूप की यथार्थ प्रतीतिरूपी जल द्वारा मिथ्यात्वरूपी मैल को धो डालना और पवित्र आत्मस्वरूप में एकाग्रता द्वारा रागादि मैल को धो डालना, वही उत्तम शौचधर्म है।

मुनिजन ज्ञानानन्दस्वभाव के अनुभव की जागृति द्वारा परभावों की उत्पत्ति नहीं होने देते, इससे वे समस्त परपदार्थों और परभावों से निस्पृह हैं। परभावों से रहित उनकी जो पवित्र वीतरागी परिणति है, वही उत्तम शौचधर्म है।

(पद्मनन्दिपंचविंशतिका में समागत शौचधर्म के प्रवचन से)

अब, उत्तमशौचधर्म का स्वरूप कहते हैं। इसमें सूक्ष्म बात है, वह कहेंगे।

अहो ! मुनि को शान्ति के रस में अकषायभाव प्रगट हुआ है; इसलिए वे लोभ को नहीं होने देते। जैसे, कोई पुरुष खाकर बैठा हो तो चाहे जैसा मिष्ट भोजन दे तो भी उसे खाने की इच्छा नहीं होती है; इसी प्रकार मुनि को एक शुद्ध आहार-ग्रहण के अतिरिक्त, दूसरी इच्छा नहीं होती और आहार में भी गृद्धि का भाव, मुनि को सहज नहीं होता। मुनि, भिक्षार्थ निकलते हैं, उस समय पक्षी की बीट पड़े तो विचार करते हैं कि हम अमृतकुण्ड में नहाने निकले, उसमें ऐसा क्यों? एकदम आहार की वृत्ति तोड़ देते हैं और निर्विकल्पशान्ति का भोजन खाते हैं। समयसार में निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध बताते हुए, मुनि को मात्र अधःकर्मी आहार की बात ली है; इसके अतिरिक्त दूसरी बात नहीं ली है।

जैसे शरीर में मैल होता है और गंगा के पानी इत्यादि से धो डालते हैं; इसी प्रकार मुनि निर्मल उपशमरस के स्नान से लोभ को धो डालते हैं, अर्थात् लोभ प्रगट नहीं होने देते, वह उत्तमशौचधर्म है।

तृण-कञ्चन को समान जानना, वह समभाव है तथा सन्तोष-सन्तुष्टपना-तृप्तभाव, अर्थात् अपने स्वरूप में ही सुख मानना - ऐसे भावरूप जल से, भविष्य में प्राप्त होने की चाहनारूप तृष्णा तथा वर्तमान में प्राप्त द्रव्यादिक में अतिलिप्तपनेरूप लोभ - इन दोनों के त्याग में अति खेदरूप मल को धोने से मन पवित्र होता है। मुनि को तृष्णा या लोभ नहीं होता, क्योंकि पहले से इतना तो राग छोड़ा है। आहार के ग्रहण में भी तीव्र चाह मुनि नहीं रखते हैं। लाभ-अलाभ, सरस-नीरस में समभाव रखते हैं; इसलिए उन्हें उत्तमशौचधर्म होता है।

कोई मुनि, अवधिज्ञानी भी होते हैं। अमुक जगह पर निधान का कलश (स्वर्ण-इत्यादि का कलश) हारबन्ध पड़ा है - ऐसा ज्ञान में ज्ञात होने पर भी, मैं किसी श्रावक को

बताऊँ - ऐसा विकल्प भी मुनि को नहीं आता है। मुनि तो अनगार जन्मवाले हैं। जैसे, अण्डे का दो बार जन्म है; इसी प्रकार मुनि का एक बार माता के गर्भ से जन्म हुआ और अनगारपद, वह दूसरा जन्म है। उन्हें आहार लेने की वृत्ति के अतिरिक्त, दूसरी वृत्ति नहीं होती है तथापि वह तीव्र नहीं होती है। आनन्द का भोजन करनेवाले को तुच्छ आहार में गृद्धि नहीं होती है।

अब, इस शौचधर्म में विशेषता कहते हैं —

जीवन का लोभ, आरोग्यता रखने का लोभ, इन्द्रियाँ पुष्ट रखने का लोभ तथा उपयोग का लोभ - ये चार प्रकार के लोभ की प्रवृत्ति हैं। उन चारों को स्वयं तथा अपने परिजन-मित्रादि सम्बन्धी - ऐसे दोनों के लिए चाहे तो आठ भेदरूप प्रवृत्ति होती है। मुनि को इन आठों ही प्रकार के लोभ की प्रवृत्ति नहीं होती, वह उत्तमशौचधर्म है।

ध्यान रखना! मुनि को कहाँ-कहाँ लोभ नहीं होता, वह कहते हैं। स्वयं का या स्वजन - परप्राणी का आयुष्य लम्बा हो तो ठीक; धर्मी जीव का आयुष्य लम्बा हो तो ठीक - ऐसा अपने आत्मज्ञान में रमण करते हुए धर्मात्मा मुनि नहीं चाहते हैं। निचलीदशा में ऐसा विकल्प आता है परन्तु चारित्रवन्त मुनि को ऐसा विकल्प नहीं होता है। आचार्य का आयुष्य अधिक हो और उनका आरोग्य हो तो अच्छा - ऐसा लोभ, मुनि नहीं होता है क्योंकि आयुष्य घटता या बढ़ता नहीं है। जिस समय में आयुष्य पूरा होना है, वह होगा - ऐसा वे जानते हैं; इसलिए मुनि को ऐसा विकल्प नहीं होता। यहाँ सम्यग्दर्शन के उपरान्त वीतरागता की बात चलती है। सम्यग्दृष्टि को आर्तध्यान और रौद्रध्यान दोनों होते हैं। मुनि को रौद्रध्यान तो होता ही नहीं; आर्तध्यान में भी निदानरूप आर्तध्यान नहीं होता - ऐसी वीतरागीदशा मुनि की होती है; वह उत्तमशौचधर्म है।

आँखें अच्छी होंवे तो भगवान के दर्शन हों, शास्त्र पढ़े जा सकें - इत्यादि प्रकार का लोभ, मुनि स्वयं के लिए या फिर पर के लिए भी नहीं करते हैं। जैसे, ऊँट का एक पैर कटे तो वह वहीं मर जाता है; इसी प्रकार अङ्ग दुर्बल, कमजोर पड़े तो मुनिराज समाधि कर डालते हैं। इसलिए लम्बा आयुष्य, अच्छी इन्द्रियाँ और निरोगता हो तो अच्छा - ऐसी बुद्धि, मुनि को नहीं होती है। यहाँ तक तो शरीराश्रितभाव की बात आयी। अब, सूक्ष्म बात करते हैं।

मुनि को उपयोग का लोभ नहीं होता। शुद्ध उपयोग रहे और अन्तर में स्थिर हो जाऊँ, तथा शुभाशुभभाव मिट जाएँ - ऐसा विकल्प, मुनि को नहीं उठता क्योंकि मुनि को सहज शुद्ध उपयोग होता है। पर का लोभ तो मुनि को होता ही नहीं, परन्तु यह तो स्व के उपयोग की बात है तथापि उसका भी लोभ नहीं होता; वह वास्तव में उत्तमशौचधर्म है। जिन्हें स्वभाव की और क्रमबद्धपर्याय की प्रतीति वर्तती है, उन्हें इस काल में शुद्ध उपयोग होवे तो ठीक - ऐसा लोभ नहीं होता; उन्हें तो सहज ही शुद्ध उपयोग हो जाता है।

जैसे, हीरा के काँटे में पाव रती का भी अन्तर नहीं चलता; उसी प्रकार स्वभावदृष्टि में और क्रमबद्धपर्याय की प्रतीति में शुद्ध उपयोग को मैं करूँ - ऐसा विकल्प करना नहीं चलता। यहाँ तो कहते हैं कि अखण्ड ज्ञायकस्वभाव के सन्मुख दृष्टि होने से शुद्ध उपयोग करूँ - ऐसा शुभविकल्प भी मुनि को नहीं उठता - ऐसे उत्तमशौचधर्म की बात यहाँ है। मुनि खींचतान करके ऐसे परिणाम नहीं करते हैं।

मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ ०३ में साधु के स्वरूप का वर्णन करते हुए पण्डित टोडरमलजी ने कहा है कि बाह्य नाना प्रकार के निमित्त बनते हैं परन्तु वहाँ कहीं भी मुनिराज सुख-दुःख नहीं मानते हैं तथा अपने योग्य बाह्य क्रिया जैसे बनती है, वैसे बनती है परन्तु उसे खींचतान कर, नहीं करते और अपने उपयोग को बहुत नहीं भ्रमाते। इस प्रकार किसी उपयोग की इच्छा मुनि को नहीं है, इस तरह मुनि, चार प्रकार के लोभ की प्रवृत्ति से रहित है; उसे उत्तमशौचधर्म कहते हैं।

मुनि की ऐसी दशा होती है कि उपयोग बदलने की इच्छा भी उन्हें नहीं होती - ऐसा मुनिधर्म है। उसे परमभक्ति से जाननेयोग्य है - ऐसा आचार्य भगवान कहते हैं। जिसे जैसी रुचि हो, उसका पुरुषार्थ किये बिना नहीं रहता है और उसमें वह विघ्न को नहीं गिनता है। इसी प्रकार मुनिराज, स्वरूप के उपयोग में विघ्न को नहीं गिनते हैं।

(कार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा ३९७ पर प्रवचन)

उत्तम संयमधर्म

उत्तम संयम अर्थात् सम्यग्दर्शनसहित चारित्र।

आत्मस्वभाव की श्रद्धा-ज्ञानपूर्वक शुभाशुभ इच्छाओं को रोककर, आत्मा में

एकाग्र होना, परमार्थ उत्तम संयमधर्म है। जब ऐसा वीतरागभाव न हो सके, तब सम्यक्श्रद्धा-ज्ञानपूर्वक अशुभराग को छोड़कर छहकाय के जीवों की रक्षा का शुभराग होता है, उसे व्यवहार उत्तम संयमधर्म कहते हैं।

मोक्ष का सीधा कारण वीतरागचारित्र है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान होने पर भी जहाँ तक वीतरागी संयमदशा प्रगट न करे, वहाँ तक केवलज्ञान नहीं होता; इसलिए वीतरागी संयमधर्म परम प्रशंसनीय है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान को गौणरूप से मोक्षमार्ग कहा जाता है। प्रवचनसार की सातवीं गाथा में कहा है — ‘चारित्तं खलु धम्मो’ अर्थात् सम्यग्दर्शनपूर्वक चारित्र ही धर्म है। चारित्रदशा के बिना उस भव में मोक्ष होता ही नहीं।

(पद्मनन्दिपंचविंशतिका में समागत संयमधर्म के प्रवचन से)

अब, अविकारी वीतरागी श्रद्धासहित अन्तर रमणता का वर्णन, निमित्तअपेक्षा से करते हैं। मुनि को हिलते-चलते हुए एक तिनके के दो टुकड़े करने की भी वृत्ति नहीं होती तो जीव को दुःख देने की वृत्ति कैसे उत्पन्न होगी? उत्पन्न ही नहीं होती। यद्यपि परजीव की रक्षा कोई नहीं कर सकता, परन्तु परजीवों को दुःख देने का भाव नहीं होता, उसे पर की रक्षा की - ऐसा कहा जाता है। सम्यग्दर्शन के समय स्व और पर का भेदज्ञान हुआ है, विशेष आगे बढ़ने से राग और पर से पृथक्पने के ज्ञान में एकाग्रता बढ़ती जाती है, वह चारित्र है। सम्यग्दर्शन के - भेदज्ञान के बाद, स्थिरता के कारण से स्थिरता का भेदज्ञान वीतरागदशा होने तक होता है - ऐसे मुनि को संयमभाव होता है।

संयम दो प्रकार का कहा गया है - (१) इन्द्रिय-मन का वश करना, तथा (२) छह काय के जीवों की रक्षा करना। मुनिराज, दर्शन करने के जाएँ, आहार लेने जाएँ - उस समय गमनादिक में ऐसे परिणाम रहते हैं कि मैं तृणमात्र का भी छेद / नाश नहीं करूँ। मेरे निमित्त से किसी का भी अहित न हो - ऐसे प्रयत्नरूप वर्तते हैं, जीवदया में तत्पर रहते हैं। अन्य ग्रन्थों में संयम का विशेष वर्णन किया है, उसे यहाँ टीकाकार संक्षिप्त में कहते हैं।

संयम दो प्रकार का है - एक, उपेक्षासंयम, तथा दूसरा अपहृतसंयम। देहादिक से भिन्न अपने चिदानन्द आत्मा के आनन्द का अनुभव करता है, वह उपेक्षासंयम है। उपेक्षा नाम उदासीनता या वीतरागता का है। दूसरे, अपहृतसंयम के तीन भेद हैं। (१) वहाँ

चलते-बैठते जो जीव दिखें तो उन्हें टालकर जाए परन्तु जीव को खिसकाये नहीं, वह उत्कृष्ट है। शरीर की क्रिया को या इस जीव को मुझ से बचा दूँ, ऐसा अहङ्कार नहीं है परन्तु जहाँ जीव हो वहाँ बैठे नहीं - ऐसी सहजदशा, वह उत्कृष्ट है। (२) बैठने की जगह छोटी हो तो मोरपिच्छी से जीव का परिमार्जन करके बैठे, वह मध्यम है। (३) अन्य तृणादिक से सरकावे, वह जघन्य है। यह अन्दर के भाव की बात है; बाहर की क्रिया की बात नहीं है।

यहाँ अपहृतसंयमी को पाँच समिति का उपदेश है। वहाँ आहार-विहार के लिए गमन करे तो प्रासुकमार्ग देखकर चार हाथ भूमि को देखकर मस्त हाथी की तरह शान्तचित्त से विहार करते हैं, वह ईर्यासमिति है।

धर्मोपदेशादि के लिए वचन कहें तो हितरूप और मर्यादापूर्वक कहते हैं। अलग-अलग देश की भाषा अलग-अलग होवे तो भाषा की शैली समझकर मर्यादा समझे और सन्देहरहित स्पष्ट अभिप्राय से धर्म का स्वरूप कहे; कुछ गड़बड़ नहीं करे। अति प्रलाप आदि वचन के दोषरहित बोले। भाषा पर आत्मा काबू रख सकता है - ऐसा यहाँ नहीं कहना है परन्तु मर्यादारहित और अप्रिय भाषा बोलने का विकल्प, मुनि को उत्पन्न नहीं होता है; वे प्रत्येक वचन तौल-तौलकर बोलते हैं - ऐसी वीतरागीदशा होती है, वह भाषासमिति है।

यह धर्मभावना का अधिकार है, इसमें उत्तमसंयमधर्म की बात चल रही है। सम्यग्दृष्टि और मुनि यह भावना भाते हैं क्योंकि वीतरागतामार्ग कैसा होता है? उसे जाने बिना, सच्ची धर्मभावना नहीं होती। वीतरागदशा कहो, चारित्रदशा कहो, मोक्षमार्ग अथवा संवरतत्त्व कहो या गुरुपद कहो - ये सब एक ही हैं और उसका श्रद्धा-ज्ञान यथार्थ होना, वही देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति है। देव-गुरु-शास्त्र के यथार्थस्वरूप का जिसे पता नहीं है, वह गृहीत-मिथ्यादृष्टि है।

जो सत्य-संयममार्ग से विरुद्ध कथन करता है, वह गृहीतमिथ्यादृष्टि है। जिसको एक तत्त्व में अन्तर पड़ा, उसको नव तत्त्व, छह द्रव्य, निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध और देव-गुरु-शास्त्र, सब में अन्तर पड़ जाता है। जो यथार्थ संयममार्ग से विरुद्ध प्ररूपणा होती है,

अथवा लिखते हैं, वे सब गृहीतमिथ्यादृष्टि द्वारा कहा गया है - ऐसा जानना चाहिए।

छठवें गुणस्थान की मुनिदशा है, वह संवरतत्त्व है। जिसने उसके स्वरूप में अन्तर किया, उसके सब तत्त्व मिथ्या हैं; इसलिए मुनिपनेरूप संयमधर्म का स्वरूप भक्तिपूर्वक जानने योग्य है - ऐसा आचार्य भगवान ने कहा है। परमभक्ति से, अर्थात् परमश्रद्धा से जानने योग्य है। देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा करना, व्यवहारभक्ति है और आत्मा की श्रद्धा करना, निश्चयभक्ति है। इसलिए मुनिदशा कैसी होती है? - उसकी श्रद्धा नहीं करनेवाले की सब भूल है। जीवतत्त्व की भूल, अजीवतत्त्व की भूल, देव-शास्त्र-गुरु की भूल, संवरतत्त्व की भूल, मोक्षमार्ग की भूल, निमित्त-नैमित्तिक की भूल - इस प्रकार एक भूल से, सब भूल होती हैं। जो निर्ग्रन्थ सन्त की विधि को नहीं जानता, वह चारित्र को भी नहीं जानता है।

सम्यग्दृष्टि जीव, गृहस्थाश्रम में हो, उसके परिणाम कैसे होते हैं? - वह कहते हैं। उसके परिणाम में देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा, यथार्थ होनी चाहिए। जिसे उनकी श्रद्धा नहीं है, वह निश्चयसम्यग्दृष्टि नहीं है। इसलिए यह संयममार्ग किसे कहा जाता है? - यह अवश्य जानने योग्य है। छठवें गुणस्थान में आत्मा की लीनता कैसी होती है और उस समय कैसा राग नहीं होता और कैसा राग होता है और उस राग के निमित्त भी कैसे होते हैं? यह जानना चाहिए। जिसे देव-शास्त्र-गुरु का यथार्थस्वरूप पता नहीं है, उसे संयमधर्मरूपी मुनिदशा का पता भी नहीं है और उसे संवरतत्त्व या मोक्षमार्ग का भी पता नहीं है, वह मिथ्यादृष्टि है।

अहो! अभी जगत् में इस जैन सम्प्रदाय में आकर भी मूल तत्त्व की बात को चूककर ऊपर-ऊपर से सब बात चलती है। व्यवहार का भी ठिकाना नहीं है; मुनिदशा को इतना अधिक विकृत कर दिया है। भगवान के द्वारा कथित निश्चय संयममार्ग तो रहने ही नहीं दिया, परन्तु व्यवहारसंयम का भी ठिकाना नहीं है और उसके निमित्त कैसे होते हैं? उसका भी पता नहीं है, वह गृहीतमिथ्यादृष्टि है। उसे सम्यग्दर्शन कैसा, अर्थात् उसे सम्यग्दर्शन होता ही नहीं है।

कोई यह कहता है कि यह लकड़ी ऊँची हुई, वह उसके कारण से हुई है; हाथ के

कारण से नहीं; हाथ तो निमित्तमात्र है तो इतने से निमित्त-नैमित्तिक का ज्ञान यथार्थ हुआ है - ऐसा नहीं है परन्तु जब आत्मा में छठवें गुणस्थान की भूमिका होती है, तब कैसा राग होता है और किस प्रकार का राग छूट जाता है तथा उस समय निमित्त कैसे होते हैं ? इन सबका यथार्थ ज्ञान और श्रद्धान नहीं है तो वह निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध को भी यथार्थ नहीं समझा है; वह गृहीतमिथ्यादृष्टि है क्योंकि वीतरागमार्ग - निर्ग्रन्थमार्ग के सच्चे अनुयायी को देव-शास्त्र-गुरु की यथार्थश्रद्धा होती है। वह वस्त्र-पात्रवाले को साधु नहीं मानता। चक्षु-मुकुटवाले को जिनप्रतिमा नहीं मानता। अठारह दोषरहित अरहन्तभगवान हैं, इसके अलावा अरहन्तदेव को अन्य कल्पित रोग, क्षुधा आदि दोषवाला नहीं मानता। सम्यग्दृष्टि धर्मानुप्रेक्षा का विचार करता है, उसमें मुनिदशा कैसी होती है, उसे जानकर श्रद्धा करता है। यह साँकल है; जैसे, साँकल में से एक कड़ी पृथक् पड़ जाए तो धारावाही साँकल नहीं रहती; इसी प्रकार एक मुनिपने की, अर्थात् संवरतत्त्व की भूल हो जाए तो (सात तत्त्वों की) धारावाहिता नहीं रहती, अर्थात् समस्त तत्त्वों में भूल होती है; सम्पूर्ण निर्दोष श्रद्धा नहीं होती। इसीलिए संयमधर्म को जानने की आवश्यकता है।

संयमधर्म में पाँच समिति की बात चल रही है। मुनि को वचनसमिति होती है, यह बात आ गयी है। अब, एषणासमिति की व्याख्या करते हैं। मुनिराज, काया की स्थिति के लिए आहार करते हैं, वह भी मन-वचन, काय-कृत-कारित-अनुमोदना के दोष जिसमें नहीं लगें - ऐसा पर के द्वारा दिया गया; छयालीस दोष, बत्तीस अन्तराय, और चौदह मल दोषरहित, अपने करपात्र में, खड़े-खड़े, अतियत्नपूर्वक शुद्ध आहार करते हैं - वह एषणासमिति है। मुनि को रोग हुआ हो परन्तु स्वयं के लिए दवा चाहिए - ऐसा नहीं कहते हैं। ऐसी सहज वीतरागदशा सन्तों की होती है। नव-नव कोटि से छयालीस दोष और बत्तीस अन्तरायरहित आहार ग्रहण करते हैं। बारह महीने के उपवास के पारणे में आहार लेने गये हों तो भी दोषरहित आहार लेते हैं। आहार में चींटी आ गयी हो, मक्खी का पंख दिखाई दे तो आहार नहीं लेते हैं। सहज ही आहार की वृत्ति तोड़ डालते हैं; हठ से वापस नहीं फिरते क्योंकि मुनि को तीन कषाय का तो अभाव हो गया है। आहार लेते-लेते भी अप्रमत्तदशा हो जाती है। देखो, ऐसी मुनिदशा होती है। अभी तो जिन्होंने मुनिदशा को

कृत्रिम बना दिया है, वे संयमधर्म को नहीं जानते हैं ।

अति यत्नाचारपूर्वक भूमि को देखकर धर्म के उपकरण उठाना-रखना, वह आदान-निक्षेपणसमिति है, यह चौथी समिति है । कोई ' आपान भण्डमत निखेवणि ' यह समिति कहते हैं, वह मिथ्या है क्योंकि मुनि को भण्डमत, अर्थात् वस्त्र-पात्र होते ही नहीं हैं । वीतराग के मार्ग में धर्म के उपकरण मोरपिच्छी और कमण्डलु होता है । उन्हें यत्नपूर्वक लेना-रखना, उसे आदान-निक्षेपणसमिति कहा गया है ।

त्रसजीवों को देखकर-टालकर, यत्नपूर्वक शरीर के मल-मूत्रादिक का क्षेपण करना, वह पाँचवीं प्रतिष्ठापनसमिति है ।

इस प्रकार पाँच समिति का पालन करते हैं, उनसे संयम पलता है । सिद्धान्त में ऐसा कहा है कि यदि यत्नाचारपूर्वक प्रवर्तन करता है, तो उससे बाह्य जीवों को बाधा होवे तो भी उसे बन्ध नहीं होता तथा यत्नाचाररहित प्रवर्तता है, उसे बाह्य जीव मरे या न मरे, परन्तु बन्ध अवश्य होता है ।

अपहतसंयम के पालन के लिए आठ शुद्धियों का उपदेश है । (१) भावशुद्धि, (२) कायशुद्धि, (३) विनयशुद्धि, (४) ईर्यापथशुद्धि, (५) भिक्षाशुद्धि, (६) प्रतिष्ठापनाशुद्धि, (७) शयनासनशुद्धि, (८) वाक्यशुद्धि । इनमें —

(१) भावशुद्धि - यह तो कर्म के क्षयोपशमजनित है, इसके बिना आचार प्रगट नहीं होता । जैसे, शुद्ध उज्ज्वल दीवार पर चित्र शोभायमान दिखता है; इसी प्रकार मुनि को तीन कषाय का क्षयोपशम तो हो गया है, अर्थात् तीन कषाय चौकड़ी का अभाव होने से बहुत शुद्धि प्रगट हुई है । इसीलिए मुनि को पञ्चाचार होते हैं; अज्ञानी को पञ्चाचार नहीं होते क्योंकि उसे मुनिपने के स्वरूप का पता नहीं है । इसलिए वह इस आचार में भी गड़बड़वाला है, अर्थात् मुनि को वस्त्र-पात्र के पोटले रखना ठहराया है; इसलिए उसे आचार के स्वरूप की समझ में भूल है । वीतरागमार्ग की यथार्थ समझ के बिना, मिथ्या मुनिपने में मन्दकषाय का भी ठिकाना नहीं होता, तो उसे भावशुद्धि तो होगी ही कैसे ? यहाँ तो पहले भावशुद्धि की बात करके अब दूसरी कायशुद्धि कहते हैं ।

(२) कायशुद्धि - दिगम्बररूप, सर्व विकारों से रहित यत्नरूप प्रवृत्ति है, जिसमें ऐसी शान्तमुद्रा को देखकर अन्य को भय उत्पन्न नहीं होता और स्वयं भी निर्भय रहे - ऐसी कायशुद्धि है। अहो! मुनि के शरीर की स्थिति भी अन्तर वीतरागता प्रगट कराये - ऐसी होती है।

(३) विनयशुद्धि - मुनिमार्ग में अरहन्तादिक में भक्ति तथा गुरुजनों के अनुकूल रहना - ऐसी विनयशुद्धि होती है। मुनिराज, भगवान की प्रतिमा की भक्ति करते हैं परन्तु वह वीतरागमुद्रा होती है, उस पर शृङ्गार, गहने इत्यादि नहीं होते - ऐसी प्रतिमा की भक्ति करते हैं। इससे विपरीत हो तो उसे नहीं मानते हैं। अठारह दोषरहित भगवान को स्वीकार करते हैं और उनकी भक्ति करते हैं, वह विनयशुद्धि है।

(४) ईर्यापथशुद्धि - जीवों के सर्व स्थान मुनिराज जानते हैं; इसलिए अपने ज्ञान द्वारा सूर्य के उद्योत से नेत्रइन्द्रिय के द्वारा मार्ग में अतियत्नपूर्वक देखकर चलना, वह ईर्यापथशुद्धि है। मुनिराज अन्ध नहीं होते - ऐसा इस बात से निर्णय होता है। किसी मुनि को आँख के रोग के कारण अन्धापना हो गया हो तो वे सहज वीतरागी मुनि निरालम्बन आत्मस्वभाव में पुरुषार्थ की उग्रता बढ़ाकर, समाधिमरण करते हैं। मुनियों की सहज ऐसी दशा होती है। वे जीवों के स्थान के ज्ञाता होते हैं तथापि अन्धकार में देख नहीं सकते; इसलिए सूर्य के उजाले में देखकर चलते हैं, उसे ईर्यापथशुद्धि कहते हैं।

(५) भिक्षाशुद्धि - मुनिराज, भोजन के लिए जाने से पहले अपने मल-मूत्र की बाधा को परखते हैं, अपने अङ्गों का ठीक से प्रतिलेखन करते हैं। आचारसूत्र में कहे अनुसार देश, काल, स्वभाव का विचार करते हैं और उतनी जगह आहार के लिए प्रवेश नहीं करते - जहाँ गीत, नृत्य, वाद्ययन्त्र द्वारा जिनकी आजीविका हो, उनके घर नहीं जाते। जहाँ प्रसूति हुई हो, वहाँ नहीं जाते। जहाँ मृत्यु हुई हो, वहाँ नहीं जाते। वेश्या के घर नहीं जाते। स्थूलिभद्र वेश्या के घर रहे, यह बात मिथ्या है। कोई कहता है कि ब्रह्मचर्य की परीक्षा के लिए रहे थे परन्तु जैसे जगत् में जहर को चखकर कोई परीक्षा नहीं करता; इसी प्रकार ऐसी परीक्षा नहीं होती। मुनिराज वेश्या के घर नहीं जाते। जहाँ पापकर्म-हिंसाकर्म होता हो, वहाँ नहीं जाते। दीन-अनाथ के घर नहीं जाते। दानशाला में, यज्ञशाला में, यज्ञ-

पूजनशाला में तथा जहाँ विवाह आदि मङ्गल हों, उसके घर आहार के लिए मुनिराज नहीं जाते। धनवान के घर जाना या निर्धन के घर जाना – ऐसा विचार नहीं करते हैं। सेठ के घर जाने से धर्म की प्रभावना बढ़ेगी – ऐसा विचार करके वहाँ नहीं जाते हैं क्योंकि धर्म की प्रभावना सेठ के घर है या अपनी आत्मा में है ? जो अपना मोक्षमार्ग प्रकाशित रखता है, वह वास्तव में धर्म की प्रभावना है। इसलिए धनवान के यहाँ जाना या निर्धन के यहाँ जाना – ऐसा विचार नहीं करते। लोकनिन्द्यकुल के घर नहीं जाते। दीनवृत्ति नहीं करते। आगम में कहे अनुसार दोष-अन्तराय टालकर, निर्दोष प्रासुक आहार लेते हैं, वह भिक्षाशुद्धि है।

मुनि, ऐसे श्रावक के यहाँ आहार लेने जाते हैं कि जो स्वयं अपने लिए ही शुद्ध आहार बनाता हो; इसलिए वहाँ अशुद्धि नहीं होती। अभी तो सम्प्रदाय में ऐसी पद्धति हो गयी है कि पर्यूषण के समय आठ-आठ दिन का आटा रखते हैं, उसमें त्रसजीवों की उत्पत्ति होती है तथा अचार बनाते हैं, उसमें भी त्रसजीवों की उत्पत्ति होती है – ऐसा त्रस का आहार तो वास्तव में श्रावक को होता ही नहीं। ऐसे घर मुनिराज आहार लेने नहीं जाते, क्योंकि त्रस की हिंसा के भोजन का त्याग तो सहज निचलीदशा में होता है।

वहाँ लाभ-अलाभ, सरस-नीरस में समानबुद्धि रखते हैं। ऐसी भिक्षा, पाँच प्रकार की कही गयी है – (१) गोचरी, (२) अक्षमृक्षण, (३) उदराग्निप्रशमन, (४) भ्रमराहार, (५) गर्तपूरण।

गाय की तरह दातार की सम्पत्ति की तरफ नहीं देखते हुए जैसा प्राप्त हुआ, वैसा आहार लेने में ही चित्त रखें, वह गोचरीवृत्ति है। जैसे, गाड़ी को चिकनाहट लगाकर गाँव पहुँचाए, वैसे ही संयम की साधक काया को निर्दोष आहार देकर संयम साधे, वह अक्षमृक्षणवृत्ति है। जैसे, अग्नि लगी हो, उसे जैसे-तैसे पानी से बुझाकर घर को बचाते हैं, वैसे ही क्षुधाग्नि को सरस-नीरस आहार से बुझाकर अपने परिणाम उज्ज्वल रखें, वह उदराग्निप्रशमनवृत्ति है। जैसे, भ्रमर, फूल को बाधा न पहुँचे और पराग ले लेता है; वैसे ही मुनि, दातार को बाधा / कष्ट पहुँचाए बिना आहार लें, वह भ्रमराहारवृत्ति है। जैसे शुभ्र, अर्थात् गड्डे को जैसे तैसे भरती करके भर दिया जाता है; वैसे ही मुनिराज, स्वाद-बेस्वाद

आहार से उदर को भरते हैं, वह **गर्तपूरणवृत्ति** है। इस प्रकार भिक्षाशुद्धि है।

(६) **प्रतिष्ठापनाशुद्धि** - जीवों को देखकर यत्नपूर्वक मल-मूत्र, पसीना, थूक, इत्यादि क्षेपण करते हैं, वह प्रतिष्ठापनाशुद्धि है। मुनिराज को यह सब सहज होता है।

(७) **शयनासनशुद्धि** - जहाँ स्त्री, नपुंसक, दुष्ट जीव, चोर, मद्यपानी और जीववध करनेवाले नीच मनुष्य रहते हों, वहाँ मुनि निवास नहीं करते, यह शयनासनशुद्धि है तथा शृंगार, विकारी आभूषण, सुन्दर वेष धारक वेश्या आदि की क्रिया जहाँ हो; सुन्दर गीत, नृत्य, वाद्ययन्त्र जहाँ होते हों; जहाँ विकार के कारणरूप नग्न, गुप्त प्रदेश जिसमें दिखाई दे - ऐसे चित्र हों; जहाँ हास्य महोत्सव, घोड़ा आदि को शिक्षा देने का स्थान हो, व्यायामभूमि हो तथा जिससे क्रोधादि उत्पन्न हो जाए - ऐसी जगह मुनिराज निवास नहीं करते, वह भी शयनासनशुद्धि है। जैसे, कायोत्सर्गपूर्वक खड़े रहने की शक्ति हो, वहाँ तक स्वरूप में लीन रहकर खड़े रहें, फिर बैठें तथा किसी समय खेद मिटाने के लिए अल्प काल सोयें, यह भी शयनासनशुद्धि है।

(८) **वाक्यशुद्धि** - जहाँ आरम्भ की प्रेरणारहित वचन प्रवर्ते, परन्तु युद्ध, काम, कर्कश, प्रलाप, पैशून्य / चुगली, कठोर, परपीड़ाकारक वचन नहीं प्रवर्ते; अपना तथा पर का जिससे हित हो - ऐसे मीठे मनोहर वैराग्य हेतुरूप, स्वात्मप्रशंसा और परनिन्दारहित संयमी के योग्य वचन प्रवर्ते, वह वचनशुद्धि है। मुनि, किसी राजा को छुपाते नहीं हैं। कोई युद्ध की बात नहीं करते, किसी की सगाई नहीं करा देते - ऐसा मुनि का व्यवहार है। इसका जिसे ठिकाना नहीं, वह मुनि कैसा ? अर्थात्, उसे मुनिपना नहीं होता। मुनि को तो मधुर और निर्दोष वचन होता है, वह वाक्यशुद्धि है।

इस प्रकार मुनि को संयमधर्म होता है। इस संयम के पाँच भेद होते हैं। (१) सामायिक, (२) छेदोपस्थापना, (३) परिहारविशुद्धि (४) सूक्ष्मसाम्पराय, और (५) यथाख्यात - ऐसे पाँच भेद हैं। उनका व्याख्यान अन्य ग्रन्थों से जानना चाहिए।

(कार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा ३९९ पर प्रवचन)

उत्तम तपधर्म

उत्तम तप अर्थात् सम्यक्दर्शन और सम्यक्ज्ञानसहित इच्छा निरोध।

जो उत्तम तप है, वह संसार समुद्र से पार होने के लिए जहाज के समान है। सम्यग्ज्ञानरूपी दृष्टि से वस्तुस्वरूप को जानकर, उसमें लीन होने पर इच्छाएँ रुक जाती हैं, वह तपधर्म है, उससे कर्म का नाश होता है। जिस भाव से शुभ अथवा अशुभ कर्मों का बन्ध होता है, वह वास्तव में तप नहीं है किन्तु जिस भाव से ज्ञान-दर्शन की शुद्धि प्रगट होकर कर्म का नाश होता है, वह तप है। यह तप, आत्मा की वीतरागी चारित्रदशा है।

अहो ! सादि-अनन्त परमानन्द के कारणभूत उत्तम-तप के धारण करने में तुझे क्या हानि है ? सम्यक् तप का पालन करते हुए बाह्य में प्रतिकूलता आए, उससे दुःखी मत हो, सम्यक् तप तुझे किञ्चित् भी दुःख का कारण नहीं है; बल्कि मोक्षदशा के परमसुख का कारण है। **उत्तम तप तो वीतरागभाव है और वीतरागभाव में दुःख नहीं होता।**

वास्तव में जो चारित्र को दुःख का कारण मानते हैं, वे अज्ञानी हैं। जो लोग उपवास को एवं चारित्र को दुःखदायक मानते हैं, उनके सम्यग्दर्शन भी नहीं है। शुद्ध चिदानन्द आत्मा की प्रतीति करके, उसके आनन्दानुभव में लीन हो जाने पर इच्छाओं का नाश हो जाना ही **उत्तम तपधर्म** है। *(पद्मनन्दिपंचविंशतिका में समागत तपधर्म के प्रवचन से)*

जो मुनिराज इस लोक-पर लोक के सुख की अपेक्षारहित होकर तथा सुख-दुःख, शत्रु-मित्र, तृण-कञ्चन और निन्दा-प्रशंसादिक में राग-द्वेषरहित समभावी होकर, अनेक प्रकार से कायक्लेश तप करते हैं, उन मुनिराज को उत्तमतपधर्म होता है। यहाँ तप, अर्थात् मुनिपना है, उस मुनिपने में कायक्लेश करते हैं - ऐसा कहा है, वह निमित्त का कथन है; वस्तुतः तो ज्ञान को राग और मन से पृथक् करके आत्मा में रमते हैं, वह तप है।

चारित्र के लिए जो उद्यम और उपयोग करता है, उसे तप कहा गया है। आत्मा में पुरुषार्थपूर्वक अपना उपयोग जोड़ना, वह चारित्र अथवा तप है। वीतरागदशा प्रगट करना, तप है। उस समय कायक्लेश होता है परन्तु उससे आत्मा में विभावपरिणति का संस्कार होता है, उसे मिटाने का उद्यम मुनिराज करते हैं, अर्थात् कायक्लेश में शरीर कृश हो, अङ्गोपाङ्ग भी शिथिल हो जाएँ - इत्यादि निमित्त से विभावपरिणति-अरुचि-द्वेष न हो, परन्तु स्वभाव में विशेष लीनता हो - ऐसा उद्यम मुनिराज करते हैं और अपने शुद्धस्वरूप उपयोग को चारित्र में स्थिर करते हैं, वह भी जोर से स्थिर करते हैं, वह जोर करना, यही

तप है। वह बाह्य -अभ्यन्तर के भेद से बारह प्रकार का है। उसका वर्णन आगे चूलिका प्रकरण में किया जाएगा।

(कार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा ४०० पर प्रवचन)

उत्तम त्यागधर्म

उत्तम त्याग अर्थात् सम्यग्दर्शनसहित रागभाव का त्याग।

मुनियों को शास्त्र पढ़ने का भी आग्रह नहीं है, विकल्प की पकड़ नहीं है किन्तु वीतरागभाव की भावना है। मुनि, शास्त्र का स्वाध्याय कर रहे हों और दूसरे मुनि वह शास्त्र देखकर आकर्षित हो रहे हों तो तुरन्त ही मुनि, वह शास्त्र उन्हें पढ़ने के लिए देते हैं। 'इस नये शास्त्र में क्या विषय है, उसे पहले मैं देख लूँ, और पश्चात् उन्हें दूँ' — ऐसा आग्रह उन्हें नहीं होता; क्योंकि शास्त्र का प्रयोजन तो वीतरागभाव है और वे स्वयं भी शास्त्र की ओर का विकल्प तोड़ना ही चाहते हैं। अन्तरङ्ग में स्वभाव के बल से पढ़ने की वृत्ति का वेग नष्ट कर देते हैं, उसका नाम उत्तम त्यागधर्म है।

धर्म-ग्रन्थ आदि के दान करने को गृहस्थ का त्यागधर्म कहा है। सम्यग्दृष्टि गृहस्थ धर्मात्मा जानता है कि बाह्य में पुस्तकादि लेने-देने की क्रिया आत्मा की नहीं है और अन्तरङ्ग में वीतराग शासन जयवन्त रहे, साधक-धर्मात्मा विद्यमान रहें और सम्यक्श्रुत ज्ञान की वृद्धि हो - ऐसी भावनारूप जो विकल्प हैं, वह भी राग है; आत्मा उसका कर्ता नहीं है। अन्तरङ्ग में परिपूर्ण शुद्ध चैतन्यस्वभाव की प्रतीतिपूर्वक जो ज्ञान की निर्मलता बढ़ती है और राग दूर होता है, वह त्याग है और वही धर्म है।

(पद्मनन्दिपंचविंशतिका में समागत क्षमाधर्म के प्रवचन से)

जो मुनिराज, मिष्ट भोजन छोड़ते हैं; राग-द्वेष को उत्पन्न करानेवाले उपकरणों का त्याग करते हैं और ममत्व के कारणरूप वस्तिकाओं का त्याग करते हैं, वह मुनि का उत्तमत्यागधर्म है।

मुनिराज को मिष्ट भोजन तो होता है परन्तु यहाँ विशेष राग छोड़ते हैं, तब मिष्ट भोजन नहीं होता - ऐसे तप की यहाँ व्याख्या है। उस समय, विशेष पुरुषार्थ होता है और मिष्ट भोजन का योग नहीं होता; इसलिए उसे छोड़ते हैं - ऐसा कहा गया है।

उपकरणों में घड़ी इत्यादि नहीं रखते हैं। जो कोई राग-द्वेष उत्पन्न करानेवाले

उपकरणों के रखता है, उसे वो व्यवहार का भी ठिकाना नहीं है और वैसे मुनि को निश्चयचारित्र तो होता ही नहीं है। निश्चयचारित्रपूर्वक, व्यवहार होता है, वह मुनिपना है। ऐसे सच्चे मुनि की श्रद्धा कहो या संवरतत्त्व की श्रद्धा कहो, वह एक ही है। इसलिए मुनिधर्म का यथार्थ ज्ञान करना चाहिए।

मुनिराज को उत्तमत्यागधर्म होता है। सच्चे मुनि कैसे होते हैं और उन्हें किसका त्याग होता है? – यह बताते हुए इससे विरुद्ध भाव हों, उसमें मुनिपना नहीं रहता है – ऐसा कहा गया है। यह बात कोई दूसरों के दोष निकालने के लिए नहीं हैं परन्तु ऐसे दोष अपने में हों तो मिटाने योग्य हैं – ऐसा कहते हैं। पर में ऐसे दोष हों तो ज्ञान करने योग्य हैं। यदि सम्यग्दृष्टि, मुनिपद की भावना करता है तो उसमें राग घटकर संवर होता है और उसे आनन्द की वृद्धि होती है।

मुनिराज को संसार-देह-भोग के ममत्व का त्याग तो पहले से ही होता है। यहाँ तो जिस वस्तु से कार्य की आवश्यकता ज्ञात हो, उसे मुख्य करके कहा है। आहार से काम पड़ता है तो वहाँ मुनि, सरस-नीरस आहार में ममत्व नहीं करते, छियालीस दोषरहित आहार लेते हैं परन्तु उसमें मुनिराज गृद्धिभाव नहीं करते। पुस्तक, पिच्छी, कमण्डल, इन धर्म उपकरण में जिनसे राग तीव्र बढ़े, उस प्रकार उन्हें नहीं रखते हैं। मुनि, गृहस्थ के काम में नहीं आवे ऐसे उपकरण रखते हैं। इसके अतिरिक्त मुनि, पोस्टकार्ड, घड़ी, फाउन्टेन पैन, इत्यादि नहीं रखते और पोस्टकार्ड किसी के पास रखाते भी नहीं हैं। मुनि, आत्मा के ज्ञान-ध्यान में वर्तते हैं, उपशमरस में झूलते हैं। कोई बड़ी वस्तिका, अर्थात् रहने की जगह से काम पड़े तो वहाँ ऐसी जगह में नहीं रहते कि जिससे ममत्व उत्पन्न हो! आलीशान बाँगले में मुनिराज नहीं रहते – ऐसा ममत्वभाव मुनिराज को नहीं होता है।

मुनिराज का त्यागधर्म ऐसा होता है। ऐसा चारित्र न हो और मुनिपना मनवाले तो वह जीव, निगोद का आराधन कर रहा है। कुन्दकुन्दाचार्यदेव कहते हैं कि कोई मुनि नाम धराकर वस्त्र का धागा भी रखता है तो वह निगोद का कामी है; वह मुनि नहीं, परन्तु गृहीतमिथ्यादृष्टि है। शास्त्र में तो मिथ्यात्व का पोषण करनेवाले को सात व्यसन से भी महान पाप कहा गया है। मुनिपना नहीं होने पर भी मुनिपना माने-मनवावे तो वह जीव,

निगोद का आराधन कर रहा है। इसलिए यहाँ मुनि के त्यागधर्म का वर्णन करते हुए कहते हैं कि मुनि को दूसरा सब तो त्याग है परन्तु उपकरणादि का त्याग नहीं होने पर भी उनमें ममत्व नहीं करते, वह उत्तमत्यागधर्म है। (कार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा ४०१ पर प्रवचन)

उत्तम आकिञ्चन्यधर्म

उत्तम आकिञ्चन्यधर्म अर्थात् सम्यग्दर्शनसहित अकिञ्चन्यपने का भाव।

मुनियों को शास्त्र का अगाध ज्ञान हो तो भी उसका उनको ममत्व अथवा अभिमान नहीं होता। दूसरे मुनियों को ज्ञान का उपदेश देने में वे किञ्चित् भी संकोच नहीं करते। 'मैं अपना सारा रहस्य इससे कह दूँगा तो यह मुझसे आगे बढ़ जाएगा।' ऐसे ईर्ष्याभाव का विकल्प भी मुनि को नहीं होता। अन्य कोई अपने से आगे बढ़कर, अपने से पूर्व केवलज्ञान प्राप्त करता हो तो उसमें मुनि की अनुमोदना होती है। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि गृहस्थों में भी ज्ञान-चारित्रादि गुणों में जो अपने से बढ़ा हुआ हो, उसके प्रति अनुमोदना और बहुमान होता है। विकल्प के समय यदि अधिक गुणवान के प्रति अनुमोदना न हो तो उस जीव को गुण की रुचि नहीं है।

मुनिजन अन्तरङ्ग में किञ्चित् भी छिपाये बिना, सरलता से पात्र जीव को सर्व रहस्य का उपदेश करते हैं। वे उपदेश के विकल्प को भी अपना नहीं मानते। जिनको शरीर और विकल्प का ममत्व नहीं है तथा आहार और उपदेशादि के विकल्प को तोड़कर वीतरागस्वभाव में स्थित हैं — ऐसे उत्तम आकिञ्चन्यधर्म में रत मुनिगण इस संसार में धन्य हैं।

श्रुत के रहस्य को जाननेवाले वीतरागी मुनियों ने समस्त परवस्तुओं को अपने आत्मा से भिन्न जानकर, उनका त्याग कर दिया है; इसलिए उनके उत्तम आकिञ्चन्यधर्म है।

(पद्मनन्दिपंचविंशतिका में समागत आकिञ्चन्यधर्म के प्रवचन से)

जो मुनिराज, मन-वचन-काया; कृत-कारित-अनुमोदनापूर्वक समस्त चेतन-अचेतन परिग्रह का सर्वथा त्याग करते हैं, कैसे होते हुए? लोकव्यवहार से विरक्त होते हुए त्याग करते हैं, उन मुनिराज को निर्ग्रन्थपना होता है।

मुनिराज, अन्य परिग्रह तो छोड़ते ही हैं परन्तु मुनिपने में योग्य ऐसे चेतन तो शिष्य

संघ तथा अचेतन पुस्तक, पिच्छी, कमण्डलु आदि धर्मोपकरण और आहार, वस्तिका, देह इनसे सर्वथा ममत्व का त्याग करते हैं। वे ऐसा विचार करते हैं कि मैं तो एक आत्मा ही हूँ; अन्य कुछ भी मेरा नहीं है, मैं आकिञ्चन हूँ। जिनके ऐसा निर्ममत्व हो, उसे उत्तमआकिञ्चन्यधर्म होता है।

मुनिराज को किसी सांसारिक चेतन पदार्थों का परिग्रह नहीं होता, परन्तु जो शिष्यादि होते हैं, उनके प्रति भी मुनिराज को ममत्वभाव नहीं होता और पर्याय में राग होता है, वह भी मेरी स्थायी चीज नहीं है; मैं तो परवस्तु के सम्बन्धरहित हूँ - ऐसा मुनिराज विचार करते हैं।

यह तो चारित्रदशा की बात है। निर्ग्रन्थपद कैसा होता है? उसका भी जिसे पता नहीं है, उसने तो मुनिपद को नष्ट कर डाला है, अर्थात् मुनि के मार्ग को तोड़ डाला है। इस काल में भावलिङ्गी मुनि सुनने में या देखने में नहीं आये। द्रव्यलिङ्गी हो तो उनकी बात यहाँ नहीं है। यहाँ वीतरागीदशा प्रगट हुई हो और आनन्द में झूलते हों, ऐसे मुनि को बाहर में मोरपिच्छी, कमण्डलु आदि उपकरण होते हैं परन्तु उन्हें उनमें ममत्वभाव नहीं होता। उनका असंगपना विचार करते हैं, चित्त का भी संग छोड़ देते हैं और निर्ममत्व होते हैं, वह आकिञ्चनधर्म है।

अहो! कितनों ने ही तो मुनिधर्म कैसा होता है? यह सुना भी नहीं है। इसलिए उन्हें धर्म कहाँ से होगा? नहीं होता। इसलिए तू अपनी श्रद्धा सुधारने के लिए मुनिपने के स्वरूप को जान! गुण को यथार्थ जानने से, गुण का आदर हुए बिना नहीं रहेगा और इससे श्रद्धा में विपरीतता नहीं रहती है। इस बात को समझे बिना दो-दो महीने की समाधि करे, परन्तु उसे मिथ्यात्व होने के कारण निगोद का आराधन हो रहा है। वह कदाचित् स्वर्ग में जाए तो वह अपवादमार्ग है परन्तु मिथ्यात्वी तो निगोद में जाता है, यह उत्सर्गमार्ग है। यह बात किसी का तिरस्कार या अनादर करने के लिए नहीं है (अपितु यह तो वस्तुस्थिति है)। यह बात पहले कह गये हैं कि अपने में विपरीतता न आवे, इसके लिए यह बात कही जा रही है। इसलिए जीवों को मूढ़ता मिटाकर मुनिपने का यथार्थ ज्ञान करना चाहिए। इस प्रकार मुनि को उत्तमआकिञ्चन्य, अर्थात् ममत्वरहित धर्म कहा गया है।

(कार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा ४०२ पर प्रवचन)

उत्तम ब्रह्मचर्यधर्म

उत्तम ब्रह्मचर्य अर्थात् सम्यग्दर्शनसहित ब्रह्मचर्य का भाव ।

ब्रह्म का अर्थ है आत्मा का स्वभाव; उसमें विचरना, परिणमन करना, लीन होना, वही ब्रह्मचर्य है । जगत के सर्व विषयों से उदासीन होकर आत्मस्वभाव में चर्या प्रगट हुई, वह ब्रह्मचर्य है ।

वास्तव में तो वीतरागभाव ही धर्म है किन्तु उसके पूर्व निमित्तरूप से ब्रह्मचर्य का शुभराग था, उसे छोड़कर वीतरागभाव हुआ – ऐसा बतलाने के लिए उस वीतरागभाव को उत्तम ब्रह्मचर्यधर्म कहा है । मुनिराज के जब शुद्धोपयोग में रमणता नहीं रहती और विकल्प उत्पन्न होता है, तब वे ब्रह्मचर्यादि पञ्च महाव्रत पालते हैं, उस समय कदाचित् स्त्री की ओर लक्ष्य जाए तो अशुभवृत्ति न होकर, उसके प्रति माता-बहिन अथवा पुत्री के समान मानने का विकल्प होता है और उस शुभविकल्प का भी निषेध प्रवर्तमान रहता है, इस कारण वहाँ भी उत्तम ब्रह्मचर्यधर्म है ।

जिसे एक भी अन्य द्रव्य के साथ सम्बन्ध की वृत्ति है, उसे वास्तव में समस्त पदार्थों में एकत्वबुद्धि है; उसे भेदज्ञान नहीं है और भेदज्ञान के बिना उत्तम ब्रह्मचर्यधर्म नहीं होता ।

इन्द्राणी, इन्द्र को चाहती है; सर्वाङ्ग सुन्दरी स्त्री, चक्रवर्ती को चाहती है; इस प्रकार स्त्रियाँ पुण्यवन्त को चाहती हैं और जगत के जीव भी पुण्यवन्त को श्रेष्ठ मानते हैं किन्तु वे चक्रवर्ती आदि पुण्यवन्त पुरुष भी मुनिराज आदि पवित्र पुरुषों के प्रति नतमस्तक होते हैं; इसलिए पवित्रता ही श्रेष्ठ है, पवित्रता चाहने योग्य है; पुण्य नहीं ।

चैतन्यरूपी जहाज में चढ़कर जो संसार-समुद्र का पार पा रहे हैं — ऐसे सन्तों के चरणों में इन्द्र-चक्रवर्ती भी मस्तक झुकाते हैं, उन सन्तों के स्वभाव की लीनता से पर की ओर का राग ही नष्ट हो जाता है, उसी का नाम उत्तम ब्रह्मचर्यधर्म है । परलक्ष्य से ब्रह्मचर्य का शुभभाव तो पुण्यबन्ध का कारण है, वह निश्चय उत्तम ब्रह्मचर्यधर्म नहीं है ।

(पद्मनन्दिपंचविंशतिका में समागत ब्रह्मचर्यधर्म के प्रवचन से)

जो मुनि, स्त्रियों की सङ्गति न करता, उनके रूप को न निरखता, काम की कथा

और उनके स्मरणादि से रहित होता है; इस प्रकार मन-वचन-काय, कृत-कारित अनुमोदना - ऐसे नौ प्रकार से उसका त्याग करे, उस मुनि को उत्तमब्रह्मचर्यधर्म होता है। देखो, यहाँ मुनि के ब्रह्मचर्य की बात है। मुनि, स्त्री के रूप को सुन्दरता को, कोमलता को, राग से नहीं देखता और उसका स्मरण भी नहीं करता, उसे सच्चा ब्रह्मचर्य होता है।

यहाँ यह भी जानना चाहिए कि ब्रह्म नाम आत्मा का है; उसमें लीन होना, ब्रह्मचर्य है। इस प्रकार शास्त्र में ब्रह्मचर्य का अर्थ आता है। वह पढ़कर जिसे आत्मा का भान नहीं है और कुदेवादि की श्रद्धा से भी जो छूटा नहीं है, ऐसे गृहीतमिथ्यादृष्टि इस प्रकार आत्मा की बात करता है; जिसे सच्चे देव-शास्त्र-गुरु का पता नहीं है, अर्थात् यथार्थ पदार्थ कौन कहता है, इसकी जिसे परीक्षा नहीं है, उसे यह बात कहाँ से होगी? अर्थात्, होगी ही नहीं। जैसे, नकली गहनों के व्यापारी और हीरे के व्यापारी की परीक्षा जिसे न हो, वह नकली गहनों के व्यापारी से हीरा लेने जाये तो उसे नहीं मिलेगा। इसी प्रकार जिसे सच्चे देवादि की श्रद्धा नहीं हो और उसकी नकल करे तो उसे ब्रह्म आत्मा की प्राप्ति नहीं होगी।

दया, दान, भक्ति के शुभभाव से धर्म होता है - ऐसी जिसकी प्ररूपणा है, उसे गृहीतमिथ्यात्व पड़ा है परन्तु शास्त्र के आड़ में अध्यात्म की बात करता है, वह भी गृहीतमिथ्यात्व को पुष्ट करता है। गृहीतमिथ्यात्व के अभाव के बिना, ब्रह्म, अर्थात् आत्मा का सच्चा कथन भी नहीं आता है। बहुत लोग सुनने जाएँ, इसलिए सत्य प्ररूपणा होगी - ऐसा लोग मानते हैं परन्तु वह सत् का प्रमाण नहीं है। सत् का प्रमाण तो सत् की कसौटी है। देश का नेता हो और भाषण करे, उसमें भी बहुत लोग सुनने जाते हैं। मुसलमान कुरान पढ़ें तो उसमें भी बहुत लोग होते हैं परन्तु वस्तुस्थिति को यथार्थ जाने बिना, सत् नहीं होता है। मोक्षमार्ग किस प्रकार प्रगट होता है? - उसे जानकर, उसकी श्रद्धा करके, मोक्षमार्ग प्रगट करके केवलज्ञान प्राप्त किया हो, उसके द्वारा कथित मार्ग ही सत्यमार्ग है। जो ऐसे देवादिक को नहीं जानता, श्रद्धा नहीं करता, वह राग से - पुण्य से धर्म मानता और मनवाता है, उसे आत्मा का पता नहीं है तो आत्मा में लीन होना तो उसे होता ही नहीं।

परद्रव्य में आत्मा लीन होता है, अर्थात् राग में लीन होता है; उसमें स्त्री के राग में लीन होना प्रधान है क्योंकि काम, मन में उत्पन्न होता है; इसलिए वह अन्य कषायों से भी

प्रधान है और उस काम का अवलम्बन, स्त्री है; इसलिए उसका संसर्ग छोड़कर, मुनि अपने स्वरूप में लीन होते हैं। स्त्री की सङ्गति करना, रूप निरखना, उसकी कथा करना, स्मरण करना, वह सब प्रकार से छोड़नेवाले को ब्रह्मचर्य होता है। काम का मूल तो कल्पना है और कल्पना की दौड़ लम्बी चलती है, उसमें विकल्पों का विस्तार होता है। क्रोध, मान, माया, और लोभ तो बाहर दिखते हैं परन्तु काम की कल्पना तो अन्दर ही अन्दर में चलती रहती है। विशेष हो, तब बाहर में दिखती है। उस कल्पना को छोड़कर, आत्मा में लीन होना, ब्रह्मचर्य है। परपदार्थ का चिन्तन करनेवाला, स्वपदार्थ की लीनता को छोड़ता है। वह भाव, अब्रह्मचर्य का कारण है। यहाँ तो मुनिपने की बात है। आत्मा का भान होने के बाद निरन्तर आत्मा में रमणता करता है, वह ब्रह्मचर्य है।

अब, संस्कृत टीका में शील के अठारह हजार भेद कहे हैं, वह कहते हैं।

अचेतन स्त्री — काष्ठ, पाषाण, और लेपकृत, उसे मन-वचन-काय तथा कृत-कारित-अनुमोदना - ये छह, इनसे गुणा करने से अठारह भेद हुए; उन्हें पाँच इन्द्रियों से गुणा करने पर नब्बे भेद हुए; उन्हें द्रव्य और भाव से गुणा करने पर १८० भेद हुए; उन्हें क्रोध-मान -माया-लोभ, इन चार से गुणा करने पर ७२० भेद हुए। इस प्रकार अचेतन स्त्री निमित्तक कुशील के ७२० भेद हुए। चेतन स्त्री — देवांगना, मनुष्यनी, और तिर्यञ्चनी, इन तीनों को कृत-कारित-अनुमोदना से गुणा करने पर नौ भेद हुए; उन्हें मन-वचन-काया, इन तीन से गुणा करने पर सत्ताईस भेद हुए; उन्हें पाँच इन्द्रियों से गुणा करने पर एक सौ पैतीस भेद हुए; उन्हें द्रव्य और भाव से गुणा करने पर दो सौ सत्तर भेद हुए; उन्हें आहार, भय, मैथुन, परिग्रह - इन चार संज्ञा से गुणा करने पर १०८० भेद हुए; उन्हें अनन्तानुबन्धी अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और संज्वलनरूप क्रोध, मान, माया, लोभ - सोलह कषायों से गुणा करने पर ७०२८० भेद हुए। उनमें ऊपर के अचेतन स्त्रीनिमित्तक ७२० मिलाने से, कुशील के १८००० भेद होते हैं।

इन भेदों को अन्य प्रकार से भी कहा गया है, जिन्हें अन्य ग्रन्थों से जानना चाहिए। यह सब आत्मा की परिणति - विकार के भेद हैं; इन सबको छोड़कर, जब आत्मा अपने स्वरूप में रमण करता है, तब उत्तमब्रह्मचर्य होता है।

यह शील के १८००० भेद किसे होते हैं ? तो कहते हैं कि यह १८००० भेद में से एक भी विकल्प, वस्तुस्वभाव में नहीं है; प्रथम ऐसी प्रतीति करे, उसे होते हैं क्योंकि ऐसी प्रतीति हुए बिना अस्थिरता के विकल्प का अभाव नहीं होता। यहाँ अकेले ब्रह्मचर्य की बात नहीं है। वस्तु के स्वभाव को समझे बिना, सच्चे देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धारहित बाहर के त्याग से साधुपना मनवावे तो वह गृहीतमिथ्यादृष्टि है। दया, दान, भक्ति, पूजा आदि में तो पाप मनवावे और मात्र कथाएँ पढ़कर जगत् के जीवों को मुग्ध करे, परन्तु उसमें धर्म नहीं है; कथा तो चारण भी करता है। साधु नाम धराकर भी तत्त्व का पता नहीं हो और व्यवहार का भी ठिकाना न हो तो वह गृहीतमिथ्यादृष्टि है; इसलिए जीव को परीक्षा करना चाहिए। ऐसा का ऐसा मान लेने की यह बात नहीं है।

सारी दुनिया कहती है कि हमारी बात सत्य है परन्तु जिसे पाँच रुपये देने की ताकत नहीं है, वह कहे कि कल मैं लाख रुपये दूँगा तो वह बात मिथ्या है। इसी प्रकार सुदेव-गुरु-शास्त्र का तो पता नहीं और आत्मा की बात करे, तो वह मिथ्या है। जिसे तत्त्व और अतत्त्व का पता नहीं है, वह मिथ्यादृष्टि है। सर्वज्ञ के शासन के अतिरिक्त, अन्यत्र कहीं ऐसी अखण्ड आत्मा की बात नहीं होती है।

अब, आगे शीलवान का माहात्म्य बताते हुए दूसरे शास्त्र की गाथा का आधार लेते हैं।

जो ण वि जादि वियारं, तरुणियणकडक्खबाणविद्धो वि ।

सो चेव सूरसूरो, रणसूरो णो हवे सूरो ॥ १ ॥

बिद्ध नारी नैन शर से, पर न लेश विकार है।

शूर में भी शूर वह, रणशूर तो नहीं शूर है ॥

अर्थात्, जो पुरुष स्त्रियों के कटाक्षरूपी बाणों से आहत होकर भी विकार को प्राप्त नहीं होता है, वह शूरवीरों में प्रधान है और जो रण में शूरवीर है, वह शूरवीर नहीं है।

युद्ध में सामना करके मरनेवाले शूरवीर तो बहुत हैं परन्तु जो स्त्रियों के वश में नहीं होते हैं, ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करते हैं - ऐसे विरले ही हैं; वे ही बड़े साहसी हैं, शूरवीर हैं; काम को जीतनेवाले ही बड़े सुभट हैं।

जो पुरुष, स्त्रीजन के कटाक्षरूपी बाणों से विंधता हुआ भी विकार को प्राप्त नहीं होता, अर्थात् जिसे परद्रव्य के प्रति आसक्ति छूट गयी है, उसके ज्ञान में स्त्री के कटाक्ष का ख्याल आवे, परन्तु वह विकार को प्राप्त नहीं होता, वह शूरवीरों में प्रधान है, अर्थात् उसकी ज्ञान की उग्रता विशेष होती है। जिसे राग की उत्पत्ति नहीं होती, वही शूरवीर है परन्तु रण में सिर कटा दे, वह शूरवीर नहीं है क्योंकि ऐसा तो अभव्य भी करता है। इसलिए ऐसी शूरवीरता अनन्त बार की है परन्तु वह वास्तविक शूरवीर नहीं है। चारणों की जमीन जब कोई दूसरा कब्जा कर लेता है, तब चारण, कपास की गाड़ी भरकर उसमें केरोसिन छिड़ककर, चोगान में जलाकर, स्वयं जल मरते हैं; शोर भी नहीं करते, हुँकार भी नहीं करते तथा कोई राजा का कुँवर, युद्ध में जाएँ, वहाँ युद्ध करके मरे, वह भी वास्तविक शूरवीरता नहीं है परन्तु जिसे विकार के परिणाम नहीं होते, वह शूरवीरों में प्रधान है, अर्थात् उसे सच्ची शूरवीरता है।

युद्ध में सामना करके मरनेवाले शूरवीर तो बहुत हैं परन्तु जो स्त्री के वश न होकर ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करते हैं, ऐसे जीव विरले ही हैं; वे ही बहुत साहसी, अर्थात् शूरवीर और काम को जीतनेवाले महा सुभट हैं।

इस प्रकार दश प्रकार से यतिधर्म का व्याख्यान किया। अब, धर्मानुप्रेक्षा में मुनि के दश प्रकार के धर्म की बात का उपसंहार करते हैं।

(कार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा ४०३ पर प्रवचन)

निष्कर्ष

आचार्यदेव कहते हैं कि अहो ! वीतरागी दशलक्षण धर्म का ऐसा सुन्दर वर्णन सुनकर किसे व्रतादि की भावना जागृत नहीं होगी ? रागरहित चैतन्यस्वभाव के आश्रय की भावना किसे नहीं होगी ? आचार्यदेव स्वयं सावधानीपूर्वक दशलक्षण धर्म का पालन करते हैं; इसलिए वे कहते हैं कि इन दशलक्षण धर्म का व्याख्यान सुनकर समस्त संसार को हर्ष होगा। सभी जीवों को यह धर्म सुनने से निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक उत्तम त्याग-वैराग्यादि की आकाँक्षा होगी।

(पद्मनन्दिपंचविंशतिका में समागत सारांश)

यह दश प्रकाररूप धर्म है, वही नियम से दश लक्षणस्वरूप धर्म है, अर्थात्

वीतरागी-दशा, वह नियम से दश प्रकार का धर्म है परन्तु दूसरा जहाँ कि सूक्ष्म भी हिंसा हो, वह धर्म नहीं है। जहाँ राग की तीव्रता होती है, वहाँ धर्म नहीं होता है।

आशय यह है कि जहाँ हिंसा करके, उसमें कोई अन्यमती धर्म की स्थापना करता है, उसे धर्म नहीं कहा जा सकता। यह दश लक्षणरूप धर्म कहे गये हैं, वही निश्चय से धर्म हैं।

इस गाथा में कहा है कि जहाँ सूक्ष्म भी हिंसा होती है, वहाँ धर्म नहीं है। अब, इसी अर्थ को स्पष्टतापूर्वक कहते हैं। ●

(कार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा ४०४ पर प्रवचन)
(- दशलक्षण धर्म एवं कार्तिकेयानुप्रेक्षा प्रवचन में से संकलित)



मुनिवरों को बाह्य विषयों की आसक्ति नहीं

जिस प्रकार घोर निद्रा में सोते हुए को आसपास की दुनिया का भान नहीं रहता, उसी प्रकार चैतन्य की अत्यन्त शान्ति में स्थिर हुए मुनिवरों को जगत के बाह्य विषयों में किञ्चित् भी आसक्ति नहीं होती; भीतर स्वरूप की लीनता में से बाहर निकलना जरा भी अच्छा नहीं लगता; आसपास जङ्गल के बाघ और सिंह दहाड़ रहे हों, तथापि उनसे जरा भी नहीं डरते या स्वरूप की स्थिरता से किञ्चित् भी चलायमान नहीं होते।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, गुरुदेवश्री के वचनमृत, २११, पृष्ठ १२८

दश धर्म : मात्र पुण्य के लिये नहीं

आत्मा का धर्म कहो या मुनि का धर्म कहो, वह एक ही है। ऐसे दश प्रकार के धर्म का फल कहते हैं। वीतराग क्या कहते हैं? उसकी अनन्त काल में प्राप्ति नहीं हुई, अर्थात् ज्ञान-दर्शनपूर्वक आत्मा में रमणता होना, वह धर्म है; उसकी प्राप्ति नहीं हुई। दया, दान, भक्ति, पूजा, व्रतादि अनन्त बार किये हैं परन्तु धर्म नहीं किया; इसलिए अब कहते हैं कि ऐसे अलब्धपूर्व, अर्थात् पूर्व में किसी समय नहीं प्राप्त किये हुए धर्म को प्राप्त करके, केवल पुण्य के ही आशय से सेवन नहीं करो।

इस प्रकार जो जीव, अनादि काल से मिथ्यात्व से संयुक्त है; जिसे कालादिलब्धि प्राप्त नहीं हुई, उसे यह जिनेश्वरदेव का धर्म, अलब्धपूर्व है, अर्थात् पूर्व में कभी भी उसे प्राप्त नहीं हुआ है।

आत्मा, शुद्ध पवित्र चैतन्यस्वभाव है। उसके अवलम्बन से जो दशा होती है, वह दशलक्षण धर्म है। उससे पाप का नाश होता है। मुनि को वीतरागदशा बहुत बढ़ गयी है परन्तु अभी अपूर्णता है; इसलिए राग के कारण शुभभाव होता है। इससे उस धर्म के कारण पुण्य उपार्जन होता है - ऐसा कहा है परन्तु केवल पुण्य के लिए धर्मी को उसका सेवन नहीं होता है। वस्तुतः धर्म तो गुण का उपार्जन है परन्तु शुभभाव आये बिना नहीं रहता है; इसलिए पुण्य का उपार्जन करता है - ऐसा व्यवहार से कहा गया है परन्तु पुण्य की इच्छा रखनेवाले को तो सम्यग्दर्शन रहता नहीं है।

सातावेदनीय, शुभआयु, शुभनाम और शुभगोत्र को तो पुण्यकर्म कहते हैं तथा चार घातिकर्म, असातावेदनीय, अशुभनाम, अशुभआयु और अशुभगोत्र को पापकर्म कहते हैं। अब, यहाँ यह दशलक्षण धर्म, पाप को नष्ट करनेवाला और पुण्य को उपार्जन करनेवाला

कहा गया है; वहाँ केवल पुण्य उत्पन्न करने का अभिप्राय रखकर उसका सेवन नहीं करना चाहिए, क्योंकि पुण्य भी बन्ध ही है और धर्म तो, पाप जो घातिकर्म है, उसका नाश करनेवाला है तथा अघाति में जो अशुभप्रकृति है, उसका नाश करता है। पुण्यकर्म है, वह सांसारिक अभ्युदय को देता है। अब उससे (दशलक्षण धर्म से) व्यवहार-अपेक्षा से पुण्य का भी बन्ध होता है तो वह स्वयमेव ही होता है परन्तु उसकी वाँछा करना तो संसार की ही वाँछा करने के समान है और वह तो निदान, अर्थात् चौथा आर्तध्यान हुआ; वह मोक्ष के जिज्ञासु को नहीं होता है। जैसे, किसान, अनाज के लिए खेती करता है, उसे घास तो स्वयमेव ही होती है; वह उसकी वाँछा किसलिए करेगा? इसी प्रकार मोक्ष के अर्थी को पुण्यबन्ध की वाँछा करना उचित नहीं है।

निश्चय से तो आत्मा, जब स्वभाव का आश्रय करता है, तब व्यवहार से वह पाप का नाश करता है और पुण्य को उत्पन्न करता है - ऐसा कहा जाता है। ज्ञानी को भी राग होता है, उसमें सातावेदनीय बँधती है; इस कारण पैसा, प्रतिष्ठा, स्त्री-पुत्रादिक प्राप्त होते हैं परन्तु धर्मी को उनकी रुचि नहीं होती है। इस प्रकार उसे (ज्ञानी को) सातावेदनीय, शुभआयु, शुभनाम, शुभगोत्र - इन चार अघातिकर्मों में इन आधे का बन्ध पड़ता है और शेष आधे का - चार अघाति के अशुभ का तथा घातिकर्म का वह नाश करता है। इस प्रकार धर्मी जीव, पाप का नाश और पुण्य का उपार्जन करता है परन्तु पुण्य को चाहता नहीं है। पुण्य की रुचि करे तो मिथ्यादृष्टि हो जाता है। जैसे, दुष्काल में अनाज के बदले घास मिले तो प्रसन्नता होती है; इसी प्रकार अज्ञानी, पुण्य करने से प्रसन्न होता है क्योंकि उसे वहाँ धर्म का दुष्काल वर्तता है। अच्छा किसान तो अनाज के लिए खेती करता है, उसमें घास हो जाती है; इसी प्रकार ज्ञानी को धर्म की भावना होती है, उसमें शुभभाव हो जाता है; धर्मी को शुभभाव की इच्छा नहीं होती है।

आत्मा की पहचानपूर्वक का जो शुभभाव होता है, उसका पुण्यबन्ध जगत के दूसरे साधारण प्राणियों की तुलना में दूसरे प्रकार का होता है। चक्रवर्ती, इन्द्रपद, बलदेव आदि के उत्कृष्ट पुण्यकर्म, धर्मी को होते हैं परन्तु वे उनकी रुचि नहीं करते। देखो, समयसार, प्रवचनसार आदि अध्यात्मग्रन्थों में तो पुण्य का निषेध आता है परन्तु यहाँ स्वामी कार्तिकेयाचार्य भी पुण्य का निषेध करते हैं क्योंकि वीतरागी शान्ति के अर्थी को पुण्य की

इच्छा करना योग्य नहीं है। सर्वज्ञ का धर्म तो आत्मा के आश्रय से होता है; बीच में शुभभाव आवें, उनकी वाँछा करना योग्य नहीं है।

जो पुण्य को भी चाहता है, उस पुरुष ने वास्तव में संसार को चाहा है। इसका कारण यह है कि पुण्य, सुगति के बन्ध का कारण है और मोक्ष तो पुण्य का भी क्षय करने से प्राप्त होता है। वीतरागीधर्म, वीतरागता के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं नहीं होता। वीतराग के वाड़ा में / सम्प्रदाय में आकर भी यदि पुण्य की इच्छा करे तो उसे धर्म नहीं होता है। जो पुण्य की इच्छा करता है, वह बन्ध की इच्छा करता है और इसलिए वह संसार के परिभ्रमण का कारण होता है। पुण्यबन्ध से देव या मनुष्य होगा, परन्तु उससे कहीं आत्मा का कल्याण नहीं होता है क्योंकि मोक्ष तो पुण्यकर्म के नाश से होता है और इसलिए पुण्य, मोक्ष का कारण नहीं होता है।

अज्ञानी कहता है कि 'धर्म से ही धन प्राप्त होता है और धन से धर्म होता है' परन्तु यह बात मिथ्या है क्योंकि धन का योग तो पुण्य से होता है; धर्म से नहीं होता है और धन से धर्म तो होता ही नहीं, परन्तु पुण्य भी धन से नहीं होता, क्योंकि पैसा परवस्तु है। पुण्य और धर्म तो आत्मा के परिणाम से होता है। उसमें पुण्य तो बन्ध का कारण है; इसलिए पुण्य की चाह भी नहीं करना चाहिए - ऐसा यहाँ कहते हैं।।

आशय यह है कि पुण्य से सुगति प्राप्त होती है; इसलिए जिसने पुण्य चाहा है, उसने संसार ही चाहा है क्योंकि सुगति भी संसार ही है। मोक्ष तो पुण्य का भी क्षय होने पर होता है; इसलिए मोक्षार्थी को पुण्य भी वाँछा करने योग्य नहीं है।

जो जीव, कषायसहित होता हुआ, विषयसुख की तृष्णा से पुण्य की अभिलाषा करता है, उसे मन्दकषाय के अभाव से विशुद्धता दूर वर्तती है और पुण्यकर्म है, वह तो विशुद्ध, अर्थात् जिसका मूलकारण मन्दकषाय है - ऐसा है।

पुण्य की रुचिवाले को विषयसुख की तृष्णा है, अर्थात् उसे आत्मा की रुचि नहीं है; इसलिए वह पापभाव है; वहाँ तो पुण्यभाव भी नहीं है। अभी तो जगत् में धर्म के नाम से ऐसी मूढ़ता चल रही है कि पुण्य करो.... पुण्य करो तो धर्म होगा.... परम्परा से धर्म होगा। अभी पुण्य किया होगा तो भविष्य में महाविदेहक्षेत्र में जाऊँगा और वहाँ धर्म प्राप्त करूँगा - ऐसा माननेवाले को पुण्य की रुचि है। जिसे पुण्य की रुचि है, उसे पुण्य की

भावना से उच्च पुण्यबन्ध भी नहीं होता है ।

दया, दान, भक्ति, व्रतादि के शुभभाव होते हैं, उनकी जिसे भावना है, उसे विषयों की तृष्णा है क्योंकि उन भावों के फल में आत्मा नहीं मिलता, परन्तु पाँच इन्द्रिय के विषय ही मिलते हैं और इसलिए वह पापभाव है । इस प्रकार आत्मा के वीतरागीधर्म की अपेक्षा से पुण्य तो बन्ध का कारण होने से, पुण्य के ऊपर तो घन पड़ते हैं क्योंकि पुण्यबन्ध से धर्म नहीं होता और पुण्य की इच्छा से पाप होता है; इसलिए पुण्य की इच्छा करने योग्य नहीं है ।

अहमदाबाद के माणिकचौक में एक जवाहरात का व्यापारी था । उसका पुण्य परिवर्तित हुआ तो सारी स्थिति परिवर्तित हो गयी, परन्तु अन्दर में से मिठास नहीं गयी थी । वह ऐसी भावना भाता था कि मरकर माणिकचौक का जवाहरात का व्यापारी होऊँ तो अच्छा ! अब यह तो पापभाव है; इसलिए व्यापारी तो नहीं होगा, परन्तु झवेरी की गाड़ी का घोड़ा होगा । जब वह भोजन करने बैठता, तब चावल के दाने डालकर पन्द्रह-बीस कौओं को बुलाकर फिर भोजन करता था क्योंकि जब उसकी स्थिति अच्छी थी, तब पन्द्रह-बीस लोगों को साथ में लेकर भोजन करता था । उसकी मिठास मिटी नहीं थी; इसलिए व्यर्थ प्रयत्न करता था परन्तु ऐसे माँगने से (कहीं कुछ) मिलता नहीं है । ज्ञानी तो पुण्य को भी नहीं चाहता है; चक्रवर्ती का राज्य हो या इन्द्रपद हो, परन्तु उसे तिनके के समान मानता है; उसे चाहता नहीं है । अज्ञानी, पुण्य को चाहता है; इसलिए उसे पुण्यबन्ध तो होता नहीं, परन्तु निदानमात्र फल होवे तो होता है । इसका कारण यह है कि पुण्य के वाँछा से कहीं पुण्यबन्ध नहीं होता, अपितु वाँछारहित पुरुष को पुण्यबन्ध होता है । ऐसा जानकर हे यतीश्वर ! तुम पुण्य में भी वाँछा-आदरभाव मत करो ।

कोई राजा या सेठपद की वाँछा करता है तो उसे पुण्यबन्ध तो नहीं होता, परन्तु अकेला पापबन्ध होता है । 'त्यागे, उसके आगे और माँगे, उससे भागे' - इस कहावत के अनुसार जिसे पुण्य की इच्छा नहीं है, उसे अच्छा पुण्य बँधता है और जिसे इच्छा है, उसे पुण्यबन्ध नहीं होता, अपितु पापबन्ध होता है । यहाँ यतीश्वर को, अर्थात् मुनि को सम्बोधित करके कहा गया है परन्तु श्रावक की बात भी इसमें गर्भितरूप से आ जाती है; अर्थात्, ज्ञानी / धर्मी को पुण्य की इच्छा करना योग्य नहीं है - ऐसा समझना चाहिए । ●●

(- कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा ४०८ से ४११ पर पूज्य गुरुदेवश्री का प्रवचन)

धर्मकार्यों के पालन करने में ज्ञानी और अज्ञानी का महान अन्तर

ज्ञानी जीव का कमाल

जं अण्णाणी कम्मं खवेदि भवसयसहस्सकोडीहिं ।

तं णाणी तिहिं गुत्तो खवेदि उस्सासमेत्तेण ॥ २३८ ॥

अर्थात्, जो कर्म, अज्ञानी एक लाख करोड़ भवों में नष्ट करता है; वे कर्म, ज्ञानी तीन प्रकार; अर्थात्, मन-वचन-काय से गुप्त होकर, उच्छ्वासमात्र में नष्ट कर देता है ।

(- प्रवचनसार, गाथा २३८)

मिथ्यादृष्टि जीव को आगम का व्यवहारज्ञान है; नामनिक्षेप से नवतत्त्वों की श्रद्धा है, और वह छह काय के जीवों की दया पालता है; पाँच इन्द्रियों का निरोध करके, अशुभ से बचकर शुभभाव करता है, तथापि आत्मज्ञान बिना मोक्षमार्ग नहीं है — इस कारण मोक्षमार्ग का उत्कृष्ट साधन आत्मज्ञान है — ऐसा यहाँ समझाते हैं ।

जिसको सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की सम्यक्श्रद्धा नहीं है और अज्ञानपूर्वक तप करता है, उस जीव की तो यह बात ही नहीं है परन्तु जो जीव, सच्चे देव-शास्त्र-गुरु को मानता है, आगम आदि का व्यवहारज्ञान करता है, संयम धारण करता है; अर्थात्, देव-शास्त्र-गुरु की यथार्थ श्रद्धा, आगम का व्यवहारज्ञान एवं संयमभाव होने पर भी, उसके कर्मों का विनाश नहीं होता और समकिति के द्वारा तुरन्त कर्मों का नाश हो जाता है क्योंकि —

● मिथ्यादृष्टि को आगम का ज्ञान; अर्थात्, परलक्ष्यी ज्ञान है और धर्मों को स्व-आत्मा का ज्ञान; अर्थात्, स्वलक्ष्यी ज्ञान है ।

● मिथ्यादृष्टि को नव तत्त्वों की नामनिक्षेपरूप व्यवहारश्रद्धा है और धर्मी को अन्तरभानसहित नव तत्त्व की श्रद्धा है ।

● मिथ्यादृष्टि को व्यवहारसंयम और शुभभाव है; धर्मी को अन्तर में रमणता है ।

इस प्रकार दोनों में महान् अन्तर है । अज्ञानी करोड़ों का दान दे, वर्षीतप इत्यादि करे तो भी उसे आत्मा के भान बिना, धर्म नहीं होता और धर्मी, स्वरूपरमणतारूप धर्म के बल से कर्मों का विनाश कर देता है ।

अज्ञानी, क्रमपरिपाटी से अनेक प्रकार के तप करता है, व्रत उद्यापन करता है, एक व्रत पूरा होते ही दूसरा शुरु करता है परन्तु उसे आत्मा का भान नहीं है । शरीर की क्रिया पर है; आत्मा में आहार का ग्रहण-त्याग नहीं है; आत्मा में राग घटने से शुभभाव होता है; परन्तु वह भी आत्मा का स्वरूप नहीं है — ऐसा भान, अज्ञानी को नहीं है ।

अज्ञानी को तो मात्र शुभभावरूप विपरीत पुरुषार्थ है — इस कारण अमुक शुभकर्म से धर्म होने की मान्यतारूप राग की पकड़ के कारण वह राग-द्वेष का कर्ता और हर्ष-शोक का भोक्ता होता है । उसे ज्ञाता-दृष्टा आत्मा का भान नहीं होने से, इच्छा का निरोध होकर, स्वभाव में लीनतारूप तप से होनेवाली शान्ति का अनुभव नहीं होता ।

वस्तुतः तप से तो आनन्द होना चाहिए, उसके बदले अज्ञानी आकुलता का वेदन करता है । उपवासादि तप के पारणा में खाने-पीने की अनुकूल सामग्री प्राप्त होने पर साता का वेदन करता है और प्रतिकूलता हो तो अरुचि करके असाता का वेदन करता है । इस प्रकार उसके आकुलतारूप परिणाम होने से नये कर्म बँधते जाते हैं ।

अज्ञानी के तप तो गजस्नानवत् व्यर्थ हैं और राग-द्वेष के कारण उसे एक के बाद एक नये कर्म बँधते जाते हैं । अज्ञानी जीव, लाखों-करोड़ों भवों तक ऐसी तपश्चर्या करे, धूप में तपे तो भी कर्म नहीं कटते । यद्यपि पुराने कर्म तो उनके समय पर उदय में आकर खिरते हैं परन्तु नये बँधते जाते हैं । यहाँ कहे गये लाखों भवों का अर्थ अनन्त भव समझना चाहिए ।

अज्ञानी जीव, अज्ञान तप करके, दया-दान-यात्रा का भाव करके, क्रियाकाण्ड करके कर्मों को लाँघ गया है । उसने आत्मा के भान बिना इन्द्रियदमन किया, शरीर सूख

गया परन्तु जन्म-मरण का अन्त नहीं आया। उसके पुराने कर्म उदय में आकर खिर जाते हैं और राग-द्वेष की कर्ताबुद्धि के कारण नवीन कर्म बँध जाते हैं।

जैसे, कोई व्यक्ति दो रुपये का कर्ज चुकाकर, सौ रुपये का माल उधार लेकर कर्ज बढ़ाता है; उसी प्रकार अज्ञानी जीव, पुण्यभाव द्वारा किञ्चित् कर्म घटे — ऐसा व्यवहार से भासित होता है परन्तु वह पुण्य से धर्म मानकर, नवीन कर्म बाँधता है; अतः उसके जन्म-मरण का अभाव नहीं होता।

लाखों-करोड़ों भव में तप करनेवाला वह बेचारा अज्ञानी, कर्म के उदय को लाँघता है परन्तु कर्म का अभाव नहीं करता। तात्पर्य यह है कि उसे आत्मशुद्धि नहीं होने से वह संसार में भटकता है, उसे उपवास के स्वरूप का भी पता नहीं है। यदि उपवास में भोजनादि के प्रति राग कम करे तो पुण्य होता है और पुण्य से धर्म माने तो मिथ्यात्व का महापाप बँधता है।

इस प्रकार अज्ञानी ने अन्तरस्वभाव के भान बिना सब कुछ किया, परन्तु उसके संसार या परिभ्रमण का अन्त नहीं आया। वहीं धर्मी जीव को आत्मज्ञान होने से, वह उन्हीं कर्मों को अल्प समय में विनष्ट कर देता है। धर्मी जीव को आत्मज्ञान होने के पूर्व आगमज्ञानादि होते हैं।

आगमज्ञान — धर्मी जीव ने आगम का अभ्यास किया है। 'स्यात्कार' है; अर्थात्, 'किसी अपेक्षा से कहना' — आगम का चिह्न है। जैसे कि आत्मा, आत्मारूप से है; पररूप से नहीं। स्वभाव, स्वभावरूप से है; विभावरूप से नहीं; विभाव, विभावरूप से है; स्वभावरूप से नहीं। आत्मा, ज्ञानस्वरूप है; कर्म, जड़ हैं; कर्म, आत्मा को हैरान नहीं करते; आत्मा स्वयं भ्रम (मिथ्यात्वादि भाव) करता है तो कर्म को निमित्त कहा जाता है — धर्मी ने ऐसा आगम का ज्ञान ज्यों का त्यों किया है।

तत्त्वार्थश्रद्धान — आत्मा, ज्ञानस्वरूप है, वह जीव है। जीव को जीव मानना; शरीर, कर्म आदि अजीव को अजीव मानना; दया, दानादि के पुण्यभाव और हिंसा, झूठ, चोरी आदि पापभाव दोनों आस्रव और बन्ध के कारण हैं। शुद्धस्वभाव के लक्ष्य से आत्मा की आंशिक शुद्धदशारूप संवर-निर्जरा होते हैं और परिपूर्ण शुद्धता मोक्ष है — ऐसा

मानना । जीव, अजीव का; अर्थात्, शरीरादि का कुछ नहीं करता; जड़कर्म, जीव को हैरान नहीं करते — ऐसा मानना । पुण्य को आस्रव मानना; पुण्य से संवर-निर्जरा नहीं मानना, इस प्रकार धर्मी को नव तत्त्वों की यथार्थ श्रद्धा होती है ।

संयतत्त्व — धर्मी, राग घटाकर शुभभाव करता है, पाँच इन्द्रियों का दमन करता है, छह काय के जीवों की दया का भाव करता है ।

इस प्रकार धर्मी जीव को आगमज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान और संयतत्त्व एक साथ होते हैं; परन्तु वह व्यवहार है, विकल्प है, व्यवहारज्ञान यथार्थ किया है । पैसे की प्राप्ति आत्मा के पुरुषार्थ से नहीं होती; पुण्य से होती है और अपने में सच्चा पुरुषार्थ करने से धर्म होता है — ऐसा व्यवहारज्ञान किया है ।

उसने व्यवहारज्ञान और शुभराग के विकल्प के अतिशय प्रसाद से शुद्धज्ञानमय आत्मतत्त्व की अनुभूति प्राप्त की है । यहाँ चरणानुयोग की पद्धति से कथन किया होने से शुद्धज्ञान की अनुभूति का कारण, व्यवहारज्ञान और व्रतादि के भावों को कहा गया है । वस्तुतः यह व्यवहार कथन है । शुद्ध आत्मा के श्रद्धा-ज्ञान से ही और उसी के प्रसाद से अनुभूति होती है परन्तु सम्यग्ज्ञान प्रगट होने से पूर्व आगमज्ञान, नवतत्त्वों की श्रद्धा और संयमभाव होते हैं; इस कारण उनके प्रसाद से अनुभूति हुई — ऐसा कहना निमित्तसापेक्ष कथन है ।

शुद्धज्ञानमय आत्मतत्त्व की अनुभूति ज्ञानीपन का लक्षण है । यहाँ ज्ञान की मुख्यता से कथन किया है, वह निश्चय लक्षण है । उस निश्चय लक्षण को प्रगट करने में आगमज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान और संयतत्त्व के युगपत्पने को व्यवहार कहा है । इस प्रकार यहाँ निश्चय-व्यवहार दोनों बतलाए गये हैं ।

शरीरादि पर हैं; दया-दानादि के भाव, विकार हैं, आस्रव हैं; मेरा स्वभाव तो चिदानन्द ज्ञानस्वभावी है — ऐसा भान होने पर जीव, जड़ से उदास हुआ, पुण्य-पाप से पराङ्मुख हुआ और अन्तर्दृष्टि हुई; अर्थात्, आत्मतत्त्व का अनुभव होने से ज्ञानी हुआ ।

उस ज्ञानी को ज्ञानीपन के सद्भाव के कारण, मन-वचन-काय सम्बन्धी कार्य रुक जाने के कारण, त्रिगुप्तिपना प्रवर्तमान है । मन-वचन-काय तो जड़ हैं, पर हैं, उनसे

नहीं; किन्तु उनके लक्ष्य से होनेवाले शुभाशुभभावों से श्रद्धा में तो निवृत्त हुआ, परन्तु यहाँ सम्यग्दर्शनपूर्वक स्थिरता की बात है। तात्पर्य यह है कि शुभाशुभभावों से निवृत्त हुआ है, इस कारण तीनों (मन-वचन-काय) के ओर की प्रवृत्ति को रोककर, स्वरूप में गुप्त हुआ है। इस कारण उसका पुरुषार्थ उग्र होने से, कर्म उदय में आकर खिर जाते हैं। वस्तुतः ज्ञानी तो अपने स्वरूप में ही लीन है, यही प्रचण्ड उद्यम है।

अज्ञानी जीव, दया, दानादिक में लाभ मानकर, उनसे धर्म होना मानता है, इस कारण उसे विकार की पकड़ है। जबकि ज्ञानी की दृष्टि शुभाशुभभावों पर नहीं होने से, वह उनके अवलम्बन से धर्म होना नहीं मानता। अज्ञानी, व्यवहार करते-करते धर्म होना मानने से, राग-द्वेष का कर्ता और हर्ष-शोक का भोक्ता होता है। जबकि ज्ञानी को राग-द्वेष का कर्तापना और हर्ष-शोक का भोक्तापना नहीं है। ज्ञानी, ज्ञाता रहता है, इस कारण उसके समस्त सुख-दुःखादि विकार निरस्त हो गये हैं; अतः नवीन कर्मबन्धन नहीं होता।

इस प्रकार ज्ञानी, सहज आनन्द से कर्मों को नष्ट कर देता है। जिन कर्मों का अभाव अज्ञानी अनन्त भवों में नहीं कर सकता था, मात्र लाँघता था; उन कर्मों को ज्ञानी, मूलतः नाश कर देता है — इसका नाम धर्म है, संवर-निर्जरा है।

यहाँ तो आगमज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान और संयमपना — इन तीनों के साथ आत्मज्ञान होने पर ही मोक्षमार्ग है। बिना आत्मज्ञान के ये तीनों ही कार्यकारी नहीं हैं। तब फिर जिस जीव को आगमज्ञान आदि का भी ठिकाना न हो, उसकी भूमिका तो अत्यन्त ही दूर है।

जिसे नव तत्त्व की व्यवहारश्रद्धा का भी ठिकाना नहीं है; जो यह मानता है कि आत्मा, शरीर का कार्य करता है; व्यवहार या पुण्य से धर्म होता है; बाह्य व्रत करते-करते मोक्ष हो जाएगा — ऐसे स्थूल मिथ्यादृष्टि की तो यहाँ बात ही नहीं है परन्तु आगमज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान और संयतत्त्वपना युगपद् होने पर भी, आत्मज्ञान ही मोक्षमार्ग का उत्तम साधन समझना चाहिए।

आगमज्ञान — शरीर से धर्म होता है, कर्म मुझे हैरान करते हैं — ऐसा माननेवाले का तो आगमज्ञान भी सच्चा नहीं है। भगवान की दिव्यध्वनि में आये हुए वस्तुस्वरूप को यथार्थरूप से कहनेवाले आगमों का ज्ञान करना — जीव, जीवरूप है और कर्म, कर्मरूप है; एक का दूसरे में अभाव है; प्रत्येक का स्वचतुष्टय अपने से है; पर से नहीं तथा आगम

पर है, आगम से ज्ञान नहीं होता। इस प्रकार आगम और ज्ञान को पृथक् जानना आगमज्ञान है।

तत्त्वार्थश्रद्धान — नव तत्त्वों को पृथक्-पृथक् मानना, पुण्य से धर्म नहीं होता — ऐसी श्रद्धा करना, व्यवहार से निश्चय नहीं होता — ऐसा मानना; कर्म और शरीर, अजीव हैं; आत्मा ज्ञानस्वरूप है, दोनों स्वतन्त्र हैं — ऐसा मानना, तत्त्वार्थश्रद्धान है।

संयमत्त्व — बारह व्रत अथवा पञ्च महाव्रत के भाव, छह काय के जीवों की रक्षा का भाव शुभभाव है।

इस प्रकार आगमज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान और संयमत्त्व का युगपदपना है; अर्थात्, व्यवहार रत्नत्रय पुण्यबन्ध का कारण है; धर्म नहीं है। इन तीनों के होने पर भी, इन विकल्पों से रहित, अभेद आत्मा के आधार से होनेवाला आत्मज्ञान ही मोक्षमार्ग का उत्तम साधन है।

जीव ने अनादि से सत्य वस्तुस्वरूप नहीं सुना है। आगमज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान और शुभभावरूप संयतत्त्व, वह परद्रव्य की सन्मुखतावाला राग है, उससे रहित 'मैं चैतन्यमूर्ति हूँ' — ऐसा ज्ञान करना, आत्मज्ञान है। यद्यपि आत्मज्ञान होने से पूर्व आगमज्ञानादि होते अवश्य हैं परन्तु उनसे आत्मज्ञान नहीं होता।

जैनदर्शन; अर्थात्, वस्तुदर्शन। चैतन्यस्वभाव में नव तत्त्व का राग नहीं है। उस चैतन्य स्वभाव के अवलम्बन से मिथ्यात्व, राग-द्वेष को जीतनेवाला जैन है। कोई भी जैन नाम धरानेमात्र से जैन नहीं हो जाता। पुण्य-पाप की मिठास / रुचि छोड़कर, स्वभाव का आदर नहीं करनेवाला; अर्थात्, पुण्य-पाप की रुचिवाला जीव, जैन नहीं है, श्रावक नहीं है, साधु नहीं है।

जीव, आगमज्ञान तो बहुत बार कर चुका है और द्रव्यलिङ्ग धारण करके देवलोक भी बहुत बार गया है परन्तु आत्मा का भान नहीं किया है।

आचार्यदेव कहते हैं — 'अहो आत्माओं! दया, दान से धर्म माननेवाले मिथ्यादृष्टि हैं, उनकी बात मत मानना। शरीर-मन-वाणी पर हैं, दया-दानादि के भाव विकार हैं और तुम्हारा आत्मा, शुद्ध चैतन्यमूर्ति है, उसकी श्रद्धा-ज्ञान करके, उसमें स्थिरता ही मोक्षमार्ग है — इस बात को तुम मान्य करो। वस्तुस्वरूप ऐसा ही है, दिव्यध्वनि में ऐसा ही आया है और हम भी यही कह रहे हैं। आत्मज्ञान ही मोक्षमार्ग है — यह बात मान्य करके, जब

तक वह प्राप्त न हो, तब तक उसकी प्राप्ति का प्रयत्न और विशेष पुरुषार्थ करना ।’

अज्ञानी को बालतप होता है और शुभभाव के विपरीत पुरुषार्थ से कर्म पकते हैं; अर्थात्, थोड़े कर्म खिरते हैं और नये बहुत बँधते हैं। अज्ञानी जीव, धर्म को कष्टदायक मानता है। वस्तुतः धर्म कष्टदायक नहीं हो सकता; धर्म तो शान्तिदायक है। कोई उपवास करे और गला सूख जाए तो कहता है कि भाई! बहुत सहन किया है, गला सूखने पर भी धीरज रखी है। भाई! तप करना तो लोहे के चने चबाने जैसा है — ऐसा कहकर अज्ञानतप (बालतप) की प्रशंसा करके, तप और धर्म को कष्टकर मानता है।

विचार तो करो! जो वस्तु कष्टदायक हो, क्या उसमें से शान्ति प्राप्त होगी? धर्म तो शान्तिदायक होना चाहिए। अज्ञानी अत्यधिक श्रम से तप करके, अन्दर में आर्तध्यान करता है; उसे किञ्चित् भी धर्मध्यान नहीं होता। चिदानन्दस्वरूप आत्मा के भान और अन्तरलीनता बढ़ने से राग घट जाता है और सहज ही तप व उपवास हो जाता है। ज्ञानी को उस समय विशेष शान्ति बढ़ गयी होती है क्योंकि धर्म तो शान्तिदाता है। अज्ञानी, अनन्त भव करने पर भी कर्मों को लाँघता है परन्तु अभाव नहीं करता। जबकि ज्ञानी को आत्मा का भान होने से वह क्रीड़ामात्र में उनका अभाव कर देता है।

अज्ञानी जीव मानता है कि बहुत दुःख सहन करने से धर्म होता है; उसे धर्म भाररूप लगता है। चारित्र आनन्दमय होने के बदले दुःखरूप लगता है। ऐसे जीवों को तप में आर्तध्यान होता है। वह तो पुण्य का कारण भी नहीं है तो धर्म का कारण तो होगा ही कैसे? अर्थात्, वैसा भाव तो पुण्य का भी कारण नहीं है। इसी कारण अज्ञानी के बहुत कष्ट झेलने पर भी कर्म नाश नहीं होते। जबकि ज्ञानी थोड़े ही समय में कर्मों को नष्ट कर देता है क्योंकि उसे भान है कि ‘मैं चैतन्यस्वभावी आत्मा हूँ। शरीरादि तथा शुभाशुभभाव मेरे ज्ञान के ज्ञेय हैं, मैं सबका जाननेवाला हूँ, विकल्पों में तन्मय हुए बिना मैं जानता ही हूँ’ — ऐसी दृष्टि से वह अल्प समय में ही लीलामात्र में कर्मों का नाश कर देता है।

फिर अज्ञानी, अनुकूल संयोगों में हर्ष और प्रतिकूल संयोगों में शोक करता है, इस कारण वह हर्ष-शोक का भोक्ता होता है और उसे नये कर्म बँधते ही रहते हैं। जबकि ज्ञानी किसी भी संयोग को अनुकूल-प्रतिकूल नहीं मानकर, उनका ज्ञाता रहता है; इस कारण उसके नवीन कर्म नहीं बँधते। इसलिए आत्मज्ञान ही मोक्षमार्ग का उत्तम साधन है। ●

मुनिदशा में प्रवर्तमान बारह तप : तप से निर्जरा

● सर्वज्ञ-वीतराग की दिव्यध्वनि में बारह प्रकार के तप का वर्णन आया है, उस तप से निर्जरा होती है। निर्जरा के तीन प्रकार हैं —

१. आत्मा में शुद्धि की वृद्धि होना,
२. अशुद्धता की हानि होना, और
३. जड़ कर्मों का खिर जाना।

इनमें से शुद्धि की वृद्धि और अशुद्धि की हानि भावनिर्जरा है और जड़ कर्मों का खिरना द्रव्यनिर्जरा है।

● वस्तुतः आत्मा, कर्मों को नहीं छोड़ता है परन्तु स्वरूप में लीन होने पर अशुद्धता नहीं होती, तब कर्म स्वयं स्वतः खिर जाते हैं — ऐसी तप की व्याख्या है।

१. अनशन तप

अब, अनशनतप की व्याख्या करते हैं।

आत्मा, अतीन्द्रिय है। उसमें एकाग्र होने पर इन्द्रियों की ओर का लक्ष्य छूट जाए, उसे यहाँ इन्द्रियों का उपवास कहते हैं। द्रव्य इन्द्रियाँ तो आत्मा में नहीं हैं परन्तु भावेन्द्रिय जो खण्ड-खण्ड हैं, उनका लक्ष्य भी छूट जाना और इन्द्रियों के निमित्त से होनेवाले शुभाशुभभावों का भी आत्मा के लक्ष्य से उत्पन्न नहीं होने देना, उसे यहाँ इन्द्रियों के विषयों को छोड़ना कहा जाता है। तीर्थङ्कर के वजीर गणधरदेव ने ऐसे शुद्धपरिणाम को उपवास

कहा है। मुनिराज आत्मा में एकाग्र होते हैं; इसलिए उन्हें शुभाशुभवृत्ति नहीं होती है। वे मुनिराज, आहार करते समय भी उपवासी कहलाते हैं।

इन्द्रियों को जीतना, वह उपवास है। इसलिए भोजन करते होने पर भी यतिपुरुष, उपवासी ही है क्योंकि वे इन्द्रियों को वश करके प्रवर्तते हैं। सर्वज्ञ भगवान्, उपवास किसे कहते हैं? इन्द्रियों को जीतना, वह उपवास है, अर्थात् इन्द्रियाँ मुझमें हैं ही नहीं, इस प्रकार जानकर इन्द्रियों का लक्ष्य छूट जाना, वह उपवास है। आत्मा, अतीन्द्रिय है; जिसे उसका भान नहीं है, वह आहार का राग घटाता है तो शुभभाव होता है परन्तु साथ में मिथ्यात्व का पाप होता है क्योंकि उससे लाभ मानता है। उपदेश सुनना या भगवान् के दर्शन करना भी शुभभाव है; इसलिए उसकी ओर का लक्ष्य भी छूट जाना, उसे भगवान्, उपवास कहते हैं। वस्तुस्थिति ऐसी है। सर्वज्ञ भगवान्, महाविदेह में विराजमान हैं और अनन्त केवली भगवान् हो गये हैं, वे सब यह एक ही मार्ग कहते हैं। दो हजार वर्ष पहले यह स्वामी कार्तिकेय हो गये हैं। वे स्वयं कहते हैं कि इन्द्रियों का जीतना, वह उपवास है। आत्मा, इन्द्रियों को तो जीत नहीं सकता परन्तु उनकी ओर का लक्ष्य छोड़ना, वह भी व्यवहारकथन है क्योंकि पर का लक्ष्य छोड़ने जाने से राग होता है परन्तु आत्मा, अखण्ड ज्ञानस्वभावी है; उसकी रुचि और वेदन होने पर पर की इच्छा होती ही नहीं, उसने इन्द्रियों को जीता है – ऐसा कहा जाता है।

आत्मा के भानपूर्वक इच्छा को तोड़ना, वह सच्चा उपवास है; बाकी सब लंघन है। जैसे, निंबोली को नीलमणि नहीं कहा जाता; इसी प्रकार मिथ्या उपवास करने से कहीं निर्जरा या आत्मा की शान्ति नहीं होती। आत्मा के भानसहित मुनि होने से उन्हें निर्दोष आहार लेने की क्रिया होती है, फिर भी वह उपवास है – ऐसा कहते हैं क्योंकि आत्मा, अनाहारी है, उसका लक्ष्य उन्हें छूटा नहीं है; अतीन्द्रिय आनन्द नहीं छूटता है। अल्प राग होने पर भी अन्तर्मुख घोलन नहीं छूटता है; इसलिए वे उपवासी हैं। इस प्रकार सम्यग्दृष्टि को भी यह बात लागू पड़ती है – ऐसा समझ लेना। आत्मा, आहार को व्यवहार से भी ग्रहण-त्याग नहीं कर सकता, उसकी ओर का राग, आत्मा के स्वभाव में नहीं है – ऐसा जिसे भान है, वे मुनिराज, चौबीस घण्टे में एक बार बस्ती में जाते हैं और खड़े-खड़े हाथ

में निर्दोष आहार लेते हैं। शुभविकल्प होने पर भी अन्तरमग्नता की मुख्यता कभी नहीं छूटती है; इसलिए वे उपवासी हैं।

अब, अनशनतप की विशेष व्याख्या करते हैं।

यहाँ सम्यग्दर्शनपूर्वक मुनिपने का वर्णन करते हैं। उसका जिसे पता नहीं है, वह तो मिथ्यादृष्टि है। इसीलिए यह जानने की विशेष आवश्यकता है। आठ पंखुडी के कमल के आकाररूप हृदयस्थान में मन होता है, उसका संग मुनिराज को नहीं है। भगवान आत्मा, असंग है, उसमें एकाग्रता वर्तती है, वह उपवास है। उस आनन्द की भावनावाला सुखामृत का स्वादी है। ऐसे मुनि को इस लोक और पर लोक की इच्छा नहीं होती है – ऐसा मुनिमार्ग और उपवास का स्वरूप पहचानना चाहिए। सर्वज्ञकथित सन्तों का मार्ग दुर्लभ है। अभी तो ऐसे सन्तों के दर्शन भी दुर्लभ हो गये हैं। इतना ही नहीं, परन्तु सुनना भी दुर्लभ है। सच्चे मुनि कहीं दिखते नहीं हैं। छठे गुणस्थानवाले मुनि की जाति ऐसी है। जैसी बात हो, वैसी होती है। मुनि मुख्यरूप से आत्मा में लीन होते हैं। जब राग होता है, तब स्वाध्याय में रहते हैं। मुनि तो जंगल में बसते हैं। स्त्री को मुनिपना होता ही नहीं है। आज मानो, कल मानो, या अनन्त भव में मानो, परन्तु यह माने बिना छूटकारा नहीं है। सर्वज्ञ की दिव्यध्वनि में यह मार्ग आया है; इसे समझने से ही छूटकारा है।

मुनिराज, सर्वज्ञ के शास्त्रों का अभ्यास करते हैं; मिथ्यादृष्टि के बनाये हुए शास्त्र नहीं पढ़ते हैं। आचार्य परम्परा से सन्तों के द्वारा कथित शास्त्रों का, आत्मा में लीन न रह सकें, तब स्वाध्याय करते हैं और ध्यान में रहते हैं। मुनि के उपवास, आनन्द और मौज में होते हैं। उपवास का काल, क्रीड़ामात्र में व्यतीत हो जाता है। काल कैसे गया – इसका पता भी नहीं पड़ता। आनन्द.... आनन्द.... करते हुए उपवास का काल व्यतीत होता है। वीतरागदेव द्वारा कथित मार्ग की ऐसी पद्धति है। मात्र आहार छोड़ देना, वह कहीं उपवास का या मुनिपने का स्वरूप नहीं है। व्यापारी, दुकान पर बैठा हो, उसे कमायी होती हो तो उसके रस में एक टाइम खाना भी भूल जाता है; इसी प्रकार आत्मा के आनन्द की आमदनी में मुनिराज को आहार की इच्छा ही नहीं होती, वह उपवास है। मुनि को उपवास में जरा भी खेद या क्लेश नहीं है। क्रीड़ामात्र में आनन्द से समय व्यतीत करते हैं। स्वभावदृष्टि

की लीनता में उन्हें क्लेश नहीं होता है। इसका नाम अनशनतप है।

उपवास का अर्थ यह है कि इन्द्रियों तथा मन के विषयों में प्रवृत्तिरहित होकर, आत्मा में रहना उपवास है। इस लोक, पर लोक सम्बन्धी विषयों की वाँछा नहीं करना, वह इन्द्रियजय है तथा आत्मस्वरूप में लीन रहना या शास्त्र का अभ्यास, स्वाध्याय में मन लगाना, वह उपवास में प्रधान है। जिस प्रकार क्लेश उत्पन्न न हो, उस प्रकार से क्रियामात्ररूप से एक दिन की मर्यादारूप आहार का त्याग करना, इस प्रकार उपवास नामक अनशनतप होता है। जो आत्मा के भान बिना यह तप करता है, उसे क्लेश होता है, यह बात आगामी गाथा में कही जा रही है।

जो उपवास करके व्यापार-धन्धा करता है या घर के कार्य करता है, उसे निर्जरा नहीं होती है। मैं चैतन्य ज्ञाता हूँ, इस प्रकार जिसे स्वभाव का भान हो, व्यापार आदि के अशुभकार्य में नहीं लगे, अपितु स्वाध्याय-ध्यानादि करके आत्मा के विशेष चिन्तन में उपयोग लगाये तो उसे तप और निर्जरा होती है परन्तु ताश या शतरंज के खेल में अथवा नींद में उपयोग लगाये तो उसे उस प्रकार का क्लेश तो है, तदुपरान्त भूख-प्यास का अधिक क्लेश होता है। ऐसा क्लेश होने पर उसे पाप ही होता है; इसलिए निवृत्ति लेकर सम्यग्दर्शनपूर्वक आहार की इच्छा न करे और शान्तस्वरूप आत्मा के विचार में समय व्यतीत करे तो निर्जरा होती है। उपवास करके, क्लेश में समय व्यतीत करनेवाले को निर्जरा नहीं होती है।

आशय यह है कि जो आहार का परित्याग तो करता है परन्तु विषय-कषाय-आरम्भ का परित्याग नहीं करता, उसे तो पहले ही क्लेश था और अब यह दूसरा क्लेश भूख-प्यास का हुआ। ऐसे उपवास में कर्मों की निर्जरा कैसे सम्भव है? कर्मों की निर्जरा तो सम्पूर्ण क्लेश छोड़कर, साम्यभाव करने से ही होती है।

आहार की इच्छा तो छोड़े, परन्तु संसार की तृष्णा-आरम्भादिक के भाव का त्याग नहीं करे तो उसे अनशनतप का फल प्राप्त नहीं होता है। देखो, यह आचार्य दो हजार वर्ष पहले हो गये हैं और श्रीमद् ने इन्हें वन्दन किया है। ये कहते हैं कि आत्मा-शुद्ध चैतन्य ज्ञाता-दृष्टा है। सम्पूर्ण विश्व में जो कुछ होता है, उसे मैं जानने-देखनेवाला हूँ — ऐसी

दृष्टिपूर्वक, राग-द्वेष न होने देना, वह साम्यभाव है और वह तप है, उससे ही निर्जरा होती है।

इस प्रकार अनशनतप की व्याख्या पूर्ण हुई।

(कार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा ४३७-४४० पर प्रवचन)

२. अवमौदर्य तप

अब, अवमौदर्य / ऊनोदरतप के विषय में दो गाथाओं में कहते हैं।

जो कोई धर्मात्मा, आत्मा का लक्ष्य रखकर शास्त्र में कहे अनुसार आत्मा की शान्ति का अवलम्बन करके, दोषरहित थोड़ा आहार लेता है, उसे ऊनोदरतप होता है। निर्दोष प्रासुक आहार में भी राग घटानेवाले को निर्जरा होती है। यहाँ मात्र आहार छोड़ने की बात नहीं है क्योंकि वह तो आत्मा के अधिकार की बात ही नहीं है। आत्मा, आहार लेता या छोड़ता है, यह तो निमित्त का कथन है। यहाँ तो कहते हैं कि स्वभाव के लक्ष्य से राग घटता है, उतना स्वभाव पुष्ट होता है, इसका नाम ऊनोदरतप है। यह साक्षात् मुनिराज की बात है और श्रावक को भी आंशिक ऊनोदरतप होता है, यह बात इसमें अन्तरगर्भित है।

मुनिराज, आहार हेतु गमन कर रहे हों, वहाँ यदि अग्नि की ज्वाला देखे या बालक को रोता देखे अथवा सामने मुर्दा आता हुआ मिले तो आहार की इच्छा को तोड़कर वापस (वन में) चले जाते हैं। आत्मा का आनन्द, अमृत आहार है, उसे ऐसा योग क्यों? - ऐसा विचार कर वापस चले जाते हैं। उन्हें अन्दर में खेद नहीं होता, वह तप है। उग्र तपश्चर्या करने के बाद आहार के लिए जाते हैं परन्तु यदि निर्दोष आहार नहीं मिले तो खेद को प्राप्त नहीं होते, अपितु आत्मा के आनन्दपूर्वक वापस आ जाते हैं।

रामचन्द्रजी (वनवास के समय) जंगल में रहते थे। एक बार आकाशमार्ग में दो मुनिराज विहार करते हुए आ रहे थे। उन्होंने यह अभिग्रह धारण किया था कि राजकुमार हो, जंगल में हो और अपने हाथ से ताजा मिट्टी के बर्तनों में भोजन बनाया हो तो उसके हाथ से आहार ग्रहण करेंगे। रामचन्द्रजी ने मिट्टी के बर्तन बनाये थे और आहार तैयार किया था, तत्पश्चात् (उन्होंने आहारदान की) भावना भायी। इतने में मुनिराज नीचे उतरे और

रामचन्द्रजी ने आहारदान किया। ऐसा उग्र अविग्रह था, फिर भी बाहर का योग होना था तो मेल मिल गया। ऐसा अविग्रह हो और कदाचित् आहार नहीं मिले तो संथारा करते हैं। मुनिराज, अन्तर के आनन्द का प्रयोग करते हैं। मुनिराज को उसमें खेद नहीं होता; उन्हें आत्मा में अशान्ति नहीं होती, वह तप है।

आत्मा को समझे बिना, मात्र माया / कपट से ऊनोदरतप करनेवाले को कोई लाभ नहीं होता है। जो मुनि, कीर्ति के लिए या छल-कपट से अथवा मिष्ट भोजन के लाभ के लिए अल्प भोजन करके, उसे तप का नाम देता है, उसका वह तप निष्फल है।

जो कोई साधु नाम धराकर, जगत में कीर्ति के लिए अवमौदर्यतप करता है, अर्थात् अल्प भोजन करता है, उसे धर्म नहीं होता; वह मायावी / कपटी होने से, उसे मिथ्याभ्रान्ति और अज्ञान का लाभ होता है। मान, प्रतिष्ठा के लिए और जगत् को दिखाने के लिए तप करनेवाले की दृष्टि स्व-स्वभाव पर नहीं है, अपितु बाहर में है; इसलिए उसे आत्मा की शान्ति का लाभ नहीं होता है।

कोई यह विचार करे कि मैं अल्प आहार करूँगा तो जगत् में मेरी महिमा होगी अथवा थोड़ा खाऊँगा तो आहार अच्छा मिलेगा - ऐसी बुद्धि से ऊनोदरतप करता है, वह तो पाखण्ड है। वीतराग के मार्ग में तो स्वलक्ष्य से राग घटाये, तब आहार तो उसके कारण से, अर्थात् स्वयं स्वतः अल्प होता है, उसे व्रत अथवा ऊनोदरतप कहते हैं। आत्मा, आहार को अल्प नहीं करता। वस्तुतः आत्मा ने राग घटाया; इसलिए आहार अल्प लिया गया है - ऐसा भी नहीं है और आहार अल्प लिया; इसलिए राग घटा है - ऐसा भी नहीं है। उस समय उतना ही आहार आने का था। बत्तीस ग्रास के आहार में से सात ग्रास कम लिए तो वह आत्मा की इच्छा के कारण कम लिए गये हैं - ऐसा नहीं है परन्तु उस काल में उतने ही आने योग्य थे क्योंकि वह स्वतन्त्र द्रव्य है। पूर्व में यह बात आ गयी है कि मुनिराज को आहार करने पर भी पाँच इन्द्रियों के विषयों का राग छूट गया है; अतः वह उपवास है परन्तु जो मात्र बाहर से संसार में प्रतिष्ठा की इच्छा से तप करता है, वह तो अकेला अज्ञानभाव है, पाखण्ड है।

(कार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा ४४१-४४२ पर प्रवचन)

३. वृत्तिपरिसंख्यान तप

अब, वृत्तिपरिसंख्यानतप का स्वरूप कहते हैं ।

मुनिराज, जंगल में से आहार करने के लिए बस्ती में आते हैं, तब स्वभाव की शान्तिपूर्वक चिदानन्द का प्रयोग / आजमाइश करते हैं कि अमुक घर से आहार मिलेगा तो लेना, वरना वापस आ जाऊँगा; इस प्रकार वृत्ति को मर्यादा में रखते हैं। जैसे, धार लगानेवाला छुरी या चाकू को धार लगाते समय बारम्बार देखा करता है; इसी प्रकार मुनिराज अपने में कितनी शुद्धपरिणति बढ़ती है, इसका प्रयोग बारम्बार करते हैं। उसमें देह की क्रिया वापस फिरने की या अमुक घर जाने की, उसके स्वयं के कारण और उसके काल में होती है परन्तु उस समय मुनिराज को जो शान्ति रहती है, वह तप है।

अतीन्द्रिय आनन्द में झूलते हुए मुनिराज ऐसा नियम करते हैं कि आज तो एक ही रस लेना है। पानी का टपका भी भोजन में हो तो नहीं लेना है; इस प्रकार चैतन्य के पुरुषार्थ को आजमाते हैं। वस्तु छूट गयी है, उस पर तो मुनिराज का लक्ष्य नहीं है परन्तु उसके प्रति राग छूट गया है, उस पर भी उनका लक्ष्य नहीं रहता है; मुनिराज तो निजस्वभाव में ही रमण करते हैं। वे ऐसा भी अभिग्रह करते हैं कि बैल के सींग में गुड़ की भेली देखने के बाद आहार के लिए भिक्षार्थ जाना है और आहार मिलने का योग हो तो ऐसा योग भी बन जाता है। गुड़ की भेली की गाड़ी हो, कोई बैल उसमें सिर मारे और सिर ऊँचा करे, तब उसमें गुड़ की भेली लग जाए - यह सब क्रिया तो स्वयं-स्वतः होती है परन्तु मुनिराज अपनी शान्ति की वृद्धि के लिए ऐसे प्रयोग करते हैं और आहार की वृत्ति को तोड़ते हैं, वह वृत्तिपरिसंख्यानतप है।

छह महीने के उपवास का पारणा हो, उसमें दाल अथवा उसके छिलके मिलें तो आहार ग्रहण करूँगा - ऐसी भी वृत्ति की मर्यादा करते हैं। जिस प्रकार व्यापारी अपनी पूँजी बढ़ाने के लिए व्यापार में अनेक प्रकार के प्रयोग करता है - अमुक पूँजी जवाहरात में, अमुक रुपये रुई में, अमुक अनाज में, अमुक किराना में - इस प्रकार अनेक प्रकार से आमदनी के लिए प्रयोग करता है; उसी प्रकार मुनिराज भी आत्मा के आनन्द की आमदनी के लिए अनेक प्रकार के प्रयोग करते हैं। पैसा तो पुण्योदय हो तो मिलता है परन्तु पैसा

प्राप्त करने का भाव तो करता है। इसी प्रकार मुनिराज चैतन्य के आनन्द के लिए पुरुषार्थ कर रहे हैं। उसमें आहार नहीं मिले तो विकल्प को तोड़ देते हैं। जैसे, गाय को कोई कुछ खिलाये तो उसका लक्ष्य खाने पर रहता है परन्तु खिलानेवाला कौन है? – उसके सन्मुख वह नहीं देखती है; इसी प्रकार मुनिराज का लक्ष्य निज आत्मा की ओर ही होता है, उसे ही वृत्तिपरिसंख्यानतप कहते हैं। आत्मा तो जानने-देखनेवाला है। आहार मिलना तो पुण्य के उदयानुसार है और नहीं मिले तो भी मुनिराज को खेद नहीं होता है। इस प्रकार अनशन तथा वृत्तिपरिसंख्यान, इन दो तपों की व्याख्या हुई।

(कार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा ४४३ पर प्रवचन)

४. रसपरित्याग तप

अब, रसपरित्यागतप का स्वरूप कहते हैं।

वास्तव में आत्मा, रस का त्याग नहीं कर सकता, परन्तु रस की ओर का राग छूट जाने पर रस का योग होता ही नहीं है, उसे निमित्त-अपेक्षा से रस का परित्याग कहा जाता है। मुनिराज विचार करते हैं कि मैंने इस संसार में अनन्त अवतार किये हैं, उसमें आत्मा की समझ के बिना सर्वत्र मात्र दुःख ही है। आशा और तृष्णा से जीव सुलग रहे हैं। आत्मा को भूलकर पर की ओर झुकाव करते हैं, वही दुःख है – ऐसा मुनिराज मानते हैं। मीठे लड्डुओं के प्रति होनेवाला राग भी जहर है – ऐसा विचारकर मुनिराज, रस का त्याग करते हैं और आत्मा के आनन्दरस की अभिवृद्धि करते हैं, वही रसपरित्यागतप है।

सम्यग्दृष्टि जीव को चैतन्यमूर्ति आत्मा का भान होने से उसके आश्रय से इच्छा टूट जाती है, उसे तप कहते हैं। यहाँ रस का त्याग करने को तप कहा गया है, यह बात समझने योग्य है। कथन की शैली अलग होती है और मर्म कुछ दूसरा होता है।

वस्तुतः आत्मा, रस का त्याग नहीं कर सकता है; आत्मा अमृतरस से भरपूर है, उसके आश्रय से रस का विकल्प नहीं होता, उसे रस का त्याग किया – ऐसा उपचार से कहा जाता है। जैसे, लकड़ी स्वयं से ऊँची होती है, उसमें अँगुली निमित्तमात्र है; अँगुली ने लकड़ी को ऊँचा नहीं किया है; इसी प्रकार दूध-दही, शक्कर इत्यादि आनेवाले थे और

आत्मा ने उन्हें छोड़ दिया - ऐसा नहीं है; वस्तुतः तो वह आनेवाले ही नहीं थे, उसे छोड़ा - ऐसा कहा जाता है।

वस्तुविज्ञानसार नामक दश हजार पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं और उसमें इस सम्बन्ध में बहुत स्पष्टता आयी है परन्तु आत्मा की रुचि करके पढ़ने के लिए निवृत्त नहीं होता और समझने की दरकार नहीं करता तो कैसे समझ में आये ? अभी तो विचार करने के लिए भी बहुत साधन बाहर आ चुके हैं; अतः खोज करनी चाहिए और जानना चाहिए कि पर का कार्य पर के कारण होता है और स्व का कार्य स्व के कारण होता है। पानी, अग्नि के कारण गर्म नहीं होता, परन्तु अपनी योग्यता के कारण गर्म होता है, तब अग्नि को निमित्त कहा जाता है। अज्ञानी मानता है कि अग्नि के बिना पानी गर्म नहीं होता; इसलिए अग्नि से गर्म होता है परन्तु उसकी यह बात मिथ्या है। आत्मा में विकार होता है, वह कर्म के कारण नहीं होता, परन्तु स्वयं स्वतन्त्ररूप से करे तो होता है; कर्म तो निमित्त ही हैं।

जगत् के प्रत्येक पदार्थ की पर्याय पृथक्-पृथक् स्वयं के कारण से होती है। अपनी विकारीपर्याय भी स्वतन्त्र है - ऐसा संयोगी दृष्टिवाला निर्णय नहीं कर सकता है। विकार अपने स्वकाल में हुआ है, उसमें कर्म निमित्त है - ऐसा जाने तो संयोगी दृष्टि छोड़े, अर्थात् स्वयं परद्रव्य - स्त्री, परिवार के कारण या कर्म के उदय के कारण विकार होता है - ऐसा नहीं माने। मेरे कारण, मेरी कमजोरी से वह विकार हुआ है - ऐसा माने, उसे स्व तरफ देखने का अवकाश रहता है। जब तक संयोग की ओर दृष्टि है, तब तक स्वभाव स्वतन्त्र है - ऐसी दृष्टि नहीं होती। आत्मा की दरकार करके विचार करने का समय निकाले तो यह बात समझ में आने योग्य है। जिसे यह बात अन्दर में बैठ गयी हो, उसे स्वप्न में भी दूसरी बात नहीं बैठ सकती। यहाँ यह बात सत्य है - ऐसा कहता है और बाहर जाकर दूसरी बात सत्य है - ऐसा नहीं कहता। जैसे, अपना नाम कोई नहीं भूलता, वह उसका निर्णय नहीं करता; इसी प्रकार प्रत्येक आत्मा का परिणमन स्वयं से हो रहा है, यह बात जिसे बैठ गयी है, उसे किसी काल में पर से या निमित्त से अपनी पर्याय होने की मान्यता नहीं होती है।

देखो, कोई कहता है कि लकड़ी, अँगुली के कारण चलती है; अँगुली, आत्मा के

विकल्प के कारण चलती है; आत्मा को विकल्प, कर्म के कारण हुआ है और कर्म का परिणमन, कालद्रव्य के कारण हुआ है.... तो कालद्रव्य का परिणमन किसके कारण हुआ है ? तो कहते हैं कि उसके स्वयं के कारण हुआ है। इसलिए वास्तव में यही सिद्ध हुआ कि प्रत्येक पदार्थ का परिणमन स्वयं के कारण से हुआ है। प्रत्येक की स्वतन्त्र पर्याय, स्वयं से ही होती है – ऐसा स्वीकार करने पर आत्मा, मात्र उसका जानने-देखनेवाला स्वतन्त्रतत्त्व है – यह मान्यता होती है और यह सम्यग्दर्शन है। यह मान्यता होने के बाद उसे दूसरी कोई बात नहीं जँचती है। आत्मा का स्वभाव कैसा है ? – उसे जानने के लिए जीव को विवेक करना चाहिए। कोई व्यक्ति **बाघिरी** के पास जाकर पूछे कि सोने का भाव कितना है ? तो वह सही नहीं कहलाता, परन्तु स्वर्ण के व्यापारी, अर्थात् स्वर्णकार को पूछे तो वह ठीक कहलाता है। इसी प्रकार यह आत्मा, ज्ञान का पिण्ड है, उसकी पर्याय में विकार है; वह स्वतन्त्र अपने कारण से होता है फिर भी वह विकार, आत्मा के त्रिकाल शुद्धस्वभाव में नहीं है। जिसे ऐसा ज्ञान करना हो, उसे ऐसा जाननेवाले सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की परीक्षा विवेकपूर्वक करनी पड़ेगी। दूसरे से यह सत्य मिले – ऐसा नहीं है। ऐसा स्वरूप जानने के बाद आत्मा, अपने में लीन होने पर रस की इच्छा ही नहीं होती, वह रसपरित्यागतप है। जिसे ऐसी दृष्टि नहीं हुई है, वह बाहर से कदाचित् रस छोड़ दे परन्तु उसे भाव में तो अनन्त रस चलता है / खपता है; इसलिए प्रथम आत्मा का ज्ञान करना ही जीव का कर्तव्य है।

रस के छह प्रकार हैं — घी, तेल, दही, मिठाई, नमक, और दूध – ऐसे, तथा खट्टा, खारा, मीठा, कडुवा, चरपरा, और कषायला, ये भी रस हैं। उनका भावनानुसार त्याग करना, अर्थात् कोई एक ही रस छोड़ता है, कोई दो रस छोड़ता है, या समस्त रस छोड़ता है। इस प्रकार रसपरित्यागतप होता है।

प्रश्न : कोई रसत्याग को जानता न हो और मन में ही त्याग करे तो इस प्रकार ही वृत्तिसंख्यानतप है, तब फिर उसमें और इसमें क्या अन्तर है ?

समाधान : वृत्तिपरिसंख्यान में तो अनेक पद्धतियों की संख्या है और इसमें रस का ही त्याग है, इतनी विशेषता है। यह भी विशेषता है कि रसपरित्याग तो बहुत दिनों का भी

होता है और उसे श्रावक जान भी जाता है, जबकि वृत्तिपरिसंख्यानतप बहुत दिनों का नहीं होता है।

वृत्तिपरिसंख्यानतप में तो अमुक द्रव्य, अमुक काल के लिए छोड़ने की बात है। अनेक प्रकार से वृत्ति का त्याग, वह बात की है और रसपरित्याग में तो रस की वृत्ति छूट जाए, उतनी ही बात है; इसलिए दोनों में अन्तर है / भेद है।

(कार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा ४४४ पर प्रवचन)

५. विविक्तशय्यासन तप

अब, विविक्तशय्यासनतप का स्वरूप कहते हैं।

देखो, यह दिगम्बर सन्त-मुनिराज की मुख्यता से बात है परन्तु गौणरूप से में श्रावकों को भी अंशतः उस प्रकार का संयोग छूट गया होता है। जिसे राग है, उसे राग के निमित्त ऐसे आसन-शय्या इत्यादि होते हैं परन्तु मुनि को तो उनका लक्ष्य छूट गया है और आत्मा में लीन रहते हैं; इसलिए निमित्त छोड़ते हैं - ऐसा कहा गया है। सन्तों की दशा ऐसी होती है कि अन्तर में केवलज्ञान लिया या लेंगे - ऐसे उग्र पुरुषार्थ के कारण वे पर से हट गये होते हैं, उसे विविक्तशय्यासनतप कहते हैं।

मुनिराज, तीन लोक के पदार्थों से उदास हैं। तीन लोक के नाथ सर्वज्ञदेव को देखते तो हैं परन्तु उनके कारण राग होता है - ऐसा नहीं मानते हैं। स्वयं की कमजोरी से राग होता है तो उस राग को भी जानते हैं। मुनिराज, दुनिया के बादशाह को भी भिखारी देखते हैं - ऐसे सन्त एकान्त गुफा में या ऊँची टेकरी के मध्य, सिंह की तरह चिदानन्द की शिखा को जलाने के लिए अन्तर में मग्न रहते हैं। श्रीमद् राजचन्द्र ने कहा है कि —

एकाकी विचरुंगा कब श्मशान में,
अरु पर्वत पर बाघ-सिंह संयोग जब;
अडोल आसन और मन में नहीं क्षोभ हो,
परम मित्र का मानो पाया योग जब ॥
अपूर्व अवसर ऐसा किस दिन आयेगा ॥

मुनिराज, चिदानन्दस्वरूप की रमणता में रमते हुए, पर से उदास हो गये हैं। वे जंगल में विचरण करते हैं। बाघ, सिंह के संयोग में रहते हैं। सोने की जगह, अर्थात् - करवट लेकर लेटने की जगह में भी मुनिराज को राग नहीं होता है। मुनिराज को दो घड़ी से अधिक की निद्रा नहीं होती है; मात्र रात्रि के पिछले पहर में मुनिराज सोते हैं और वापस सातवें गुणस्थान की जागृतदशा में आ जाते हैं - ऐसे मुनि, सिंह जैसे हैं। ऐसा मुनिपना जिसने सुना भी नहीं है, उसे मुनिपना किस प्रकार हो सकता है? हो ही नहीं सकता। मुनिराज तो सर्व दोष से छूटने का प्रयास कर रहे हैं। जिस प्रकार निरपराधी व्यक्ति पर पुलिस ने अपराध का आरोप लगाया हो तो उसे प्रतिष्ठावाला व्यक्ति, निरपराधी सिद्ध करने के लिए प्रयास करता है; इसी प्रकार मुनि स्वयं जानते हैं कि मेरा आत्मा निरपराधी है, वह कहीं भी अपराधी नहीं होता - ऐसे पुरुषार्थ में वे वर्त रहे हैं। राग-द्वेष होता है, वही अपराध है; वह नहीं होने देने का प्रयास मुनिराज का है। उसमें एकान्त स्थान में रहने का विकल्प होता है; इस कारण उसे विविक्तशय्यासनतप कहते हैं।

अब, इन दो गाथाओं में विविक्तशय्यासनतप की विशेष व्याख्या करते हैं।

मुनिराज, जगत में अपना माहात्म्य और मान बढ़े - ऐसा नहीं चाहते हैं। मुनिराज को चार गति के भव में वैराग्यभाव होता है। देव के भव को भी मुनिराज नहीं चाहते हैं। पाँच इन्द्रियों के भोग से जिनकी वृत्ति छूट गयी है - ऐसा बाह्यतप है, उस समय अन्तरङ्गतप भी मुनिराज को होता है। अन्तर आत्मा में आत्मा का ही प्रेम होता है। जैसे, किसी का इकलौता बीस वर्ष का पुत्र मर गया हो तो उसे मोह के कारण कलेजे में चोट लगती है, उसकी मुख्यता में जगत् के समस्त पदार्थों का प्रेम विस्मृत हो जाता है; इसी प्रकार मुनिराज को आत्मा का प्रेम है; इसीलिए पर का प्रेम नहीं होता और जिस किसी को पञ्च महाव्रतादि का प्रेम होता है, वह आत्मा के प्रेम को भूल जाता है।

मुनिराज, शास्त्र-स्वाध्याय के उपयोग में ज्ञान का ही घोलन करते हैं। जैसे, किसी गरीब मनुष्य को शक्कर की डली मिली हो तो वह मुँह में चूसता है, इधर से उधर फिराता है; इसी प्रकार मुनिराज एकान्त स्थान में अपनी आत्मा का ध्यान करते हैं, उसका ही घोलन करते हैं। मुनिराज, महा पराक्रमी हैं; मात्र चैतन्य को प्राप्त करने के अभिलाषी हैं,

उन्होंने उत्तमक्षमादि दश धर्मों को धारण किया हुआ है। वे श्मशान आदिक में रहते हैं और वहाँ वीतरागता की वृद्धि करते हैं।

देखो, ऐसी वीतरागदशा और आत्मा की सहज शान्ति की दशा, स्वतन्त्र है। उसे समझे बिना वर्तमान के पण्डित पराधीनता को तप सिद्ध करते हैं। निमित्त के कारण, उपादान में कार्य होता है; निमित्त के बिना नहीं होता, इस प्रकार अद्धर से ही बातें चलाते हैं परन्तु वस्तु का स्वरूप ऐसा नहीं है।

देखो, आज क्षमावाणी का दिन है। दशलक्षणपर्व पूरे हुए हैं। वस्तुतः तो आत्मा में पूर्ण केवलज्ञानदशा होती है, तब वास्तव में पर्व पूरा हुआ कहलाता है। मुनिराज ऐसी पूर्ण दशा के लिए प्रयास कर रहे हैं। जगत् में जहाँ लोगों का आवागमन न हो, वहाँ एकान्त में स्वयं (आत्मा में) स्थिर होकर ध्यान करते हैं, उसे विविक्तशय्यासनतप कहते हैं।

जिसे लोग तप मानते हैं, यह उसकी बात नहीं है परन्तु आत्मा की प्रतीति और ज्ञानपूर्वक उसमें लीन होने से राग घट जाता है, उसे तप कहते हैं। कोई आत्मा को समझे बिना मन्दकषाय करे तो पुण्यबन्ध होता है परन्तु उसे धर्म या तप नहीं होता। पर तरफ से उदास होकर स्वसन्मुख एकाग्र होता है, वह तप है, उसमें यह पाँचवें विविक्तशय्यासनतप की बात चल रही है।

महामुनिराज, विविक्तशय्यासनतप करते हैं। वे ऐसे एकान्त स्थान में सोते-बैठते हैं, जहाँ चित्त में क्षोभ करनेवाला पदार्थ न हो। ऐसे सूने घर, गिरि-गुफा, वृक्ष की कोठर, गृहस्थों के द्वारा स्वयं बनाये हुए उद्यान, वसतिका, देवमन्दिर, तथा श्मशानभूमि इत्यादि में एकान्त स्थान होता है। मुनिराज वहाँ ध्यान-अध्ययन करते हैं क्योंकि वे देह से तो निर्ममत्व हैं, विषयों से विरक्त हैं और अपने आत्मस्वरूप में अनुरक्त हैं। ऐसे मुनिराज, विविक्तशय्यासनतप से संयुक्त होते हैं।

जिन्हें अन्तरङ्ग में भावलिङ्ग होता है और बाह्य में नग्न दिगम्बरदशा होती है, वे मुनिराज हैं; उनके अतिरिक्त कोई मुनि है ही नहीं। उन मुनिराज का सोने-बैठने का स्थान ऐसा होता है कि जिसमें राग का अभाव होता है। वस्तुतः तो राग का अभाव, आत्मा के आश्रय से होता है; बाह्य कारणों से नहीं, परन्तु शास्त्र में व्यवहार से कथन आता है

कि मुनिराज एकान्त स्थान में रहते हैं, वह विविक्तशय्यासनतप है। मुनिराज को परपदार्थ का लक्ष्य छूट गया होता है; इसलिए उन्हें क्षोभ नहीं होता, परन्तु आत्मा की बहुत शान्ति वर्तती है।

जैसे, कोई पैसे का संग्रह करके उसे गुप्तरिति से भोगता है, दूसरे किसी को पता नहीं पड़ने देता; इसी तरह मुनिराज गुप्तरिति से अपने आनन्द का संग्रह करते हैं और उसे भोगते हैं – ऐसा मुनि का स्वरूप है। भगवान के पश्चात् छह सौ वर्ष तक तो एक ही धारा से वीतरागमार्ग चलता आया था; तत्पश्चात् बहुत फेरफार हो गया है। मुनिराज तो बस्ती के बाहर रहते हैं अथवा भगवान के मन्दिर में बसते हैं, श्मशान में भी बसते हैं और वहाँ ध्यान धरकर बैठते हैं। वस्तुतः तो आत्मा के आनन्दरूपी निर्भय स्थान में मुनिराज रहते हैं – ऐसे मुनिराज विविक्तशय्यासनतप से संयुक्त हैं। ●●

(कार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा ४४५-४४७ पर प्रवचन)

६. कायक्लेश तप

अब, कायक्लेशतप का स्वरूप कहते हैं। यह बाह्यतप का छठवाँ भेद है।

मुनिराज, ग्रीष्मऋतु के समय पर्वत के शिखर पर रहते हैं, वहाँ भी आत्मा उपशमरस स्वभाववाला है – ऐसे भानपूर्वक उसमें स्थिर रहने से शीतलता का अनुभव करते हैं। माघ महीने की सर्दी में खुले मैदान में नग्नदशावाले मुनिराज, ध्यान में विराजमान होते हैं तथापि उसमें मुनिराज को खेद नहीं होता है – ऐसी मुनिदशा होती है। इसका नाम कायक्लेशतप है।

आशय यह है कि —

(१) ग्रीष्मकाल में पर्वत के शिखर आदि पर, जहाँ सूर्य की किरणों का अत्यन्त आताप हो रहा है और नीचे भूमि-शिलादिक भी तप्तायमान हैं, वहाँ महामुनि आतापनयोग धारण करते हैं।

(२) शीतकाल में नदी इत्यादि के किनारे खुले मैदान में, जहाँ प्रचण्ड शीत पड़ने से वृक्ष भी जल उठते हैं, वहाँ खड़े रहते हैं, तथा

(३) चतुर्मास में वर्षा बरसती हो, प्रचण्ड हवा चलती हो और डाँस मच्छर काट खाते हों - ऐसे समय में वृक्ष के नीचे योग धारण करते हैं।

(४) अनेक विकट आसन करते हैं।

इस प्रकार कायक्लेश के अनेक कारण मिलते हैं, फिर भी साम्यभाव से च्युत नहीं होते। अनेक प्रकार के उपसर्गों के विजेता हैं फिर भी चित्त में खेद उत्पन्न नहीं होता, अपितु अपने स्वरूपध्यान में निमग्न रहते हैं - ऐसे मुनिराज को कायक्लेशतप होता है। जिन्हें शरीर और इन्द्रियों के प्रति ममत्व होता है, उनके चित्त में क्षोभ होता है परन्तु मुनिराज तो इन सबसे निस्पृह वर्तते हैं; इन्हें किसका खेद होगा ?

बाहर में ताप हो या शीत हो, उसमें मुनिराज को खेद अथवा क्लेश नहीं होता है क्योंकि मुनिराज ने आत्मा का शीतलस्वभाव जाना है। शुद्ध चैतन्य, देहरहित है, उसमें लीनता वर्तती है; इसलिए अन्तर में आनन्द के फुब्बारे छूटते हैं, इस कारण बाहर की गर्मी या सर्दी मुनिराज को नहीं लगती है। जैसे, अपने मकान में बगीचा हो और उसमें शीतल जल का फुब्बारा हो तो बाहर की गर्मी वहाँ नहीं लगती है; उसी प्रकार मुनिराज को कायक्लेश में दुःख या आकुलता नहीं है क्योंकि अन्तर आनन्द के घर में शीतलता का फुब्बारा है, उसमें से शान्ति की किरणें बहती हैं; वह कायक्लेशतप है।

इस प्रकार छह प्रकार के बाह्यतप की बात पूर्ण हुई।

(कार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा ४४८ पर प्रवचन)

७. प्रायश्चित्त तप

अब, छह प्रकार के अन्तरङ्गतपों का व्याख्यान करते हैं। उनमें सर्व प्रथम प्रायश्चित्त नामक तप का स्वरूप कहते हैं।

जो मुनिराज, स्वयं दोष नहीं करते, दूसरे से दोष नहीं कराते, और कोई दोष करता हो तो उसे भला नहीं जानते, उनके उत्कृष्ट विशुद्धता होती है।

आत्मा, ज्ञानस्वरूप है। उसमें लीन होना, प्रायश्चित्त है। साधु का चित्त, चैतन्यस्वभाव में होता है, उसे प्रायश्चित्त कहते हैं। आत्मा, चिदानन्द पवित्र सुखधाम है, उसमें मुनिराज

का चित्त बारम्बार रहा करता है, वही मुनि का काम होने से प्रायश्चित्त है। जैसे, सोने को शोभा में काम लिया जाता है; उसी प्रकार चैतन्यधातु विकाररहित है, उसके भानपूर्वक विशेष शुद्धता द्वारा आत्मा को सुशोभित करता है, वह तप है। अपराधरहित होना प्रायश्चित्त है। नया दोष नहीं होने देना, वह निरपराध है। आत्मा, क्षण-क्षण में भावमरण से मर रहा है, उसे जीवित नहीं रखे और दूसरे जीव मर गये हों, उसका प्रायश्चित्त ले तो वह कोई वास्तविक प्रायश्चित्त नहीं है। यहाँ तो कहते हैं कि आत्मा में विशेष शुद्धता होना, प्रायश्चित्त है।

इस गाथा में व्यवहारप्रायश्चित्त की बात की है।

यह व्यवहारआलोचना किसे होती है? जो वीतरागी मुनि हैं, उन्हें स्वप्न में या दूसरे किसी प्रकार से कोई अल्प दोष हो गया हो तो दिगम्बर जैनाचार्य, जो कि आत्मा को उज्ज्वल करते हों, उनके समीप जाकर छुपाये बिना दोष प्रसिद्ध करते हैं, वह प्रायश्चित्त है।

अपने चारित्र में प्रमाद से दोष लग गया हो तो आचार्य के पास जाकर दश, दोषरहित आलोचना करते हैं। पाँच इन्द्रिय, एक निद्रा, चार कषाय, चार विकथा, एक स्नेह, ये पाँच प्रमाद हैं, इनके पन्द्रह भेद हैं। विशेष भंगों की अपेक्षा बहुत (सैंतीस हजार पाँच सौ) भेद होते हैं। उनसे दोष लगते हैं।

आलोचना के दश दोष हैं - १. आकम्पित, २. अनुमानित, ३. बादर, ४. सूक्ष्म, ५. दृष्ट, ६. प्रच्छन्न, ७. शब्दाकुलित, ८. बहुजन, ९. अव्यक्त, १०. तत्सेवो।

इनका अर्थ इस प्रकार है - आचार्य को उपकरणादि देकर, अपने प्रति करुणा उत्पन्न कर आलोचना करे कि ऐसा करने से थोड़ा प्रायश्चित्त देंगे - ऐसा विचार करना, आकम्पितदोष है।

वचन ही से आचार्यों की बड़ाई आदि करके आलोचना करे, अभिप्राय ऐसा रखे कि आचार्य मुझसे प्रसन्न रहेंगे तो थोड़ा प्रायश्चित्त देंगे, यह अनुमानितदोष है।

प्रत्यक्ष दिखता दोष हो, वह कहे; अदृष्ट न कहे, यह दृष्टदोष है।

स्थूल (बड़ा) दोष तो कहे; सूक्ष्म न कहे, यह वादरदोष है।

सूक्ष्मदोष ही कहे; वादर न कहे, यह बतावे कि इसने सूक्ष्म ही कह दिया सो बादर

क्यों छिपाता, यह सूक्ष्मदोष है। छिपाकर ही कहे, कोई दूसरा अपना दोष कहे, तब कहे कि ऐसा ही दोष मेरे लगा है; उसका नाम प्रगट न करे, सो प्रच्छन्नदोष है। बहुत शब्द के कोलाहल में दोष कहे, अभिप्राय ऐसा रक्खे कि कोई और न सुने सो शब्दाकुलितदोष है। एक गुरु के पास आलोचना कर फिर अन्य गुरु के पास आलोचना करे; अभिप्राय ऐसा रक्खे कि इसका प्रायश्चित्त अन्य गुरु क्या बतावें, सो बहुजनदोष है। जो दोष, व्यक्त हो सो कहे; अभिप्राय ऐसा रक्खे कि यह दोष छिपाने से नहीं छिपेगा; अतः कहना ही चाहिए, वह अव्यक्तदोष है। अन्य मुनि को लगे हुए दोष की गुरु के पास आलोचना कर प्रायश्चित्त लिए हुए देखकर, उसके समान अपने को दोष लगा हो तो उसको प्रगट न करने के अभिप्राय से उसकी आलोचना गुरु के पास न करे; आप ही प्रायश्चित्त ले लेवे, वह तत्सेवीदोष है। इस तरह दश दोषरहित सरलचित्त होकर बालक के समान आलोचना करे।

दश प्रकार के दोषरहित हो, वह व्यवहारआलोचना है। मुनि की सेवा करने से प्रायश्चित्त थोड़ा देंगे - ऐसी बुद्धि से आलोचना करे तो वह आलोचना नहीं है। सरलता से अपना दोष प्रसिद्ध करे। सन्त-मुनि तो अपने स्वरूप में लीनता करते हैं, उन्हें कोई अल्प दोष रह गया हो तो उसका प्रायश्चित्त करते हैं। जिस काल में, जिस क्षेत्र में और जिस निमित्त से जो होना होगा, वह होगा - ऐसी प्रतीति तो मुनिराज को पहले हुई है। इन्द्र, नरेन्द्र आदि कोई भी उसमें परिवर्तन करने में समर्थ नहीं है। ऐसा विश्वास तो मुनिराज को होता है और ऐसे विश्वासपूर्वक अन्तर में विशेष शान्ति बढ़ गयी है - ऐसे मुनि को कोई दोष रह गया होता है, उसकी यह व्यवहारआलोचना है, इसे भी मुनिराज भलीभाँति जानते हैं और फिर ऐसा दोष नहीं होने देते। मुनिराज सरलचित्त से बालक की तरह आलोचना करते हैं, वह प्रायश्चित्ततप है।

अब यह कहते हैं कि मुनिराज, प्रायश्चित्त में सन्देह नहीं करते।

दोष की आलोचना करने के बाद आचार्य ने जो कुछ भी प्रायश्चित्त दिया हो, उस सबको श्रद्धापूर्वक ग्रहण करना चाहिए, किन्तु हृदय में ऐसी शङ्का या सन्देह नहीं रखना चाहिए कि यह दिया हुआ प्रायश्चित्त थोड़ा है या अधिक ?

तत्त्वार्थसूत्र में प्रायश्चित्त के नौ भेद कहे हैं - १. आलोचना, २. प्रतिक्रमण,

३. तदुभय, ४. विवेक, ५. व्युत्सर्ग, ६. तप, ७. छेद, ८. परिहार, ९. उपस्थापना ।

दोष का यथावत् कहना, **आलोचना** है ।

दोष का मिथ्या करना, **प्रतिक्रमण** है ।

आलोचना-प्रतिक्रमण दोनों करना, **तदुभय** है ।

आगामी त्याग करना, **विवेक** है ।

कायोत्सर्ग करना, **व्युत्सर्ग** है ।

अनशनादि तप करना, **तप** है ।

दीक्षाछेदन, अर्थात् बहुत दिन के दीक्षित को थोड़े दिन का करना, **छेद** है ।

संघ के बाहर करना, **परिहार** है ।

फिर से नवीन दीक्षा देना, **उपस्थापना** है । इनके भी अनेक भेद हैं; इसलिए देश, काल, अवस्था, सामर्थ्य, दोष का विधान देखकर यथाविधि आचार्य प्रायश्चित्त देते हैं, उसको श्रद्धा से स्वीकार करे; उसमें संशय न करे ।

यह सब बात सच्चे मुनिराज की है । जिन्हें देव-गुरु-शास्त्र का भी पता नहीं है, ऐसे मुनि की यह बात नहीं है - ऐसा समझना चाहिए ।

वास्तव में प्रायश्चित्ततप किसे कहना ? यह अब कहते हैं । यह गाथाएँ बहुत सरस हैं ।

अपने को लगे हुए दोष का प्रायश्चित्त लेकर, वापस उस दोष को करना नहीं चाहे, अपने सैकड़ों खण्ड हो जाने पर भी वह दोष नहीं करे - ऐसे निश्चयपूर्वक प्रायश्चित्ततप होता है । जो ज्ञानी मुनि, आत्मा को बारम्बार ज्ञानस्वरूप चिन्तन करते हैं, विकथादिक प्रमाद से विरक्त होकर, मात्र ज्ञान का ही निरन्तर सेवन करते हैं, उन्हें श्रेष्ठ प्रायश्चित्त होता है ।

व्यवहार की बात करके भी मुनिराज को 'मैं ज्ञानस्वरूप हूँ' - यह बात हटती नहीं है । विकल्प उत्पन्न हुआ, वह भी मैं नहीं हूँ । देहरहित, केवल चैतन्य का ज्ञान जिन्हें वर्तता

है और बारम्बार उसका चिन्तवन करते हैं, वह प्रायश्चित्त है। व्यवहार का ज्ञान कराया, परन्तु आत्मा ज्ञानानन्द चैतन्यमूर्ति है, उसका निर्णय और लीनता ही निश्चयप्रायश्चित्त है।

आत्मा, पर का तो कर्ता नहीं, परन्तु राग को करे - ऐसा भी उसका स्वभाव नहीं है; राग होता है, उसे जानने का स्वभाव है। मैं ज्ञानस्वरूपी हूँ - ऐसा निर्णय तो धर्मात्मा को प्रथम से ही होता है। गृहस्थदशा में राग-द्वेष अधिक और मुनिदशा में अल्प होते हों, तथापि उस समय भी धर्मात्मा को यह निर्णय तो छूटता ही नहीं है कि मेरा स्वभाव तो ज्ञान है। ज्ञान के अतिरिक्त अन्य कोई मेरा स्वरूप नहीं है। निगोद में या सिद्धदशा में भी आत्मा तो ज्ञानस्वरूप ही है - ऐसा निर्णय करके स्वरूप में स्थिर होना, प्रायश्चित्ततप है।

देखो, यह गाथा अलौकिक है! आत्मा, ज्ञानस्वरूप है - ऐसा बारम्बार चिन्तवन किये बिना, बाहर में कहीं धर्म नहीं है। मुनि को कदाचित् प्रमाद से अल्प दोष होता है, उसके भी मुनिराज ज्ञाता हैं। वह क्रमबद्ध है - ऐसा वे जानते हैं। विकल्प उत्पन्न हुआ, उसका ज्ञान कराते हैं परन्तु वह क्रम नहीं बदलता है। आत्मा तो जाननेवाला है, वह किसी को बदलता या हिलाता नहीं है। कदाचित् गुरु का योग हुआ और राग भी हुआ तो उसका भी जाननेवाला रहता है। मुनिराज इस प्रकार, मात्र ज्ञान का सेवन करते हैं, वह सच्चा प्रायश्चित्त है और वही तप है।

आत्मा, शुद्ध ज्ञानानन्द है। उसकी पर्याय में अशुद्धता है। स्वभाव के आश्रय से (अशुद्धता मिटकर, पर्याय में) शुद्धता होती है, उसे तप कहते हैं। पुण्य-पाप के परिणाम, अपराध हैं और आत्मा का स्वभाव, अपराधरहित है - ऐसा निर्णय करके स्वरूप में एकाग्रता करना, चारित्र अथवा तप है।

परवस्तु से लाभ-हानि होती है और विकार जितना ही आत्मा है - ऐसा मानकर उसका स्वीकार करता है, वह शुद्धस्वभाव का अनादर और अरुचि करता है; उसे भगवान, अपराध कहते हैं और उस अपराध का मिटना, वह प्रायश्चित्त है।

जो मुनिराज, ज्ञानस्वरूप का चिन्तन करते हैं, वह प्रायश्चित्त है। प्रथम मेरा स्वरूप, ज्ञान है - ऐसा निर्णय करे तो उसका चिन्तवन करेगा न! आत्मा किसी का कुछ करनेवाला नहीं है और आत्मा किसी से हो - ऐसा भी नहीं है किन्तु जानने-देखनेवाला है - ऐसा

निर्णय किये बिना, उसका सच्चा चिन्तवन नहीं होता और उसे प्रायश्चित भी नहीं होता ।

जिन्हें ज्ञानस्वभाव पूर्ण प्रगट हुआ है, वे सर्वज्ञदेव हैं; उसे साधनेवाले गुरु हैं, और उनके द्वारा कथित वे यथार्थ शास्त्र हैं । इस प्रकार देव-गुरु-शास्त्र का यथार्थ निर्णय प्रथम करना चाहिए । आत्मा अकेला पर का ही जाननेवाला है - ऐसा नहीं है परन्तु स्व को जानते हुए, पर को - देव-गुरु-शास्त्र को यथार्थ जान ले - ऐसा आत्मा का स्वभाव है । जो अपनी कमजोरी से निमित्त के प्रति राग होता है, उसे भी सम्यग्दृष्टि भलीभाँति जानता है । आत्मा, पर का काम तो नहीं करता परन्तु आत्मा में राग होता है, उसे करने का भी आत्मा का स्वभाव नहीं है; मात्र उसे जानने का आत्मा का स्वभाव है । पर सुधरता है या बिगड़ता है, वह आत्मा के अधिकार की बात नहीं है फिर भी अज्ञानी मूढ़ ऐसा मानता है कि मैंने ध्यान नहीं रखा, इसलिए पर-कार्य बिगड़ गया । वस्तुतः वही अपराध है और वही दुःख तथा उपाधि है । वह उपाधि, क्षणिक है; त्रिकालीस्वभाव में वह नहीं है । स्वभाव तो जानने-देखने का है और ऐसे आत्मा में बारम्बार उग्र पुरुषार्थ करना, वह चारित्र है; आत्मा का चारित्र बाहर में नहीं है । ज्ञानानन्द में निवास करना, चारित्र अथवा उपवासरूपी तप है । ज्ञानी, आहार आता है, उसे भी जानता है परन्तु उसे मैं लाता हूँ या मैं आहार ग्रहण करता हूँ - ऐसा वह नहीं मानता है । आहार लेने का विकल्प होता है, उसका भी जाननेवाला है; इसलिए आहार के समय भी ज्ञानी धर्मात्मा उपवासी है - ऐसा कहा गया है ।

यहाँ तो आत्मा के भान के उपरान्त, चारित्र की बात है; इसलिए बारम्बार आत्मा का चिन्तवन करे, वह चारित्र है, प्रायश्चित है; उससे पूर्व का अपराध नष्ट होता है । यह प्रायश्चित का जो स्वरूप लोग कहते हैं, उसकी अपेक्षा से अलग प्रकार का है । भगवान की कृपा होवे तो आत्मा का कल्याण हो जाए - ऐसा है ही नहीं । भगवान तिरा देते हैं - ऐसा माना जाए तो अभी तक भगवान ने नहीं तिराया - ऐसा हुआ, परन्तु ऐसा नहीं है । आत्मा स्वयं समझे तो उसका कल्याण होता है । आत्मा, पुण्य-पाप में एकाग्र होता है, वह भटकना है । आत्मा एक स्थल से दूसरे स्थल पर जाता है, वह परिभ्रमण नहीं है । मन में कल्पना के घोड़े दौड़ाता है, वह स्वघर को छोड़कर बाहर गया है । भोजनकथा-देशकथा आदि चार विकथाएँ हैं । कमाने की कथा, घर की कथा, पुत्र की कथा, ये सब रागकथा

होने से विकथा हैं; ये आत्मा से विपरीत कथा हैं, प्रमाद है। इससे रहित होकर आत्मा का चिन्तन करना, वह प्रायश्चित्त है, इसे श्रेष्ठ, अर्थात् निश्चयप्रायश्चित्त कहते हैं।

निश्चयप्रायश्चित्त वह है कि जिसमें सर्व प्रायश्चित्त के भेद गर्भित हैं, अर्थात् प्रमादरहित होकर, अपनी शुद्ध ज्ञानस्वरूप आत्मा का भान करना चाहिए, जिससे सर्व पापों का प्रलय हो जाता है।

आत्मा, ज्ञानानन्दस्वरूप है, उसकी प्रतीति और लीनता में समस्त प्रायश्चित्त आ जाते हैं। जिसमें जिसकी रुचि होती है, वह उसका ध्यान करता है। जैसे घर में रुई पड़ी हो तो उसकी पूनी, यन्त्र में जोड़ता रहता है; इसी प्रकार जिसकी जिससे रुचि होती है, वह उसको धुना करता है। जैसे की रुचिवाला जैसे को धुना करता है, (अर्थात्, उसी की रटन में लगा रहता है।) इसी प्रकार ज्ञानी को आत्मा की रुचि होने से आत्मा की रटन किया करता है। इस प्रकार निश्चयप्रायश्चित्त नामक अन्तरङ्गतप की व्याख्या हुई। अब, तीन गाथाओं में विनयतप का स्वरूप कहते हैं।

(कार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा ४४९-४५३ पर प्रवचन)

८. विनय तप

अब, विनयतप का स्वरूप कहते हैं।

विनयतप है और तप, आत्मा की शुद्धि है, तथा वह चारित्र है। उसके दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप, उपचार आदि अनेक प्रकार के भेद हैं।

दर्शन, ज्ञान, चारित्र में तथा बारह भेदरूप तप जो विशुद्धपरिणाम होते हैं, वही उनका विनय है। यहाँ पाँच प्रकार का विनयतप कहा गया है, उनमें सर्व प्रथम दर्शनविनयतप की व्याख्या इस प्रकार है —

(१) शङ्कादि अतिचाररहित परिणाम होना, दर्शनविनय है।

सम्यग्दर्शन, अर्थात् क्या ? वह कहते हैं। आत्मा, ज्ञानादि अनन्त गुण का भण्डार है, परिपूर्ण शुद्ध निर्दोष है - ऐसी शुद्धता का भास तथा निर्णय होना, वह सम्यग्दर्शन का विनय है, वह तप है, और वह चारित्र की शुद्धि है। जो ज्ञान का प्रगटपना दिखायी देता है,

वह आत्मा ज्ञानशक्ति का भण्डार है, उसका अंश है – ऐसा निर्णय होना, वह सम्यग्दर्शन-विनय, अर्थात् आत्मा की विनय है।

यह विनयतप की बात है। वास्तव में कोई पर का विनय करता ही नहीं; जिसे जो रुचता है, वह उसी का गीत गाता है। पैसेवाले के गीत गाये जाते हैं, वह वस्तुतः पैसा रुचिकर हुआ है, उसके गीत गाये जाते हैं। त्यागीजन पैसेवाले के गीत नहीं गाते, परन्तु धर्मात्मा त्यागियों के गीत गाते हैं, अर्थात् आत्मा की रुचिवाले को तो जो आत्मा की साधना कर रहा है, वह रुचिकर होता है, उसी के गीत गाता है। इसलिए वास्तव में कोई पर की विनय नहीं करता है।

पर से लाभ होता है – ऐसी मान्यता नहीं होने देना, वह दर्शनविनय है। पैसा किसी को भी शरणरूप नहीं है। आत्मलक्ष्मी से भरपूर भगवान आत्मा ही स्वयं अपने को शरणभूत है। इसमें शङ्का नहीं होने देने का नाम सच्चा विनयतप है। बाहर की तपस्या कहीं आत्मा को शरणभूत नहीं है। सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की विनय करना, उनका व्यवहार है – ऐसी बात इस सम्यग्दर्शन-विनय में नहीं की है क्योंकि वह तो राग है; इसीलिए उसे गौण किया गया है। यहाँ तो निश्चयतप की व्याख्या है।

(२) ज्ञान को संशय आदि रहित परिणामरूप अष्टाङ्ग अभ्यास करना, वह ज्ञानविनय है।

आत्मा का ज्ञानस्वभाव है, उसमें संशय नहीं होने देना, अर्थात् आत्मा, ज्ञान है या राग है – ऐसा संशय नहीं होने देना; शास्त्राभ्यास के काल में विनय करना; जिस शास्त्र के निमित्त से ज्ञान हुआ हो, उसका विनय करना; जिस गुरु के निमित्त से ज्ञान हुआ हो, उसका विनय करना – इत्यादि आठ प्रकार से ज्ञान की विनय करना, वह ज्ञानविनय है। गुरु का चोर नहीं होना, अर्थात् जिस गुरु के निमित्त से ज्ञान हुआ हो, उसकी प्रशंसा-विनयादि करना, उनका बहुमान जगत में प्रसिद्ध करना, वह विनयतप है और अपने स्वरूप का आदर करना, वह ज्ञानविनय है। स्वयं को ज्ञानस्वरूप समझे तो उसका आदर करेगा, परन्तु आत्मा को पहचाने ही नहीं तो विनय किसकी करेगा? इसलिए प्रथम यथार्थ पहचान करना चाहिए। राजा जंगल में गन्दे व्यक्ति के वेष में घुमता हो तो कोई उसे नहीं पहचानता;

अतः विनय भी नहीं करता। इसी प्रकार आत्मा, चिदानन्द राजा है, वह राग-द्वेष का वेष पहनकर उतना ही अपने को माने तो उसका सच्चा विनय नहीं होगा, परन्तु जैसा स्वरूप है, वैसा ही जाने और उसमें एकाग्र होवे तो सच्चा विनय होता है।

(३) अस्थिरतारहित अहिंसादि परिणामपूर्वक चारित्र का पालन करना, वह चारित्रविनय है।

आत्मा में राग की उत्पत्ति नहीं होने देना, वह अहिंसारूप चारित्र है। वीतरागभावरूप शान्ति होना, वह चारित्रविनय है। अहिंसा, चारित्र का ऐसा स्वरूप है। पर की हिंसा या अहिंसा तो आत्मा नहीं कर सकता है। आत्मा को अपने स्वरूप को भूलकर पर की हिंसा का पापभाव या पर की अहिंसा का शुभराग होता है, वह स्व आत्मा की हिंसा है। ज्ञाता का निर्णय करके आत्मा में लीन होना, वह अहिंसा है। आत्मा, पूर्ण सत्स्वरूप है, उसका आदर करना, वह सत्य है। राग से लाभ मानना, वह चोरी है। मुझसे मुझे लाभ-नुकसान है, पर के कारण लाभ-नुकसान नहीं है - ऐसा मानना अचौर्य है। रागादिक परिणाम, वह मेरा वास्तविक स्वरूप नहीं है - ऐसा समझकर ब्रह्म, अर्थात् आत्मा में विचरण करना, वह ब्रह्मचर्य है और रागादि परिग्रह से रहित होना, वह अपरिग्रह है। अज्ञानी की अहिंसादि की व्याख्या में और इस व्याख्या में अन्तर है।

(४) तपविनय : इस प्रकार तपों के भेदों को निरखकर / देखकर निर्दोषतप का पालन करना, वह तपविनय है। आत्मा के स्वभाव को पहचानकर, इच्छारहित निर्दोषदशा प्रगट करना, वह तपविनय है। यह निश्चयतप की बात की है।

(५) उपचारविनय : जिस प्रकार राजा का नौकर, राजा के अनुकूल प्रवर्तता है; उसी प्रकार सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रय के धारक मुनिराजों के अनुकूल भक्तिपूर्वक आचरण करना, वह उपचारविनय है।

आत्मा के भानपूर्वक छठे-सातवें गुणस्थान में झूलनेवाले कुन्दकुन्दाचार्यादि मुनि हो गये हैं और ऐसे मुनि अभी महाविदेहक्षेत्र में विराजमान हैं। उनका विनय करना, उनके अनुकूल वर्तना, उनकी भक्ति करना, उनका आदर करना, वह उपचारविनय है।

जिस प्रकार राजा के नौकर, राजा के अनुकूल वर्तते हैं, उसकी सेवा करते हैं,

उसकी आज्ञा का पालन करते हैं; इसी प्रकार गुरु की सेवा-भक्ति करना, वह विनयतप है। श्रीमद् ने सत्श्रुत के नाम लिखे हैं, उसमें मोक्षमार्गप्रकाशक को भी सत्श्रुत के रूप में कहा है। अब, मोक्षमार्गप्रकाशक के पाँचवें अध्याय में श्वेताम्बर, स्थानकवासी आदि को अन्यमत में निरूपित किया है; इसीलिए वे वास्तव में जैन नहीं हैं, तथापि उनके द्वारा कहे गये देव-गुरु-शास्त्र को माननेवाला, सच्चे देव-शास्त्र-गुरु को नहीं मानता है और श्रीमद् ने तो निषेध किया होने पर भी वही माननेवाले, श्रीमद् का भी अनादर करते हैं; इसलिए वास्तव में वे श्रीमद् को भी नहीं मानते हैं।

मुनिराज का स्वरूप, नग्न दिगम्बर ही है। उन्होंने जिस प्रकार से कहा है, उस प्रकार से मानना, वह व्यवहारविनय है। निश्चयविनयवाले को ऐसी व्यवहारविनय होता ही है। लोग व्यवहारविनय को भी नहीं समझते हैं। जिनसे ज्ञान प्राप्त हुआ हो, उनका विनय नहीं करे तो वह उपचारविनय को भी नहीं समझता है; इसलिए उसे निश्चयविनय तो है ही नहीं।

यहाँ तप की चर्चा चल रही है। आत्मा की शुद्धि होना ही तपश्चर्या है। बाहर की क्रिया की बात नहीं है; अन्दर में आत्मा का भान वर्तता है, तदुपरान्त विशेष स्थिरता हुई है - ऐसे मुनिराज को राग के समय देव-शास्त्र-गुरु का बहुमान आता है। पर का बहुमान करना तो राग है परन्तु ज्ञानी को अन्तरभान वर्तता है और शुद्धता बढ़ती है, वह वास्तव में विनयतप है।

जिस प्रकार राजा का नौकर राजा के अनुकूल प्रवर्तता है, उसकी आज्ञा मानता है और तदनुसार वर्तता है, यह तो परोक्ष की बात हुई और वह राजा प्रत्यक्ष आने पर खड़ा होता है, सन्मुख जाता है और हाथ जोड़कर प्रणाम करता है, राजा चलता है तो उसके पीछे-पीछे जाता है और उसके वस्त्र, गहने इत्यादि सब सम्हालता है। इसी प्रकार मुनिजनों की अनुपस्थिति में मुनियों की भक्ति करना। जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्यदशा को प्राप्त हों और बाह्य से नग्न-दिगम्बरदशा हो, उन्हें मुनि कहते हैं।

प्रश्न : यदि ऐसे मुनिराज दिखायी नहीं दें तो क्या करना चाहिए ?

समाधान : उनकी परोक्षभक्ति करना चाहिए। सर्वज्ञदेव की वाणी के अनुसार

कुन्दकुन्दाचार्य, अमृतचन्द्राचार्य, पूज्यपादस्वामी, समन्तभद्राचार्य आदि महान आचार्य, जिन्होंने शास्त्रों की रचना करके धर्म को टिकाया है और जो धर्म के स्तम्भ हैं, उनकी भक्ति-प्रशंसा, बहुमान करना चाहिए और उनका उपकार गाना चाहिए।

इन मुनिराज से विरुद्ध, मुनि का स्वरूप बतलानेवाले की भक्ति करनेवाला जीव, मिथ्यादृष्टि है; जो सर्वज्ञ की वाणी से एक अक्षर भी आगे-पीछे करता है, वह मिथ्यादृष्टि है। अपने गुरु तथा शास्त्र या जिससे ज्ञान प्राप्त किया हो, उनकी विनय नहीं करना, उनका नाम छुपाना, वह महाचोरी है। वह ज्ञान में दोष करता है। व्यवहारविनय में भी आठ प्रकार के ज्ञान के दोष मिटाना चाहिए। इस सम्बन्ध में कुन्दकुन्दाचार्य अथवा वट्टकेरस्वामी कृत मूलाचार, गाथा १०५ में कहा है कि —

कुलवय शील विहिणे सूतत्थं सम्ममाग मित्ताय ।

कुलवय शील महल्ले णिणहव दोसो हु जप्प तो ॥ १०५ ॥

ज्ञान होने में जिस शास्त्र का निमित्त हो, उसका निमित्त न मानकर दूसरे शास्त्र से ज्ञान प्राप्त किया है - ऐसा कहनेवाला, बड़ा चोर है। यहाँ तीन प्रकार से बात करते हैं।

जिसकी कुल परम्परा सत्य नहीं है, वह कुलविहीन है। जिसकी परम्परा में सच्चे देव -गुरु-शास्त्र निमित्तरूप नहीं हैं, जिसकी चारित्रदशा सच्ची नहीं है, उसे कुलविहीन जानना चाहिए। सच्चा चारित्र तो निर्ग्रन्थ मुनियों में है। आत्मा के भानपूर्वक यथार्थ व्रत और तप होते हैं, उस चारित्र की परम्परा जिनमें नहीं है, उन्हें कुलविहीन जानना। ऐसे कुलहीन में होने पर भी मुझे सच्चे गुरु की बात प्राप्त हुई है - ऐसा कहना, वह दोष है... मिथ्यादृष्टि है।

तीर्थङ्कर, गणधर, तथा सप्त ऋद्धिधारी संयमी, उच्चकुल के गिने जाते हैं। इनके अतिरिक्त साधारण मुनि हलके कहलाते हैं। साधारण मुनि के समीप पढ़ने पर भी यह कहना कि मैं कुल, व्रत, शीलवान, तीर्थङ्कर, गणधर आदि के समीप पढ़ा हूँ, निह्वदोष है।

जो शास्त्र, सर्वज्ञ की परम्परा से रचित हैं, उन शास्त्रों के निमित्त से ज्ञान होने पर भी मुझे अपने आप ज्ञान हुआ है, और शास्त्र मुझे प्राप्त ही नहीं हुए - ऐसा कहना, वह शास्त्र का, अर्थात् शास्त्रसम्बन्धी निह्वदोष है। जिस गुरु का निमित्त है, उसे छुपानेवाला गुरु का चोर है।

जिनेन्द्र की आज्ञानुसार रचित शास्त्रों के निमित्त से ज्ञान होने पर भी, मुझे उन शास्त्रों के निमित्त से ज्ञान नहीं हुआ है परन्तु नैयायिक तथा दूसरे अज्ञानियों के बनाये हुए शास्त्रों से बोध हुआ है - ऐसा कहना, वह भी चोर है। वर्तमान में आत्मा के नाम से बहुत बातें चलती हैं। यहाँ से सत्य बात बाहर आयी है; इसलिए उसकी नकल करने लगे हैं। जिनकी कुल-परम्परा, साधुपना, चारित्रपरम्परा सत्य नहीं है और किसी की बातें लेकर आत्मा की बातें करता है, वह बड़ा चोर है, वह व्यवहार का भी चोर है और निश्चय का चोर तो है ही।

किसी सच्चे मुनि के समीप पढ़कर, लोक में पूजा-प्रतिष्ठा इत्यादि के लिए और जगत में बताने के लिए उसका उपयोग करता है, वह मिथ्यादृष्टि है।

समानतावाले मुनि के समीप पढ़कर कहे कि मैं तीर्थङ्करदेव के समीप पढ़ा हूँ, वह भी ज्ञान का चोर, व्यवहार से है। जो व्यवहार से चोर है, वह निश्चयचोर तो है ही।

इस प्रकार यथार्थस्वरूप समझकर जिन देव-शास्त्र-गुरु के निमित्त से अपने को ज्ञान हुआ हो, उसका नाम नहीं छुपाना, उनका उपकार, महिमा और प्रशंसा करना चाहिए, वह बाह्य विनयतप का अङ्ग है।

मुनिराज के स्वरूप का निर्णय करना चाहिए। जिनकी परम्परा में चारित्र रहता है, वे सच्चे मुनि हैं, उन मुनियों के विनय की बात चल रही है। उन्हें प्रत्यक्ष देखकर खड़े होना, सम्मुख जाना, हाथ जोड़ना, प्रणाम करना.... यद्यपि हाथ जोड़ने इत्यादि की क्रिया तो जड़ की है और उसे आत्मा नहीं कर सकता है परन्तु उसके पीछे चैतन्य का जो उत्साह वर्तता है, वह विनय है और जहाँ ऐसा उत्साह वर्तता है, वहाँ व्यवहारविनय होती है और वह होती है, वहाँ शरीर की क्रिया को लगभग निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध है। जिस जीव को चैतन्यस्वभाव का बहुमान है, उसे मुनि आदि धर्मात्मा का बहुमान आये बिना रहता नहीं है। आत्मा, स्वयं धर्मी है और धर्म उसका स्वभाव है। रत्नकरण्डश्रावकाचार में कहा है कि **नधर्मो धार्मिकै विना**, अर्थात् धर्मी के बिना धर्म नहीं होता है। आत्मा के भान बिना, धर्म नहीं होता और धर्मी जीव को धर्मात्मा के प्रति बहुमान आये बिना नहीं रहता। जिसे धर्मी के प्रति बहुमान नहीं है, उसे धर्म की रुचि नहीं है; इसलिए धर्मात्मा मुनियों की विनय

करना, उनके उपकरण सम्हालना - इत्यादि उपचारविनय है।

मुनिराज निर्ग्रन्थ दिगम्बर होते हैं। उन्होंने अनादि सनातन वीतरागमार्ग को टिका रखा है। अष्टपाहुड़ में कहते हैं कि वस्त्रसहित मुनिपना माने-मनवावे, वह मिथ्यादृष्टि है, वह उन्मार्ग है। श्रीमद् राजचन्द्रजी ने अष्टपाहुड़, समयसार, पञ्चास्तिकाय, मोक्षमार्गप्रकाशक इत्यादि को सत्शास्त्र कहा है। उन अष्टपाहुड़, मोक्षमार्गप्रकाशक में स्पष्ट लिखा है कि वस्त्रसहित मुनिपना माननेवाला मिथ्यादृष्टि है। उसके द्वारा कथित देव-गुरु-शास्त्र का स्वरूप विपरीत है। सनातन जैनमार्ग तो निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुनियों का एक ही है; दुनिया माने या न माने, परन्तु मार्ग तो यह एक ही है।

प्रश्न : समुद्र में रहकर मगरमच्छ के साथ वैर रखना, यह कैसे चलेगा ?

समाधान : किसी डेढ (हल्की जाति) के मेले में बनिया जा चढ़े तो बनिया भ्रम में नहीं पड़ता है। मोक्षमार्गप्रकाशक में कहा है कि

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु,
लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्;
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा,
न्यायात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः ॥

कोई निन्दा करता है तो निन्दा करे, स्तुति करता है तो स्तुति करे, लक्ष्मी आये या जाये तथा मरण आज ही होवे या युगान्तर में हो, परन्तु नीति में निपुणपुरुष न्यायमार्ग से एक कदम भी विचलित नहीं होते - ऐसा न्याय विचारकर, निन्दा, प्रशंसादि के भय से या लोभादिक से भी अन्यायरूप मिथ्यात्व प्रवृत्ति करना योग्य नहीं है।

अहो! देव-गुरु-धर्म तो सर्वोत्कृष्ट पदार्थ हैं! उनके आधार से तो धर्म है। उनमें शिथिलता रखने से, अन्य धर्म किस प्रकार होगा? अधिक क्या कहना! सर्वथा प्रकार से कुदेव-कुगुरु-कुधर्म का त्यागी होना चाहिए... क्योंकि कुदेवादिक का त्याग न करने से मिथ्यात्वभाव बहुत पुष्ट होता है और इस काल में यहाँ उनकी प्रवृत्ति विशेष दिखाई देती है। इसलिए यहाँ उनके निषेधरूप निरूपण किया है, उसे जानकर मिथ्यात्वभाव छोड़कर अपना कल्याण करो।

(कार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा ४५४-४५६ पर प्रवचन)

९. वैयावृत्य तप

किसी मुनि के शरीर में रोग हो, वृद्धावस्था हो, उन्हें अपनी चेष्टा से, उपदेश से उपकार करना, वह वैयावृत्यतप है। यहाँ मिथ्यादृष्टि की सेवा की बात नहीं है; सच्चे भावलिङ्गी सन्त की बात है। वह भी अपनी महिमा या गुणगान के लिए नहीं तथा बाद की शिष्य परम्परा रहे, इसलिए भी नहीं। सम्प्रदाय में साधु वैराग्यवाले होते हैं, सम्पूर्ण जिन्दगी वैराग्य का पालन करें परन्तु आत्मा के भान बिना सब व्यर्थ है। यह बात कान में पड़ना भी कठिन है। सम्प्रदाय में तो ऐसी मान्यता है कि जीव को बचाना, वह धर्म है और देह की क्रिया से पुण्य होता है परन्तु यह मान्यता, मिथ्या है। मात्र द्रव्यस्वभाव के आश्रय से ही धर्म होता है; पर्याय के आश्रय से भी धर्म नहीं होता, यह बात सम्प्रदाय में पुरानी दीक्षावालों ने भी नहीं सुनी है। पुण्य हो तो उनके कान में यह वस्तुस्वभाव की बात पड़ती है। उसकी हाँ करके श्रद्धा करनेवाले की तो क्या बात! वह तो धर्म प्राप्त करके भव का अभाव करता है।

आशय यह है कि स्वयं निस्पृह होकर मुनिराजों की सेवा करना, वह वैयावृत्यतप है। दश प्रकार के मुनि होते हैं - आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष्य, ग्लान, गण, कुल, संघ, साधु और जिनकी प्रशंसा बहुत हो तथा कुल अच्छा हो, पुण्य-प्रकृति में विशेष हों, ऐसे साधु को मनोज्ञ कहते हैं। उनकी यथाशक्ति सेवा करना, वह वैयावृत्य है। आत्मा के भानवाले सेवा करते हैं तो निर्जरा होती है और मिथ्यादृष्टि, सच्चे मुनि की सेवा करता है तो उत्कृष्ट पुण्य बाँधता है और जुगलिया में (भोगभूमि में) जन्म लेता है। यहाँ शुद्ध वैयावृत्य की बात की है। जो मुनि अपनी आत्मा में शम और दमभाव करता है, इन्द्रियों का दमन करता है और शुद्धोपयोग में प्रवर्तता है, लोकव्यवहाररूप बाह्यवैयावृत्य के विकल्प से पार होकर अन्तरङ्ग में रमता है, उसे निश्चयवैयावृत्य होती है।

मुनिराज को राग-द्वेषरहित समताभाव प्रगट हुआ है। जिन्हें अनुकूल-प्रतिकूल संयोग समान हैं; जो मुनि अतीन्द्रिय वीतरागी आत्मस्वभाव में तल्लीन हैं, उन मुनिराज को लोकव्यवहाररूप बाह्यवैयावृत्य नहीं होती है। मुनिराज के वैयावृत्य के विकल्प को भी लोकव्यवहार कहा है। यहाँ शुद्धस्वरूप में तल्लीन है - ऐसे मुनि की बात है। प्रथम,

बाह्यवैयावृत्य के विकल्प की बात की थी। वहाँ भी सब क्रमबद्ध था परन्तु राग के समय लक्ष्य था, वैसे भेदों का वर्णन था। क्षुल्लक धर्मदासजी कहते हैं कि आत्मा एक और तप के बारह भेद किस प्रकार होंगे? बारह भेदों का विचार करने से राग होता है। आत्मा, एकता को प्राप्त होता है, वह सच्चा व्रत है – ऐसे शुद्धोपयोगी मुनि को निश्चयवैयावृत्यतप होता है। शुद्धोपयोगी मुनि की यह विधि है।

(कार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा ४५७-४५८ पर प्रवचन)

१०. स्वाध्याय तप

सर्वज्ञ भगवान के द्वारा कथित तत्त्वानुसार जो शास्त्र रचे गये हों, उनकी स्वाध्याय करना, तप है। जिसमें जिसकी रुचि होती है, वह उस काम की कला सीखे बिना नहीं रहता। पैसे की रुचिवाला पैसा कमाने की कला सीखता है। यद्यपि पैसा तो पुण्य से प्राप्त होता है परन्तु ऐसा राग किया करता है; उसी प्रकार आत्मा की रुचि और प्रेम है, वह आत्मा के निर्णय के लिए आत्मा के लक्ष्य से स्वाध्याय करता है। अकेले परलक्ष्य से स्वाध्याय करे, वह स्वाध्याय ही नहीं है।

आत्मा, ज्ञानानन्द चैतन्यज्योति है, उसके लक्ष्य से निर्णय करना चाहिए, परन्तु ऐसे निर्णय के लिए बिलकुल स्वाध्याय-वाँचन विचार आदि नहीं करे तो वह निर्णय कैसे होगा? इसलिए प्रथम, वीतराग द्वारा कथित शास्त्रों की स्वाध्याय नहीं करे तो उसे आत्मा का निर्णय नहीं होता, परन्तु सच्चे शास्त्रों का ऐसा स्वाध्याय करना चाहिए कि उसके विचार लम्बाने से अन्दर में ध्यान हो जाए। इसीलिए स्वाध्याय को ध्यान का कारण भी कहा गया है।

कोई कहता है कि शास्त्रादिक का स्वाध्याय करते समय दूसरे विचार आ जाते हैं, उसका क्या कारण है?

उससे कहते हैं कि वे विचार कोई मुफ्त में नहीं आते हैं परन्तु उस प्रकार की अन्दर में रुचि पड़ी होती है। उस प्रकार का विकल्प और राग, आत्मा स्वयं करता है तो होता है – ऐसे विचार नहीं होने देने के लिए भगवान ने, स्वाध्याय जैसा दूसरा तप नहीं है – ऐसा कहा है। उस स्वाध्याय के लिए प्रथम, सर्वज्ञ कौन हैं और उनके द्वारा कथित शास्त्र कौन

है ? – इसका भी निर्णय करना पड़ेगा। ऐसे निर्णयवाले को ही स्वाध्याय होती है।

श्री गणधरदेव के द्वारा रचित शास्त्रों में छह बाह्यतप और छह अन्तरङ्गतप की व्याख्या आती है। इसमें स्वाध्याय को महान अनुष्ठान कहा गया है, उसके समान दूसरा अनुष्ठान नहीं है। ध्यान का कारण भी स्वाध्याय है। उस स्वाध्याय से मुनिराजों को निर्जरा होती है और मिथ्यादृष्टि को आत्मा का निर्णय यथार्थ होने में वह स्वाध्याय, उपायरूप है। अकेले मुनि के लिए यह बात नहीं है तथा मात्र परलक्ष्य से स्वाध्याय करनेवाले की बात भी नहीं है। खोटे विकल्पवाले को स्वाध्याय नहीं होती है। स्वाध्याय ठीक से करे तो उसका फल, शुक्लध्यान और केवलज्ञान है।

बड़ी सभा में मान मिलेगा, दूसरों से मैं अधिक हूँ – ऐसा लोग मुझे मानेंगे; इस प्रकार ऐसे मान और पूजा के भाव से स्वाध्याय करता है, तो उसे कुछ लाभ का कारण नहीं होता है परन्तु शास्त्र का बहुमान करके, आत्मा के लक्ष्य से स्वाध्याय करे तो लाभ का कारण होता है। जगत् में मान के लिए या शिष्य के लोभ के लिए शास्त्र पढ़े तो उसे अकेली आकुलता और दुःख ही होता है।

आशय यह है कि अपनी पूजा-महिमा के लिए शास्त्राभ्यास करनेवाले का शास्त्राभ्यास सुखदायक नहीं होता है, परन्तु जो मात्र कर्मक्षय के लिए ही जिनशास्त्रों का अभ्यास करता है, उसे सुखदायक होता है।

देखो! यहाँ अकेले वीतरागशास्त्रों का अभ्यास लाभदायक है – ऐसा कहा है; इसके अतिरिक्त अन्य शास्त्र की बात नहीं की है; अतः किसी ने वीतरागधर्म के नाम से शास्त्रों की रचना की हो, वैसे शास्त्रों को पढ़े तो भी लाभ नहीं होता है; मात्र लौकिक अभ्यास करता है, वह तो पापभाव है, उसमें तो अकेला दुःख ही है। वर्तमान में संसार की कला का विकास दिखायी देता है, वह वर्तमान पुरुषार्थ के कारण नहीं है। पूर्व का जितना विकास लेकर आया हो, उतनी लौकिककला दिखायी देती है। जहाँ तक मोह-रागादि है, वहाँ तक लौकिक पढ़ाई का विकल्प आये बिना नहीं रहता है परन्तु उस विकल्प के कारण, कला विकसित नहीं होती है। जैसे, पैसा वर्तमान पुरुषार्थ से प्राप्त नहीं होता है परन्तु पूर्व के पुण्योदय से मिलता है; इसी प्रकार लौकिकज्ञान भी वर्तमान पुरुषार्थ का फल

नहीं है। अशुभभाव, ज्ञान के विकास का कारण नहीं होता है। आत्मा में शुद्धि होती है, उसे शास्त्राभ्यास लाभकारी होता है परन्तु शास्त्र में अनेक प्रकार के कथन आते हैं, उनका अर्थ नहीं समझे और विपरीत तर्क करे तो उसे शास्त्र अभ्यास, लाभ का कारण नहीं होता है।

जो पुरुष, ऐसा मानकर शास्त्राभ्यास करता है कि पढ़ने से मैं महान गिना जाऊँगा और बाहर का लाभ होगा तथा जो सच्चे देवादि से विरुद्धरूप वर्तता है और मिथ्या (देवादिक) की पूजा करता है, वह स्वयं पण्डित नहीं होने पर भी अपने को पण्डित मानता है, उसे शास्त्र अभ्यास जहररूप परिणमित होता है। ज्ञानी के प्रत्यक्ष समागम के बिना जो अपनी मति-कल्पना से शास्त्राभ्यास करता है, वह स्वयं को हितरूप नहीं होता है।

वीतराग के शास्त्रों का अभ्यास करे, परन्तु तीव्रकषायी हो अथवा लोभी हो तो सच्चे धर्मी से प्रतिकूल हुए बिना नहीं रहता; इसलिए वह अभ्यास उसे जहररूप होता है, अर्थात् उसका ज्ञान, अज्ञानरूप परिणमित हो जाता है। ऐसे जीव, शास्त्र पढ़कर भी कुयुक्तियाँ निकालते हैं और शब्दों का अर्थ नहीं समझते हैं, वे मात्र भेषधारी पाखण्डी कहलाते हैं। वीतराग का मार्ग अपूर्व पुरुषार्थ से समझ में आने योग्य है; इसलिए मात्र आत्मा के हित के लिए अभ्यास करना चाहिए परन्तु दूसरे किसी आशय से शास्त्र पढ़े तो वह मुनि होने पर भी पाखण्डी है।

जो जीव, भगवान के शास्त्रों को छोड़कर, युद्ध या विषय-कषाय की वृद्धि हो - ऐसे शास्त्रों को लोगों को ठगने के लिए पढ़ता है तो उससे आत्मा को कुछ लाभ नहीं होता है।

प्रश्न : लोगों के भले के लिए दूसरी कलाओं के शास्त्र पढ़े तो उसमें क्या आपत्ति है ?

समाधान : वह भी राग-द्वेष का ही पोषण करता है क्योंकि कोई पर का भला-बुरा तो कर ही नहीं सकता। वस्तु है तो उसकी पर्याय उसके कारण से होती है - ऐसा न मानकर, मेरे कारण (परद्रव्य की पर्याय) होती है - ऐसा मानना, वही महान पाप है। इसलिए पर के उपकार के लिए पढ़ाई पढ़ना अच्छा है - ऐसा जो मानता है, वह महा-मूढ़ और पाखण्डी है। अब यह बात गुप्त नहीं रही है, ढिंढोरा पीटकर बाहर आयी है कि

प्रत्येक वस्तु, स्वतन्त्र है, वह स्वयं से परिणमित हो रही है; निमित्त आता है, इसलिए परिणमित होती है – ऐसा नहीं है। फिर भी जो कोई पर के कारण पर्याय होना मानता है, वह मिथ्याभिमानि है।

यह बात सुनकर अब बहुत से लोग ऐसा कहते हैं कि आत्मा के कारण पर की अवस्था नहीं होती, यह बात तो सत्य है परन्तु हम निमित्त तो होते हैं न ?

उससे कहते हैं कि निमित्त तो तब कहलाता है कि जब उपादान में स्वयं के कारण से, स्वयं के काल में स्वतन्त्र परिणमन होकर कार्य होता है। तब भी निमित्त आया, इसलिए कार्य होता है – ऐसा नहीं है और निमित्त नहीं है – ऐसा भी नहीं है। लोगों को सुखी होना हो और धर्म करना हो तो यह मानना ही पड़ेगा। प्रत्येक पदार्थ है, तो उसका वर्तमान भी है। उसके वर्तमान को न माने तो उसने वस्तु को ही नहीं माना है। यह बात अनन्त केवली कह गये हैं, वह है। ऐसी बात सुनकर बहुत से त्यागी, नकल करने लग गये हैं परन्तु जिसे अभी सच्चे देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा नहीं है और पहचान भी नहीं है, उसे किसी प्रकार यह बात जम जाए – ऐसा नहीं है।

जब आत्मा का भान होता है, तब आत्मभानवाले जीव को धर्म का ऐसा माहात्म्य आता है कि देव-गुरु-शास्त्र के लिए लाखों रुपये खर्च करने का भाव आये बिना नहीं रहता है। वह जिनमन्दिरों के लिए और धर्म की प्रभावना के लिए निरन्तर प्रयास किया करता है। अभी तो इस बात को समझनेवाले बहुत हो गये हैं, और अफ्रीका तक यह बात पहुँच गयी है; वहाँ हमेशा स्वाध्याय चलता है। जिसे जिसकी रुचि होती है, उसमें वह निरन्तर समय लगाता है।

जो पुरुष, लोगों को ठगने के लिये युद्ध के, काम कौतूहल के, मन्त्र-ज्योतिष-वैद्यक आदि के लौकिकशास्त्र पढ़ता है, उसके कैसा स्वध्याय है ?

यहाँ कोई पूछता है कि मुनि और पण्डित तो सब ही शास्त्र पढ़ते हैं, वे किसलिए पढ़ते हैं।

इसका समाधान – राग द्वेष से अपने विषय, आजीविका पुष्ट करने के लिए, लोगों को ठगने के लिए पढ़ने का निषेध है। जो धर्मार्थी होकर कुछ प्रयोजन जान, इन शास्त्रों को

पढ़े, (जैसे) ज्ञान बढ़ाना, परोपकार करना, पुण्य-पाप का विशेष निर्णय करना, स्व-परमत की चर्चा जानना, पण्डित हो तो धर्म की प्रभावना हो कि जैनमत में ऐसे पण्डित हैं - इत्यादि प्रयोजन हैं, उसका निषेध नहीं है। दुष्ट अभिप्राय से पढ़ने का निषेध है।

राग-द्वेष और विषय अथवा अजीविका के लिए शास्त्र पढ़ता है तो उसका यहाँ निषेध किया है परन्तु निस्पृहरूप से शास्त्र पढ़े अथवा बनावे, उसका निषेध नहीं है। जंगल में विचरनेवाले सन्त-मुनियों ने धर्म की प्रभावना के लिए वैद्यादिक शास्त्र बनाने का किसी समय विकल्प आया और शास्त्रों की रचना हो गयी। मुनिराज तो निस्पृह होते हैं परन्तु किसी समय अन्यमतों में वैद्यक का जोर हो तो जैन में भी वैद्यक का ज्ञान है - यह बतलाने के लिए दवा कैसे बनती है, और किस रोग में कौन सी दवा लागू पड़ती है? उसके शास्त्र की रचना करते हैं परन्तु उसमें मात्र जैनधर्म की प्रभावना का हेतु होता है; विषय-कषाय का अथवा मान-पूजा का भाव, मुनिराज को नहीं होता है; इसलिए उसका निषेध नहीं होता है।

इस गाथा में वीतराग जैनशास्त्रों के स्वाध्याय का सार कहते हैं, अर्थात् सम्पूर्ण जैनशासन का सार इस गाथा में है। समयसार-गाथा १५ में अबद्धस्पृष्ट आदि आत्मा को जानता है, वह जैनशासन को जानता है - ऐसा कहा गया है। इस गाथा में भी सनातन वीतरागमार्ग का सम्पूर्ण शासन समाहित कर दिया है; इसलिए यह गाथा भी बहुत उत्कृष्ट है। पढ़ ले, प्रश्न करे, शास्त्र का अभ्यास करे, इन सबका सार इस गाथा में है।

जो मुनिराज, इस अपवित्र शरीर से भिन्न अपने आत्मा को ज्ञानस्वरूप जानते हैं, उन्होंने सम्पूर्ण शास्त्रों को जान लिया है। आत्मा, ज्ञानस्वरूप है, वह पुण्य-पाप आदि तत्त्वों से भिन्न है। आत्मा, शरीर से भिन्न है; इसलिए कर्मणशरीर से भी भिन्न है। पुण्य-पाप भी कर्मणशरीर में समाहित हो जाते हैं, उनसे भी आत्मा भिन्न है - ऐसा जानना ही चारों अनुयोगों का सार है। चारों ही अनुयोग के शास्त्रों में यह एक ही बात की गयी है कि आत्मा, रागादि और शरीरादि परद्रव्यों से भिन्न है - ऐसा जानना, धर्म है। जो शास्त्र, राग से, पुण्य से, या शरीरादि निमित्त से आत्मा को लाभ होता है - ऐसा कहते हैं, वे शास्त्र ही नहीं हैं और वीतरागता के शास्त्र पढ़कर उनमें से यह सार निकाले कि राग से और पर से

लाभ होता है तो वह शास्त्रों के अर्थ को भी नहीं समझा है। आत्मा, पर से भिन्न ज्ञायकस्वरूपी है – ऐसा जानना, जैनशासन का सार है; इसलिए जिसे समझना हो, उसे यही समझना / विचारना करना हो, उसे यही विचारना और प्रश्न करना हो, उसे यही प्रश्न करना – यह सार है।

* समयसार, गाथा १५ में समस्त जिनशासन का सार है। किसी को ऐसा लगे कि कुन्दकुन्दाचार्यदेव दूसरा कहते हैं और समन्तभद्राचार्य दूसरा कहते हैं.... परन्तु ऐसा नहीं है। अष्टसहस्री आदि व्यवहार और न्याय के ग्रन्थों में, दूसरा पदार्थ निमित्त है, उसका ज्ञान कराते हैं परन्तु निमित्त के कारण उपादान में कार्य होता है – ऐसा नहीं है। जिसे यह बात समझ में नहीं आती, उनमें खलबलाहट हुई है कि निमित्त होता है, तब ही उपादान में कार्य होता है परन्तु यहाँ तो इस गाथा में कहते हैं कि आत्मा ज्ञायकस्वरूप, निमित्त और रागादि से भिन्न है – ऐसा जाना, उसने जिनशासन जाना है। इसमें समस्त शास्त्रों का सार आ जाता है। हाँ, निमित्त दूसरी वस्तु है अवश्य, परन्तु उपादान में स्वयं के कारण कार्य होता है, तब परवस्तु में निमित्तपने का आरोप आता है, ऐसा जाननेवाले ने समस्त शास्त्रों को जान लिया है। दूसरे शास्त्र, निमित्त और व्यवहार की बात करते हैं तो वहाँ निमित्त और व्यवहार है, उसका ज्ञान करना, परन्तु उससे उपादान में कुछ कार्य होता है या निश्चय प्रगट होता है – ऐसा नहीं समझना।

सर्वज्ञ भगवान ने चारों अनुयोगों में ज्ञायकस्वभावी आत्मा को शरीरादि से भिन्न कहा है। यह जानने से उसमें देव-शास्त्र-गुरु की यथार्थ पहचान भी आ गयी है।

द्रव्यानुयोग की अपेक्षा से ज्ञान, आत्मा से होता है और चरणानुयोग की अपेक्षा से राग तथा निमित्त से ज्ञान होता है – ऐसा नहीं है। सम्पूर्ण जैनशासन का सार तो यह है कि आत्मा ज्ञायकस्वरूपी है और पर से भिन्न है – ऐसा जानना। जिसने ऐसा जाना है, उसने सम्पूर्ण शास्त्र जान लिये हैं।

आत्मा, पर से भिन्न, ज्ञायक है – इस बात का जिसे पता नहीं है, वह अपनी कल्पना

* जिनशासन का स्वरूप जानने के लिए पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के प्रवचन 'जैनजयतु शासनम्' पढ़ना चाहिए।

से शास्त्र पढ़कर ज्ञानकाण्ड, कर्मकाण्ड, भक्तिकाण्ड – इन तीन काण्ड से आत्मा में कार्य होता है – ऐसा मानता है और दूसरे को मनवाता है.... परन्तु उसकी यह बात मिथ्या है। आत्मा को पर की भक्ति से, कर्म से या राग से धर्म नहीं होता है क्योंकि पर के साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। पर से कार्य होता है – जो ऐसा मानता है, वह शास्त्रों के अर्थ को नहीं समझता है। आत्मा, ज्ञायक है; उसे जाना तो जो भक्ति आदि का शुभभाव होता है, उसे निमित्त कहते हैं परन्तु कर्मकाण्ड या भक्तिकाण्ड से ज्ञानकाण्ड प्रगट होता है – ऐसा नहीं है।

सर्वज्ञ वीतरागदेव के शास्त्रों का यथार्थ ज्ञान हुआ, इसलिए अन्य शास्त्र क्या कहते हैं ? – उसका भी ज्ञान हो जाता है। दिगम्बर सन्तों के द्वारा रचित छोटे से छोटा ग्रन्थ लो या बड़ा ग्रन्थ लो.... उन सब का सार एक ही है। समयसार की गाथा १५ में यह बात की है और यहाँ स्वाध्याय की बात करते हुए ज्ञायक की बात रखी है। इससे विरुद्ध माननेवाला स्वाध्याय को समझता भी नहीं है।

आत्मा, चैतन्यमूर्ति है। उसकी प्रति समय जो पर्याय होती है, वह अपने कारण से, अपने में होती है, तथापि द्रव्यदृष्टि को मुख्य करके, उसे अभूतार्थ कहते हैं। वस्तुदृष्टि में पदार्थ को भूतार्थ कहा गया है। अपेक्षा से अपनी पर्याय को अभूतार्थ कहा है तो फिर पर की पर्याय मुझसे होती है – ऐसा मानकर पर-पर्याय को भूतार्थ करना चाहता है, वह तो स्थूल मिथ्यादृष्टि है; उसे द्रव्यसन्मुख देखने का अवकाश भी नहीं है। अपनी पर्याय अपने से है, उसे निमित्त के कारण से मानता है, वह भूतार्थ को अभूतार्थ करना चाहता है, वह भी मिथ्या है। द्रव्यदृष्टि की मुख्यता से पर्याय को अभूतार्थ करना चाहिए – ऐसा नहीं करके, निमित्त के कारण से (पर्याय होना) मानकर (पर्याय को) अभूतार्थ करता है, उसे भी तीन काल में स्वभावदृष्टि नहीं होती। शास्त्र में अभेद की दृष्टि से भेद को गौण करके, व्यवहार कहकर अभूतार्थ कहा गया है, तथापि अज्ञानी, निमित्त के कारण पर्याय होती है – ऐसा मानकर विद्यमान पर्याय को अविद्यमान मानता है, उसे द्रव्यदृष्टि होने का अवकाश नहीं है।

पर्याय, द्रव्य में अभेद होने पर भेद दिखायी नहीं देता; इसलिए पर्याय को अभूतार्थ

कहा गया है परन्तु पर्याय है ही नहीं – ऐसा इसका अर्थ नहीं है और पर्याय, पर से होती है – ऐसा भी नहीं है। ऐसा होने पर भी जो यह मानता है कि पर्याय, पर से होती है अथवा पर्याय का अभाव है तो वह एकान्त मिथ्यादृष्टि है। सर्वज्ञ द्वारा कथित शास्त्रों में यह (द्रव्य-पर्याय की) बात होती है। सर्वज्ञ के नाम से जो कल्पित शास्त्रों की रचना की हैं, उनमें यह बात है ही नहीं, क्योंकि वे तो गृहीतमिथ्यादृष्टि के द्वारा रचित हैं।

आचार्य भगवान ने इस गाथा में द्वादशांग का सार भर दिया है। ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि नहीं छूटे और अन्तरलीनता रहे, यही मुनिपना है। जिस-जिस मुनि को, जिस-जिस काल में, जैसा-जैसा विकल्प आया, वैसे-वैसे शास्त्र उनके कारण से, अर्थात् स्वयं स्वतः रच गये हैं।

शरीरादि परद्रव्य, आत्मा से भिन्न हैं और उसके निमित्त से होनेवाले रागादि परिणाम भी हैं परन्तु वे आत्मा के त्रिकाली स्वभाव में नहीं हैं – ऐसा जानना, वह भेदाभेद का यथार्थ ज्ञान है। ऐसे विचार, साधक को होते हैं; केवली को नहीं होते हैं, इस कारण केवली को पर्याय होती ही नहीं – ऐसा नहीं है।

पर्याय को अभूतार्थ मानने में दो दृष्टियाँ हैं – एक तो पर के कारण पर्याय होती मानता है, वह विद्यमान पर्याय को अभूतार्थ मानता है, यह भ्रान्ति है, अर्थात् मिथ्यादृष्टि है।

(दूसरे) अपने त्रिकाली स्वभाव में नहीं है; इसलिए अभूतार्थ है – ऐसा जो मानता है, वह सम्यग्दृष्टि है।

भाई! यह बात समझे बिना, यह मनुष्यभव पूरा हो गया तो फिर पता नहीं लगेगा। इसलिए सम्यग्ज्ञानरूपी डोरा, आत्मारूपी सुई में पिरो लेना ही आत्मा का कर्तव्य है और तभी आत्मा, चौरासी के अवतार में नहीं खोएगा।

जो मुनिराज, अपनी आत्मा का स्वरूप, अशुचिमय शरीर से भिन्न और जानने-देखने के शुद्ध उपयोगवाला है – ऐसा जानते और निर्णय करते हैं, वे समस्त शास्त्रों को जानते हैं परन्तु अपने स्वरूप को नहीं जाने और हजारों ग्रन्थ पढ़े – स्वाध्याय करे तो भी इससे उसके आत्मा को कुछ लाभ नहीं होता है। शास्त्र का थोड़ा-सा ज्ञान हो, परन्तु उसका सार निकाल ले तो शास्त्र को पढ़ा कहलाता है। जिसे आत्मा का भान होता है, वह

देवादिक के स्वरूप को भी भलीभाँति जानता है, उनका उसे ठीक से विवेक होता है। अज्ञानी को ऐसा लगता है कि निमित्त के कारण उपादान में कार्य होना मानो तो निमित्त को माना कहलाता है। उसे ऐसा लगता है कि यदि ऐसा नहीं मानेंगे तो फिर हमारी विनय कौन करेगा ? परन्तु वास्तव में वह शास्त्र का रहस्य समझा ही नहीं है।

जो मुनि, अपने आत्मा को नहीं जानता, वह आगमपाठ करता है तो भी उसके रहस्य को नहीं जानता है। आत्मा, शरीरादि से भिन्न है; इसलिए शरीर से आत्मा में कुछ काम नहीं होता और आत्मा से शरीर में कुछ काम नहीं होता। ऐसा माने तो दोनों को भिन्न माना कहा जाए। जिसे इस बात का पता नहीं है, वह शास्त्र को नहीं जानता है। शास्त्र को पढ़ने पर भी वह वास्तव में शास्त्र को पढ़ा ही नहीं है।

आत्मा, पुद्गलादि छहों द्रव्य भिन्न-भिन्न हैं। प्रत्येक पदार्थ की क्रिया भिन्न-भिन्न हो रही है और अपने-अपने कारण से हो रही है - ऐसा नहीं माने तो पृथक्-पृथक् द्रव्य भी सिद्ध नहीं होते और उसका ज्ञान भी सम्यक् नहीं होता। आत्मा और दश प्राण भिन्न-भिन्न हैं फिर भी आत्मा, प्राणों को धारण करता है - ऐसा कहना, वह व्यवहार कथन है। प्रत्येक ही परमाणु भिन्न-भिन्न है और आत्मा से शरीर के परमाणु भिन्न हैं - ऐसा शास्त्र का स्वाध्याय करके जो नहीं समझता है, वह शास्त्र को नहीं जानता है।

शास्त्र पढ़ने का और अभ्यास करने का सार तो अपने स्वरूप को जानकर, राग-द्वेषरहित होना है। अब यदि शास्त्रों को पढ़कर भी ऐसा नहीं हुआ तो वह क्या पढ़ा ? अपना स्वरूप जानकर उसमें स्थिर होना, वह निश्चयस्वाध्यायतप है। दिगम्बर सन्त मुनियों की एकधारा बात होती है, उनके अतिरिक्त दूसरों की बात में तो पारस्परिक मेल ही नहीं रहता। मिथ्यादृष्टि की बातें पूर्वापर विरोधसहित होती हैं। ऐसे जीव तो चार गति में भटकते हैं। मिथ्या शास्त्रों को पढ़ने से लाभ नहीं होता है। इसलिए आत्मा, ज्ञायक है, उसका निर्णय करके उसमें लीन होना, वह सच्चा स्वाध्यायतप है - ऐसा जानना चाहिए।

आत्मा, ज्ञायकमूर्ति है, उसके निर्णयपूर्वक लीनता होने से निश्चयस्वाध्याय होती है, उस समय व्यवहारस्वाध्याय होती है, उसके पाँच प्रकार हैं —

१. वांचना, २. पृच्छना, ३. अनुप्रेक्षा, ४. आमनाय, और ५. धर्मोपदेश। इस प्रकार

पाँच प्रकार की व्यवहारस्वाध्याय है और वह व्यवहार भी निश्चय के लिए हो तो वह व्यवहार सच्चा है, वरना निश्चयरहित व्यवहार तो व्यर्थ है।

पूर्व में यह बात आ गयी है कि अपना अभिमान पोषण करने के लिए मिथ्याशास्त्रों का वांचन-स्वाध्याय करे तो वह जहररूप परिणमित होता है। यहाँ तो भगवान सर्वज्ञदेव के द्वारा कथित शास्त्र हैं, उनका वांचन करना, उसे व्यवहारस्वाध्याय कहा है। कुदेवादि के शास्त्रों का पठन तो व्यवहार भी नहीं है; अकेला मिथ्यात्व का पोषण है। जिस कुल में जन्म लिया हो, उसके शास्त्र पढ़ना, वह कहीं व्यवहार नहीं है।

देखो, जिस प्रकार व्यापारी अपने व्यापार के लिए सभी पहलुओं से पहले निर्णय करता है। जिसे रुपया देना हो, वह आसामी कैसा है? ब्याजसहित वह रुपये वापस देगा या नहीं? और जो नौकर घरेलू काम करनेवाला है, वह खानदानी है या नहीं? यह सब निर्णय प्रथम करता है। इसी प्रकार स्वाध्याय करनेवाले को प्रथम यह निर्णय करना चाहिए कि यह शास्त्र, सर्वज्ञ वीतराग द्वारा कथित है या नहीं? और तत्पश्चात् आत्मा को समझने के लिए ऐसे शास्त्रों का स्वाध्याय करना, वांचन करना, प्रश्न करना, धारणा करना, बारम्बार रटन करना, और उनका उपदेश देना - यह व्यवहारस्वाध्याय है।

नियमसार, गाथा ८ वीं में श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव कहते हैं कि सर्वज्ञ परमात्मा के मुख में से निकली हुई वाणी, जो पूर्वापर दोषरहित और शुद्ध है, उसे आगम कहते हैं और उन्होंने जो तत्त्वार्थ कहे हैं, उनका अभ्यास करना चाहिए। मोक्षमार्गप्रकाशक में पण्डित टोडरमलजी ने भी कहा है कि जो शास्त्र, पूर्वापर विरोधरहित हों, उन्हें पढ़ना। कुदेवादि द्वारा कथित मिथ्याशास्त्रों को पढ़ने से आत्मा को वह जहररूप परिणमित होते हैं। ज्ञानी, धर्मात्मा अथवा मुनि या जिनकी दृष्टि खुल गयी है, जिन्हें आत्मा का यथार्थ अनुभव हुआ है - ऐसे (जीव) कदाचित् अन्य शास्त्र किस प्रकार मिथ्या सिद्धि करते हैं? - यह बात जानने के लिए पढ़ते हैं तो उसमें दोष नहीं है परन्तु उनसे लाभ होगा - ऐसी बुद्धि से पढ़ते हैं तो मिथ्यात्व दृढ़ होता है; इसलिए वह व्यवहार ही नहीं है।

अज्ञानी, अपना मान-पोषण करने के लिए जिनमें पूर्वापर विरोध है - ऐसे शास्त्रों को पढ़कर, हमारे में भी आत्मा की बात है और तुम्हारे जैसी सब बात इसमें आती है -

ऐसा कहकर लोगों को भ्रम में डालता है। उसे सच्चे-झूठे शास्त्रों का भेद करने का अवकाश नहीं रहता है परन्तु जो जीव, जिसके निमित्त से यह बात मिली हो, उसकी प्रशंसा करे और जहाँ से यह बात निकली हो, उसे स्वीकार करे और कहे कि अपने शास्त्रों में यह बात नहीं थी, यह बात तो अपूर्व है – ऐसी सज्जनतापूर्वक शास्त्र पढ़े, वह व्यवहारस्वाध्याय कहलाता है। जिन शास्त्रों में व्यवहार से निश्चय प्रगट होता है – ऐसा कहा हो, उन शास्त्रों में निश्चय की स्वतन्त्र बात नहीं हो सकती। जिसमें पूर्वापर विरोधवाली बात होती है, उसमें अविरोध बात नहीं होती।

अभी तो यथार्थस्वरूप समझे बिना भी बहुत लोग आत्मा की बातें करनेवाले हो गये हैं। दया, दान, भक्ति, आदि शुभभाव है, उसे पाप मनवाते हैं। जिसे पुण्य-पाप का भी विवेक नहीं है, वह कहते हैं कि हमारे साधु, अध्यात्म के साधक हैं। पूर्वापर विरोध मान्यता है, उसमें यह बात आयी कहाँ से? जिसे शुभभाव का भी पता नहीं है, उसे उन दोनों से रहित शुद्ध आत्मा की बात नहीं हो सकती है। जिसे वीतराग की भावना होती है, वह अशुभभाव छोड़कर शुभ में लगता है परन्तु निश्चय से शुभाशुभ, दोनों भावों को बन्धनरूप जानता है। इसलिए प्रथम पुण्य-पाप का विवेक आना चाहिए। यदि सम्यग्दृष्टि जीव को शुभभाव न होवे तो मरकर स्वर्ग कैसे जाएगा? पापभाव छोड़कर पुण्यभाव तो ज्ञानी को भी होता है और वैसा धर्मानुराग होता है, तब जिनमन्दिर आदि बनाने का तथा देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति-पूजा का भाव अवश्य होता है; इसलिए जैसा है, वैसा समझनेवाले को प्रथम व्यवहारस्वाध्याय होता है। (कार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा ४५९-४६४ पर प्रवचन)

११. व्युत्सर्ग तप

जो मुनिराज, पसीना और मल / मैल से लिप्त शरीरयुक्त हों, सहन नहीं हो सके ऐसा तीव्र रोग होने पर भी उसका इलाज नहीं करते; मेरा स्वभाव चिदानन्द है, उसका आश्रय जिन्हें वर्तता है, उन्हें शरीर का आश्रय नहीं होता है; इसलिए शरीर में रोग आता है तो उसकी दवा नहीं कराते हैं। उन्हें तो आत्मा की लगन लगी है; शरीर की लगन छूट गयी है।

मुनिराज, मुँह नहीं धोते, वे शरीर का संस्कार नहीं करते, भोजन-शय्यादि की वाँछा

नहीं करते, सोने की जगह अच्छी हो तो ठीक – ऐसी इच्छा मुनिराज को नहीं होती, ऐसी सन्त-मुनि की दशा होती है। उसके बदले अभी तो मुनि के और केवली के स्वरूप को बहुत तरह से विकृत कर दिया है। अज्ञानियों ने केवली के नाम से शास्त्र लिखे हैं, उनमें केवली को समुद्घात होने के बाद मोक्ष में जाना है, उससे पहले पाट आदि गृहस्थ को वापस सौंप देते हैं – ऐसा मूलपाठ है। उन्होंने केवली को रागी जीव की तरह मान लिया है। यहाँ तो कहते हैं कि मुनि को भी वस्त्र-पात्रादि नहीं होते तो केवली को वे हों, ऐसा तो होता ही नहीं। भगवान का नाम देकर बहुत न्याय विरुद्ध कहा है। **सनातनमार्ग तो एक नग्न दिगम्बर मुनि का है, उसके अतिरिक्त दूसरा सत्यमार्ग है ही नहीं।**

देखो, यह बात इतनी अधिक स्पष्ट आयी है, उसका कारण यह है कि बहुत से जिज्ञासु जीव इस बात को ठीक से समझ कर तैयार हो गये हैं। अब मिथ्या बात चल सके – ऐसा नहीं है। मुनिराज को शरीर के प्रति भी ममता नहीं होती तो फिर बाहर के शत्रु या मित्र के प्रति राग-द्वेष होते हैं – ऐसा तो होता ही नहीं है।

अधिक क्या कहें ? देह में भी ममत्वरहित होते हैं, उन्हें कायोत्सर्गतप होता है। मुनिराज कायोत्सर्ग करते हैं, तब उन्हें बाह्य और अभ्यन्तर दोनों प्रकार का परिग्रह छूट गया होता है और मात्र अपने ज्ञानानन्द चैतन्यस्वरूप आत्मा में उपयोग लगाते हैं। राग-द्वेषरहित होकर शुद्ध उपयोग में लवलीन होते हैं, उस समय भले ही अनेक प्रकार के उपसर्ग आयें तथा कोई शरीर को काट जाए, रोग आये, फिर भी वे स्वरूप से चलित नहीं होते। कोई शरीर पर चन्दन लगाये तो राग नहीं होता और शरीर को कोई उपसर्ग करे तो उसके प्रति मुनिराज को द्वेष नहीं होता। इस प्रकार किसी से राग-द्वेष उत्पन्न नहीं करते, उन्हें कायोत्सर्गतप होता है।

(कार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा ४६५-४६६ पर प्रवचन)

१२. ध्यान तप

● आत्मा स्वतन्त्र ज्ञानानन्द चैतन्यमूर्ति है — ऐसा निर्णय होने के पश्चात् अन्तरङ्ग में एकाग्र होने से जो उज्वलता के परिणाम होते हैं, उसे भगवान तप कहते हैं और उस समय वर्तता हुआ विकल्प व्यवहार तप कहलाता है। आत्मा की लीनता में विशेष उग्रता होती है, वह धर्मध्यान और शुक्लध्यानरूपी तप है। शुद्धि की वृद्धि होना ही

धर्मध्यान और शुक्लध्यान है।

● ध्यान का स्वरूप एक ज्ञेय में ज्ञान का एकाग्र होना है। जो पुरुष, धर्म में एकाग्रचित्त करता है, उस काल में इन्द्रिय-विषयों का वेदन नहीं करता, उसे ही धर्मध्यान होता है। उसका मूल कारण संसार, देह, भोग से वैराग्य है। कारण कि वैराग्य के बिना धर्म में चित्त स्थिर नहीं होता।

● आत्मा को स्व के प्रति अपेक्षा होकर, पर की उपेक्षा हुए बिना नहीं रहती — ऐसे पर की उपेक्षा करनेवाले को अन्तरङ्ग में स्थिरता होती है। धर्मध्यानवाला विकार में एकाग्र नहीं होता, अपितु अन्दर स्वयं एक ज्ञानमात्र स्वभाव है, उसे लक्ष्य में लेता है।

तप की महिमा

● इस प्रकार बारह प्रकार के तप कहे गये हैं। जो मुनि इनमें उपयोग लगाकर, उग्र-तीव्रतप का आचरण करता है, वह मुनि मोक्षसुख को प्राप्त करता है। मोक्षसुख कैसा है? क्षय किया है कर्मपुञ्ज जिसने तथा जो अक्षय है, अविनाशी है — ऐसा है। जितना काल संसार का है, उससे अनन्तगुना काल मोक्ष का है क्योंकि संसार का अन्त आ जाता है, मोक्ष का अन्त नहीं आता। भूतकाल से भविष्यकाल भी अनन्तगुना है। जिस प्रकार मक्खन का घी होता है परन्तु घी का मक्खन नहीं होता। इसी प्रकार मोक्ष में से जीव संसार में वापस नहीं आता। जो मुनि अपने में उपयोग जोड़ते हैं, उन्हें ही मोक्ष होता है; अन्य किसी क्रिया से मोक्ष नहीं होता।

● आत्मा में उपयोग लगानेवाले को इच्छा की उत्पत्ति नहीं होती, यह तप है और इस तप से संवर और निर्जरा होते हैं। ये दोनों मोक्ष का कारण हैं। कोई भी मुनि ऊपर कहे हुए बारह तप का आचरण करते हैं, उनका मोक्ष होता है और तभी कर्म का अभाव होता है। उससे ही बाधारहित अविनाशी आत्मिक सुख की प्राप्ति होती है।

इस प्रकार इन बारह प्रकार के तप के धारक और तप के फल को प्राप्त करनेवाले मुनि भगवन्तों के चरणों में बारम्बार नमस्कार हो। ●

(- कार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा ४३६ से ४६८ तक के प्रवचनों का संक्षिप्त सार)

स्वरूपरमणता की प्राप्ति ही प्रायश्चित्त

आत्मा को पहिचानकर स्वरूपरमणता की प्राप्ति करना ही प्रायश्चित्त है।

शुद्ध एवं पूर्णस्वरूप ज्ञायक आत्मा का ज्ञान करना, सच्ची पहिचान करके उसमें रमणता करना उसे प्रतिक्रमण कहो, आलोचना कहो, प्रत्याख्यान कहो अथवा प्रायश्चित्त कहो, वह सब एक है - आत्मा का शुद्धभाव है। बाह्य में कोई किसी पाप का प्रायश्चित्त ले वह तो शुभ भाव है, राग है। रागरहित ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा को जाने बिना रमणता काहे में? और स्वरूपरमणता बिना चारित्र-प्रत्याख्यान, प्रतिक्रमण तथा प्रायश्चित्त - कहाँ से आये? इसलिए प्रथम वीतराग स्वरूप निज आत्मा की पहिचान कर। सर्व प्रथम यह करना है। वैसे, प्रथम नव तत्त्वों का विकल्पों से विचार करना ऐसा आता है परन्तु वह मूल वस्तु नहीं है।

ज्ञान, आनन्द, प्रभुता, स्वच्छता आदि अनन्तानन्त गुणरत्नों के भण्डार-गुणरत्नाकर - ऐसे निज ज्ञायकप्रभु को ज्ञान की वर्तमान दशा में मुख्य ज्ञेय बनाकर उसकी पहिचान कर, पश्चात् अतीन्द्रिय आनन्दमूर्ति ऐसे निज भगवान आत्मा में जो विशेष लीनता-रमणता करना उसे प्रायश्चित्त, धर्म, संयम और चारित्रादि कहा जाता है।

प्रश्न : बाह्य शुद्धि बिना अन्तर में कैसे प्रवेश करें?

उत्तर : शुद्धि बाह्य में है ही नहीं, अन्तरङ्ग शुद्धि ही सच्ची शुद्धि है। राग की मन्दता, शुभराग-बाह्य शुद्धि लाख-करोड़ करे, अरे! 'मुनिव्रत धार अनन्तबार ग्रीवक उपजाओ' - ऐसा अनन्तबार किया परन्तु वह सच्ची शुद्धि नहीं है, अशुद्धि है; क्योंकि राग की मन्दता

करने पर भी 'निज आत्मज्ञान बिना सुख लेश न पायो।' बाह्य मन्द कषाय के ऊपर से दृष्टि उठाकर एकदम पुरुषार्थ करके अन्तर में अकषाय शान्त ज्ञायक स्वभाव की गहराई में उतर जा तो तुझे आनन्द प्राप्त होगा। अहा! यह तो तात्त्विक सम्पत्ति की बात है!

नियमसार के प्रायश्चित्त अधिकार में आया है न! धर्मी जीव को प्रायः चित्त अर्थात् प्रकृष्टरूप से चित्त (ज्ञान) है। बोध, ज्ञान और चित्त भिन्न पदार्थ नहीं हैं। उत्कृष्ट ऐसा जो विशिष्ट धर्म वह वास्तव में परम बोध है। ऐसे बोध को-चित्त को-ज्ञान को जो नित्य धारण करते हैं, उन ज्ञानी को वास्तव में सच्चा प्रायश्चित्त है।

जीव धर्मी है और ज्ञानादिक उसके धर्म हैं। परम चित्त अथवा परम ज्ञानस्वभाव जीव का उत्कृष्ट विशेष धर्म है। इसलिए स्वभाव-अपेक्षा से जीवद्रव्य को प्रायःचित्त है अर्थात् प्रकृष्टरूप से ज्ञान है। जो ज्ञानी ऐसे चित्त को (परम ज्ञानस्वभाव को) श्रद्धते हैं और उसमें लीन रहते हैं, उनको निश्चय-प्रायश्चित्त है।

अतीन्द्रिय ज्ञान एवं आनन्द का पिण्ड ऐसा जो अन्तर में अपना परमात्मस्वरूप है उसका प्रकृष्टरूप से-विशेषरूप से बोध करना, उसकी पहिचान करके स्वरूप में लीनता प्राप्त करना ही प्रायश्चित्त है। अहा! यह कोई साधारण बात नहीं है। अनादि भाव प्रवाह में अनन्त बार पञ्च महाव्रत धारण किये, क्रियाकाण्ड किये, भक्ति की, करोड़ों और अरबों के खर्च से मन्दिर बनवाये, लेकिन उससे क्या? वे भाव तो शुभ हैं; उनसे पुण्य होता है, धर्म नहीं होता। आत्मा का स्वभाव जो ज्ञान-बोध-चित्त, आनन्द, शान्ति एवं वीतरागता आदि हैं उनकी 'आत्मा धर्मी और ज्ञानादि उसके धर्म; ऐसा भेद किये बिना, ज्ञान की वर्तमान पर्याय में पहिचान करके, स्वरूपरमणता करना ही सच्चा प्रायश्चित्त एवं धर्म है। अहा! शब्द तो सरल है किन्तु भाव बड़े गहरे हैं।'

प्रश्न : पहले दान, शील, तप आदि कुछ करें तो फिर धर्म होगा ना?

उत्तर : भाई! ऐसा है ही नहीं। पहले मन्द कषाय करें, भक्ति, पूजा, व्रत या तप करें तो फिर धर्म होगा - ऐसी बात नहीं है। अपने त्रैकालिक आनन्दस्वरूप के आश्रय से निर्मल आनन्द पर्यायरूप से स्वयं परिणमित होकर उसे अपने में रखा वही सच्चा दान

अर्थात् सम्प्रदान है। बाह्य में दो-चार करोड़ रुपये खर्च कर दिये उससे दान और धर्म हो गया - ऐसा बिलकुल नहीं है।

पूर्ण अतीन्द्रिय ज्ञान एवं आनन्दादि अनन्तानन्त अपार शक्तियों का महागम्भीर सागर, सहज सुख-शान्ति आदि अनन्त गुणरत्नों का भण्डार - ऐसा जो यह ज्ञायक भगवान आत्मा उसे पहिचान कर अन्तरस्वरूप में रमणता प्राप्त करना, वह चारित्र है। चारित्र अर्थात् प्रचुर स्वसंवेदन सहित निज स्वरूप में चरना, रमना, स्थिर हो जाना, भीतर अतीन्द्रिय आनन्द का आहार करना। अहा! ऐसी बात है भाई! यह बात जगत से बिलकुल भिन्न है। ●

(वचनामृत प्रवचन, 2/79)



गणधर भी जिन्हें वन्दन करते हैं

अज्ञानी कहता है कि चारित्र में कितना सहन करना पड़ता है? बहुत परीषह सहन करने पड़ते हैं, जैसे - गर्म पानी पीना, नङ्गे पैर चलना, रात्रि में आहार नहीं करना, देखकर चलना इत्यादि; इस प्रकार भगवान का मार्ग तो तलवार की धार जैसा अर्थात् दुःखरूप है, दूध के दाँत से लोहे के चने चबाने जैसा है।

बापू! तुझे पता नहीं है, तुझे सत्पुरुषों के चारित्र के स्वरूप की ज़बर नहीं है, ज्योंकि तूने तो चारित्र को दुःखरूप माना है। जबकि चारित्र तो सुखरूप दशा है। जहाँ अन्दर में स्वरूप की सज्यक् दृष्टि हुई, आनन्दमूर्ति आनन्द का धाम मेरी वस्तु है - ऐसा जहाँ अनुभव हुआ, वहाँ उसमें आनन्दमय रमणता होती है अर्थात् आनन्दसहित सुखाकार-स्थिरता होती है, वह चारित्र है और वह तो सन्तों की दशा ही है।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, प्रवचन-रत्न चिन्तामणि, ३/५६

उपयोग अन्दर गया सो गया....

जो केवलज्ञान प्राप्त कराये ऐसा अन्तिम पराकाष्ठा का ध्यान वह उत्तम प्रतिक्रमण है।

एक समय तीन काल और तीन लोक को प्रत्यक्ष जाने ऐसे केवलज्ञान को प्राप्त करानेवाला उच्च से उच्च ध्यान-निज पूर्णानन्द के नाथ को, ज्ञायक ध्रुव ध्येय को, ध्यान का विषय बनाकर परिणति का अन्तर में युक्त हो जाना – वह उत्तम प्रतिक्रमण है। अहा! इसका नाम उत्तम प्रतिक्रमण है। ‘तस्स भंते पडिकमामि.... मिच्छा म्मि दुक्कडं’ – ऐसे पाठ तो अनेक बार पढ़े; वह कोई प्रतिक्रमण नहीं है। जिससे केवलज्ञान प्राप्त हो ऐसा जो उत्तम ध्यान वही सच्चा उत्तम प्रतिक्रमण है। प्रतिक्रमण अर्थात् लौट आना। शुभाशुभ विभाव से लौटकर स्वरूप में ढल जाना-स्थिर हो जाना वह प्रतिक्रमण है। अरे! अभी तो प्रतिक्रमण किसे कहा जाता है उसकी भी खबर नहीं है। एक बार बोटाद में कहा था कि अनुभव वह तो कोई अद्भुत वस्तु है! यह सुनकर साथ रहनेवाले सम्प्रदाय के एक साधु कहने लगे कि अनुभव-बनुभव अपने जैन में नहीं होता, वेदान्त में होता है। अरे! साधु होकर भी अनुभव की खबर नहीं है, क्या किया जाए? स्वानुभूति ही जैन धर्म है, जैन धर्म के सिवा अन्यत्र कहीं सच्ची स्वानुभूति नहीं हो सकती। स्वरूप में ढल जाना अर्थात् स्वानुभूति ही सच्चा प्रतिक्रमण है। प्रतिक्रमण का स्वरूप नहीं जानते और बेचारे प्रातः सायं काल बाह्य क्रिया तथा राग की मजदूरी करके मिथ्यात्व का पोषण करते हैं। यहाँ तो कहते हैं कि पूर्ण स्वरूप भगवान ज्ञायक आत्मा के आश्रय से, केवलज्ञान प्राप्त कराये ऐसा जो ऊँचे से ऊँचा अन्तिम सीमा का ज्ञान वह उत्तम प्रतिक्रमण है।

इन महा मुनिराज ने ऐसा प्रतिक्रमण किया कि दोष पुनः कभी उत्पन्न नहीं हुए; ठेठ श्रेणी लगा दी कि जिसके परिणाम से वीतरागता होकर केवलज्ञान का सारा समुद्र उछल पड़ा!

परिपूर्ण आनन्द का भण्डार ऐसी अन्तिम-ऊँची बात ली है न! जिस प्रकार मक्खी मिश्री की डली पर बैठी और रस चूसने में चिपक गई-लीन हो गई, वैसे ही इन महा मुनिराज ने ऐसा प्रतिक्रमण किया-आनन्दकन्द निज भगवान ज्ञायक आत्मा में स्वरूपरमणता की ऐसी स्थिरता की कि दोष पुनः कभी उत्पन्न ही नहीं हुए, फिर विकल्प में आए ही नहीं और केवलज्ञान स्वरूप परिपूर्ण दशा प्राप्त कर ली। अहा! जिससे केवलज्ञान प्राप्त हो ऐसी स्वरूपस्थिरतारूप उग्र दशा को उत्तम प्रतिक्रमण कहते हैं। अरे! 'जैन' नाम धारण करके भी प्रतिक्रमण किसे कहते हैं यह नहीं जानते! प्रतिक्रमण क्या वस्तु है? यह बात लोगों ने अभी सुनी नहीं है फिर खबर कहाँ से हो? बिना खबर के भटकते फिरेंगे चार गतियों में। मुनिराज तो राग से विमुख होकर स्वरूप के ध्यान में ऐसे स्थिर-तल्लीन हो जाते हैं कि पुनः राग में आना होता ही नहीं और केवलज्ञान उत्पन्न हो जाता है। अहा! इसका नाम उत्तम प्रतिक्रमण है।

अनादि से जो एकाग्रता राग में और पुण्य में है वह तो रौद्रस्वरूप मिथ्या ध्यान है, जो ध्यानदशा पूर्णानन्दस्वरूप निज अखण्ड परमात्मा को, अतीन्द्रिय आनन्द से छलाछल भरे हुए निज ज्ञायकदेव को ध्याती है-ध्यान के विषयभूत बनाती है - उसे उत्तम प्रतिक्रमण कहा जाता है। उस दशारूप परिणमित मुनिराज स्वरूप में ऐसे स्थिर हो गये कि अब उनको दोष की-विकल्प की उत्पत्ति नहीं होगी। उन्होंने तो अब श्रेणी-स्वरूप की उग्र धारा लगा दी है कि जिसके परिणाम से पूर्ण वीतरागता होकर अन्तर से केवलज्ञान का सागर उमड़ पड़ा है! ज्ञान और आनन्दस्वरूप निज भगवान आत्मा में जो उग्र एकाग्रता की अप्रतिहत धारा चले उसे क्षपकश्रेणी कहते हैं। इन महा मुनिराज ने क्षपकश्रेणी लगा दी कि जिसके फलरूप से परिपूर्ण वीतरागता होकर केवलज्ञान का सम्पूर्ण समुद्र उमड़ पड़ा। अहा! यह उत्कृष्ट दशा की बात है।

भगवान आत्मा द्रव्यस्वभाव से ज्ञान का सागर है, आनन्द का उदधि, प्रभुता का

पिण्ड, शान्ति का सागर है; उसके प्रति ध्यान की अप्रतिहत धारा चलने से भीतर पर्याय में ज्वार आकर केवलज्ञान का पूर्ण महासागर उमड़ पड़ा; द्रव्य में शक्तिरूप से जैसा परिपूर्ण है वैसी भीतर पर्याय में पूर्णता का ज्वार आया। अरे! अभी तो अनेकों को श्रद्धा क्या? सम्यक्त्व क्या? उसकी भी खबर नहीं है; देव-शास्त्र-गुरु को मानो वह सम्यक्त्व! परन्तु भाई! ऐसा तो अनन्तबार माना है, वह तो शुभराग है। छह द्रव्य और नव तत्त्व के भेद को मानो वह भी राग है। एक अभेद ध्रुवज्ञायक ऐसा जो निज परमात्मतत्त्व - जिसके समक्ष सिद्ध पर्याय भी मूल्यवान नहीं है ऐसा जो पूर्णानन्द का नाथ, वह भी जैसा जिनेश्वरदेव ने कहा है वैसा उसे ध्यान का विषय बनाने से केवलज्ञान प्रगट होता है, भगवान आत्मा पर्याय में केवलज्ञान के समुद्ररूप से उमड़ता है। सर्वज्ञशक्ति उछलकर पर्याय में सर्वज्ञदशा होती है।

अन्तर्मुखता तो अनेक बार हुई थी परन्तु यह अन्तर्मुखता तो अन्तिम से अन्तिम कोटि की!

परिणति श्रद्धा-अपेक्षा से अन्तर्मुख तो सम्यग्दर्शन होते ही हो जाती है, यहाँ तो स्थिरता अपेक्षा की अन्तर्मुखता का कथन है। अन्तर में जो त्रिकालशुद्ध ज्ञायक प्रभु है उसकी दृष्टि होकर, मुनिराज को उस ओर स्थिरतारूप लीनता-अन्तर्मुखता बारम्बार हुई परन्तु यह लीनता तो ऐसी उत्कृष्ट हुई कि जिसके फलरूप पूर्ण वीतरागता प्रगट होकर केवलज्ञान का ज्वार आ गया! पहले अन्तर्मुखता तो अनेकों बार हुई थी परन्तु उसमें पूर्णरूप से स्थिरता नहीं हो पाती थी इसलिए वृत्ति पुनः बाहर आ जाती थी। अब यह अन्तर्मुखता तो ऐसी हुई अन्तिम से अन्तिम कोटि की!

आत्मा के साथ पर्याय ऐसी जुड़ गई कि उपयोग अन्दर गया सो गया, फिर कभी बाहर आया ही नहीं।

अहा! आत्मा क्या वस्तु है भाई! साक्षात् ध्रुव परमात्मस्वरूप, द्रव्यस्वरूप, जिनस्वरूप जो निज त्रिकालशुद्ध ज्ञायकतत्त्व है वही 'आत्मा' है। उसके साथ उसकी वर्तमान साधनारूप पर्याय ऐसी जुड़ गई, ऐसी जुड़ गई कि उपयोग भीतर सो गया, फिर कभी बाहर आया ही नहीं। उपयोग ने अन्तर्मुख होकर आत्मा की ऐसी सेवा की, ज्ञायक की ऐसी

उपासना की कि वह कभी पीछे हटा ही नहीं, चलित नहीं हुआ। दशा दशावान के साथ ऐसी जुड़ गई कि फिर विकल्प में आयी ही नहीं। जिसका उपयोग भीतर ही भीतर स्थिर हो जाए उसे केवलज्ञान और सिद्धपद होता है, उसका उपयोग कभी बाहर आता ही नहीं।

चैतन्यपदार्थ को जैसा ज्ञान में जाना था, वैसा ही उसको पर्याय में प्रसिद्ध कर लिया।

जिसका स्वभाव ध्रुव ज्ञायक है ऐसा यह आत्मा अनादि से क्षणिक पर्याय के खेलों में लगा है परन्तु विनाशशील वर्तमान पर्याय के पीछे जो अनन्त महिमावन्त त्रिकालशुद्ध निज ज्ञायक ध्रुव द्रव्य सदा सामर्थ्य भरपूर पड़ा है उसे अज्ञान के कारण, वहाँ नहीं दिखता। ज्ञानी जीव ने तो ज्ञानादि अनन्त सामर्थ्य से भरपूर ऐसे निज चैतन्य पदार्थ को ज्ञान में जैसा जाना था वैसा ही उसे वर्तमान पर्याय में प्रसिद्ध-प्रगट कर लिया है। अहा! यह पैरा तो बहुत ही ऊँचा है।

कोई दया, दान, व्रत, तपादि बाह्य क्रिया से या शुभराग से नहीं किन्तु वर्तमान ज्ञान की पर्याय में त्रैकालिक ध्रुव चैतन्यपदार्थ का यथार्थ ग्रहण और उसमें लीनता करने से वह, पर्याय में परिपूर्ण प्रसिद्ध हुआ है। जैसी परिपूर्ण आत्मवस्तु है वैसी जानकर अन्तर में ध्यान लगाने से वह वर्तमान पर्याय में प्रसिद्ध हो गई। पूर्ण आत्मख्याति हुई उसका नाम केवलज्ञान और मोक्ष है। मनुष्यपना या उत्तम संहनन है, इसलिए केवलज्ञान होता है वह बात उड़ गई। पूर्णानन्दस्वरूप चैतन्यपदार्थ को ज्ञान में जैसा है वैसा ग्रहण करके उसमें ध्यान की धारा लगाने से केवलज्ञान होता है, चैतन्यपदार्थ पर्याय में पूर्णरूप से प्रसिद्ध होता है-प्राप्त होता है। पूर्णता प्रगट कहाँ से हुई? अन्तर में स्वभाव था उसके आश्रय से। अहा! यह बात उच्च प्रकार की है। ● [वचनमृत प्रवचन, भाग-4 (बहिनश्री के वचनमृत, वचनमृत ४०२), पृष्ठ-242]



नित्यानन्दस्वरूप में स्थिरता ही परीषहजय

(१) क्षुधा-परीषहजय — शरीर, जड़ है; क्षुधा, जड़ की पर्याय है और मैं उसको जाननेवाला हूँ। क्षुधा, जड़ को होती है; जीव को नहीं। क्षुधा लगते समय जो द्वेषभाव होता है, वह पापभाव है। निज शुद्ध चिदानन्दस्वरूप के अवलम्बन से क्षुधा-काल में द्वेषभाव नहीं होने देना और स्वभाव की एकाग्रता करना, क्षुधा-परीषहजय है।

(२) तृषा-परीषहजय — तृषा, जड़ की पर्याय है, मेरी नहीं। मैं ज्ञानानन्दस्वभावी आत्मा हूँ — ऐसे भानपूर्वक तृषा-काल में द्वेष की उत्पत्ति न होने देना ही तृषा-परीषहजय है।

प्रश्न — स्तम्भ को तो तृषा लगती नहीं है, आत्मा को ही तृषा लगती दीखती है ?

उत्तर — आत्मा को तृषा नहीं लगती, शरीर को लगती है; उसे आत्मा जानता है। तृषा-काल में तृषा का दुःख तो पाप है, शुभराग द्वारा उसका समाधान करना पुण्य है और स्वभाव के अवलम्बन से तृषा की ओर का विकल्प भी न होने देना, तृषा-परीषहजय है।

(३) शीत-परीषहजय — शीत, जड़ की अवस्था है, वह आत्मा को नहीं लगती। एक पण्डितजी कहते थे कि प्रतिकूलता का आना परीषह है और पश्चात् उस परीषह को टालना परीषहजय है परन्तु यह बात झूठी है। वास्तविकता तो यह है कि स्वभाव के अवलम्बन से प्रतिकूलता के निमित्त की तरफ झुकाव नहीं होने देना और शुद्धता प्रगटाना ही परीषहजय है। जब विकल्प हो ही गया तो टाले कैसे ? अतः आत्मज्ञान होने के उपरान्त वृत्ति को स्वभावसन्मुख स्थिर रखना और विकल्प नहीं होने देना, परीषहजय है।

प्रतिकूलता के निमित्त दुःख उत्पन्न नहीं करते हैं, अपने कारण से ही दुःख उत्पन्न होता है; इसलिए जिस जीव को 'शान्ति मेरा स्वरूप है' — ऐसा ज्ञान हुआ हो और 'सिद्ध की जाति ही मेरी जाति है' — ऐसी अन्तर्मुख दृष्टि द्वारा स्थिरता हुई हो, वही परीषहजय कर सकता है, वही शान्ति प्राप्त कर सकता है।

(४) उष्ण-परीषहजय — अनुकूलता के रागवाला जीव ऐसा मानता है कि गर्मी बहुत लगती है परन्तु अरे भाई! प्रत्येक जीव ने नरक की असह्य गर्मी सहन की है। यदि तुझसे थोड़ी-सी प्रतिकूलता भी सहन नहीं होती तो फिर जब बहुत सारी प्रतिकूलता आयेगी, तब क्या करेगा? मुनिराज गर्मी के अवसर में आत्मा के भानपूर्वक, गर्मी के प्रति द्वेष न करके अन्तर्स्थिरता करते हैं — यही उष्ण-परीषहजय है।

(५) दंशमशक-परीषहजय — सर्प, कुत्ता, मच्छर वगैरह काटते हैं परन्तु वे आत्मा को तो काटते ही नहीं, पर शरीर को भी छूते नहीं हैं। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को स्पर्श नहीं करता है। मच्छर, शरीर को काटता है — यह निमित्त का कथन है। मच्छर के काटनेरूप निमित्त के समय चैतन्यस्वभाव के सन्मुख होना, दंशमशक-परीषहजय है। आत्मा का निर्णय तो कर रखा है परन्तु पश्चात् ऐसे अवसर में भी शान्ति रखना और स्वभाव में स्थिरता करना, परीषहजय है।

(६) नग्नता-परीषहजय — मुनि, नग्न दिगम्बर होते हैं। आत्मा के भानपूर्वक वीतरागदशा होने पर उनके शरीर की नग्नदशा हो जाती है। २८ मूलगुणों में भी नग्नता नाम का एक मूलगुण है परन्तु यहाँ उसकी बात नहीं है, यहाँ तो नग्नता-परीषहजय की बात है। ज्ञानानन्दस्वभावी आत्मा का ज्ञान रखनेवाले मुनि को छठवें गुणस्थान से नग्नदशा होती है। मैं नग्न होऊँ — ऐसा विकल्प पुण्य है; नग्नदशा के समय खेद न होने देना और स्वभाव की एकाग्रता करके तत्सम्बन्धी विकल्प भी न होने देना, नग्नता-परीषहजय है।

(७) अरति-परीषहजय — अरति अर्थात् दुःख। प्रतिकूल संयोगों में या अकेला होने पर आत्मभान के बल से खेद उत्पन्न न होने देना, अरति-परीषहजय है। आत्मा अनादिकाल से अकेला ही है। शरीरादि परद्रव्य हैं। राग भी एक जैसा नहीं रहता; कभी किसी जाति का, कभी किसी जाति का — इस प्रकार निरन्तर बदलता रहता है और

जब राग की ही यह स्थिति है तो परपदार्थों का क्या कहना ? इस प्रकार स्वभाव का भान करके खेदखिन्न नहीं होना अरति-परीषहजय है ।

(८) स्त्री-परीषहजय — मुनिपना पुरुष को ही होता है, स्त्री को नहीं; इसलिए मुनिराज को स्त्री-परीषह कहा है । कोई अप्सरा या अन्य स्त्री, मुनि को डिगाने के लिए हाव-भाव करे तो भी आत्मा के आनन्द में रहते हुए स्त्री के प्रति रागभाव न होने देना, स्त्री-परीषहजय है ।

(९) चर्या-परीषहजय — मुनिराज को विहार करने में थकान होने पर भी वे उस तरफ लक्ष्य नहीं करते, क्योंकि वे जानते हैं कि थकान शरीर को लगती है, मुझे नहीं तथा ऐसा भान होने से उन्हें थकान का दुःख नहीं लगता; शान्ति रहती है, यही चर्या या गमन परीषहजय है ।

(१०) निषद्या-परीषहजय — मुनिराज एक आसन से बैठते हैं । खड़े-खड़े पाणिपात्र / करपात्र में आहार लेते हैं । एक आसन से बैठने पर भी वे दुःखी नहीं होते, क्योंकि अन्तर में आत्मा को स्थिर करते हैं, अपने में शुद्धता बढ़ाते हैं — यह निषद्या-परीषहजय है ।

(११) शय्या-परीषहजय — कङ्करवाले स्थान में एक करवट से निद्रा लेना तथा अनेक उपसर्ग आने पर भी शरीर को चलायमान न करना और अन्तर में स्थिरता बढ़ाना, शय्या-परीषहजय है ।

(१२) आक्रोश-परीषहजय — कोई व्यक्ति, मुनि का अनादर करे, काँटे जैसे चुभनेवाले निन्दा के वचन कहे तो भी मुनिराज विचार करते हैं — मैं ज्ञानानन्दस्वभावी आत्मा हूँ; गाली आदि कटुवचन मुझे छूते भी नहीं है । हम तो मात्र जाननेवाले हैं, प्रशंसा या निन्दा करनेवाला अपने भावों का कर्ता है, वह हमें गाली नहीं देता — इस प्रकार आत्मभानपूर्वक निन्दा के वचनों के प्रति द्वेष न होने देना, आक्रोश-परीषहजय है ।

(१३) वध-परीषहजय — कोई मुनिराज के शरीर को जलाए अथवा काटे, उस समय भी वे आत्मा को शरीर से भिन्न जानते हैं । गजकुमार मुनिराज के मस्तक पर अग्नि जलायी गयी तो भी उन्हें आत्मा का भान और वीतरागता वर्तती थी । कोई वध करे तो भी

उसके प्रति द्वेष नहीं होता; बल्कि आत्मा में स्थिरता से शुद्धि की वृद्धि होती जाती है, यही वध-परीषहजय है।

(१४) याचना-परीषहजय — मुनिराज आहार की याचना नहीं करते, मौन रहकर भिक्षा / आहार लेने जाते हैं; उनके रोम-रोम में वैराग्य होता है। निर्दोष आहार सहज मिले तो लेते हैं, सामनेवाले से याचना नहीं करते। क्षुधा लगने पर जङ्गल से गाँव में आकर जैसा निर्दोष आहार मिलता है, उसे लेकर चले जाते हैं। बारह माह का उपवास हो तो भी निर्दोष आहार मिलने पर ही लेते हैं परन्तु याचना नहीं करते, यही याचना - परीषहजय है।

(१५) अलाभ-परीषहजय — मुनिराज को आहार-पानी का लाभ न मिले, शिष्यादि का लाभ न मिले तो वे उसका खेद नहीं करते; अन्तर में वीतरागता बढ़ाते हैं, यही अलाभ-परीषहजय है।

(१६) रोग-परीषहजय — मुनिराज रोग के परीषह को जीतते हैं, उन्हें शरीर के रोग का खेद नहीं होता। रोग तो शरीर की पर्याय है। दस्त लगना, उल्टी होना — यह सब देह की स्थिति है। आत्मा में रोग नहीं होता। मुनिराज ने आत्मभ्रान्तिरूपी रोग को दूर कर दिया है, उन्हें आत्मा का भान और वीतरागता वर्तती है। रोग के प्रति द्वेष न होने देना तथा स्वभाव के बल से शुद्धि की वृद्धि होना, रोग-परीषहजय है।

(१७) तृणस्पर्श-परीषहजय — मुनिराज को जङ्गल में विहार करते समय कङ्कर, तृण, लकड़ी आदि चुभ जाते हैं परन्तु वे उससे दुःखी नहीं होते। वे नङ्गे पैर जङ्गल में विहार करते हैं। गोबर, कङ्कर, काँटे आदि चुभते हैं तो भी वे उसे सहन करते हैं अर्थात् उनके निमित्त से द्वेष नहीं होने देते; वीतरागता बढ़ाते हैं, यही तृणस्पर्श-परीषहजय है।

(१८) मल-परीषहजय — दीक्षा लेने के बाद मुनिराज स्नान नहीं करते। ज्येष्ठ माह की कड़ी धूप में पसीने से शरीर पर मैल जम गया हो तो भी मुनिराज आनन्द में मस्त रहते हैं। वे समझते हैं कि शरीर, मल से भरा हुआ है लेकिन हम तो निर्मल आत्मा हैं। मुनिराज शरीर के मैल से दुःखी नहीं होते। कोई राजकुमार दिन में तीन बार स्नान करता हो, परन्तु वह मुनि होने के बाद स्नान नहीं करता; आनन्दकन्द आत्मा में झूलता है। निर्मल

स्वभाव का प्रेम होने पर मल के प्रति द्वेष नहीं होना, मल-परीषहजय है।

(१९) सत्कारपुरस्कार-परीषहजय — कोई व्यक्ति मुनि को आगे बैठने के लिए नहीं कहे अथवा आदर नहीं करे तो भी मुनिराज खेद नहीं करते हैं और आत्मा के ज्ञानानन्दस्वरूप में रमते हैं। कोई मुनि बड़े ज्ञानी-ध्यानी हों, द्वादशाङ्ग के ज्ञाता हों, फिर भी यदि कोई उन्हें अग्रगण्य न माने तो वे दुःखी नहीं होते और ऐसा समझते हैं कि चिदानन्द आत्मा में तो हम अग्रसर हैं ही। कोई सत्कार न करे और ऊँचे आसन पर न बिठावे तो भी मुनि को 'मैं तो मोक्ष की ओर अग्रसर होकर जा ही रहा हूँ' — ऐसे भानपूर्वक स्थिरता होने से खेद नहीं होता — यही सत्कारपुरस्कार-परीषहजय है।

(२०) प्रज्ञा-परीषहजय — बहुत ज्ञान होने पर भी मुनि गर्व नहीं करते और वे सोचते हैं कि कहाँ तो धर्मवीर चार ज्ञान के धारी गणधरदेव और कहाँ मैं? अपना क्षयोपशम बहुत हो तो भी केवलज्ञान के सामने मेरे ज्ञान की क्या गिनती है? ऐसा समझकर गर्व नहीं करते और शान्ति रखते हैं — यही प्रज्ञा-परीषहजय है।

(२१) अज्ञान-परीषहजय — यहाँ अज्ञान का आशय विपरीतज्ञान नहीं, अपितु अल्पज्ञान समझना चाहिए। किसी मुनि को विशेष क्षयोपशम न हो तो भी वे शान्ति रखते हैं। इतना चारित्र पालने पर भी मुझे क्यों नहीं अधिक ज्ञान होता है? — ऐसा विचार नहीं करते हैं। उन्हें प्रयोजनभूत ज्ञान तो होता ही है। शिवभूति मुनि को 'माष-तुष' शब्द भी याद नहीं रहे, परन्तु 'चिदानन्द आत्मा विकार से रहित है' — ऐसा जानकर स्वरूप में स्थिरता की और केवलज्ञान प्राप्त कर लिया। इस प्रकार ज्ञान की हीनता का खेद नहीं होने देना और वीतरागता बढ़ाना ही अज्ञान-परीषहजय है।

(२२) अदर्शन-परीषहजय — प्रतिकूलता के कारण वे मुनिराज अपनी श्रद्धा में परिवर्तन नहीं होने देते हैं। सब कुछ है, इहलोक-परलोक है, जीव है इत्यादि ज्यों का त्यों श्रद्धान करते हैं; अश्रद्धा का भाव नहीं होने देते हैं तथा अन्तर में वीतरागता बढ़ाते हैं, यही अदर्शन-परीषहजय है।

इस प्रकार बाईस प्रकार के परीषहजय का स्वरूप जानना चाहिए।

उन क्षुधादि वेदनाओं का तीव्र उदय होने पर भी सुख-दुःख, जीवन-मरण,

लाभ-अलाभ, निन्दा-प्रशंसा आदि में समतारूप परम सामायिक नये शुभाशुभ कर्मों का संवर करने में और पूर्व शुभाशुभ कर्मों की निर्जरा करने में समर्थ है; उसके द्वारा निज परमात्मभावना से उत्पन्न निर्विकार, नित्यानन्द लक्षण, सुखामृत के अनुभव से चलित न होना, परीषहजय है।

यहाँ संवर के भेदरूप परीषहजय का वर्णन चल रहा है। संवर, आत्मा का धर्म है। परीषहजय में समता है। जब तक यह जीव पुण्य भला और पाप बुरा — ऐसा मानता है, तब तक धर्म नहीं होता। शरीर की क्रिया से धर्म होता है अथवा इन्द्रियाँ ठीक हों तो ही धर्म होता है — ऐसी मान्यता विषमभाव है। इसके रहते हुए समभावरूप सामायिक, प्रतिक्रमण, संवर अथवा सच्ची तपश्चर्या नहीं होती है। शरीर अनुकूल हो तो धर्म होता है — ऐसा माननेवाले को पुण्य की रुचि है और वह मिथ्यात्व की भावना है; अतः ऐसे जीव को शुद्धभाव की सच्ची जानकारी नहीं होती है।

अनुकूलता-प्रतिकूलता में इष्ट-अनिष्टपना नहीं मानना तथा 'शुभाशुभ, दोनों भाव विकार हैं और मैं उनका जाननेवाला हूँ' — ऐसा जानना ही सामायिक है। जो अनुकूलता में राग और प्रतिकूलता में द्वेष नहीं करता है अपितु समताभाव धारण किये रहता है, उसे ही सामायिक होती है।

यदि देह का जीवन सौ-पचास वर्ष का हो तो हर्ष नहीं और अभी मरणकाल हो तो द्वेष नहीं। देह तो संयोगी चीज है, वह मेरा स्वरूप नहीं है। मेरा स्वरूप तो ज्ञानानन्द है — ऐसे भानपूर्वक समताभाव रखना ही सामायिक है। दुनिया में यश हो अथवा अपयश हो, परन्तु वह मेरी चीज नहीं है; जड़ की दशा है, मैं तो उसका जाननेवाला हूँ — ऐसा समझकर अन्तर में एकाग्र होना ही सामायिक है।

जिसे अभी सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की ही खबर नहीं है, उसे सामायिक नहीं होती है। सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की पहिचान करने के बाद पुण्य-पाप के भाव में समान बुद्धि रखकर, ज्ञान में एकाग्र होने को सामायिक कहते हैं।

शुद्धस्वभाव में एकाग्र होना लाभ है और शुभाशुभभाव का ध्यान करना अलाभ है — ऐसा माने बिना अन्तर में प्रवेश किया ही नहीं जा सकता है। आत्मा, ज्ञानानन्दस्वभावी

है — ऐसी दृष्टि होने के पश्चात् ही समताभाव आता है, जो कि शुभाशुभ कर्मों को रोकता है तथा पुराने कर्मों की निर्जरा करता है।

मैं परपदार्थों का ज्ञाता हूँ और परपदार्थ ज्ञेय हैं। कोई भी परपदार्थ हितकारी या अहितकारी नहीं है। साँप का काटना अनिष्ट नहीं है और चन्दन का लेप करना इष्ट नहीं है — इस प्रकार समताभाव रखना ही सामायिक है।

निज परमात्मा के श्रद्धान, ज्ञान व एकाग्रता से उत्पन्न होनेवाले, विकाररहित नित्यानन्दस्वरूपी सुधामृत के ज्ञान से चलायमान नहीं होना ही परीषहजय है।

भूख लगती रहने पर भोजन नहीं करना, परीषहजय नहीं है अपितु नित्यानन्दस्वभाव में स्थिरता रखकर निराकुल आनन्द से नहीं खिसकना और वीतरागदशा बने रहना ही परीषहजय है। ● (वृहद्द्रव्यसंग्रह प्रवचन, भाग-२, पृष्ठ १४८-१५४ से साभार सङ्कलित अंश)

(बाईस प्रकार के परीषहजय का निश्चयस्वरूप दर्शानेवाला
पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के मङ्गल प्रवचन)

धर्म के स्तम्भ : आचार्यदेव

अहो! महान सन्त-मुनिवरो ने जङ्गल में रहकर आत्मस्वभाव का अमृत बहाया है। आचार्यदेव धर्म के स्तम्भ हैं, जिन्होंने पवित्र धर्म को टिकाए रखा है, गजब का काम किया है। साधकदशा में स्वरूप की शान्ति का वेदन करते हुए परिषहों को जीतकर परम सत् को जीवन्त रखा है। आचार्यदेव के कथन में केवलज्ञान की झङ्कार आती है। महान शास्त्रों की रचना करके बहुत जीवों पर अमाप उपकार किया है। रचना तो देखो! पद -पद में कितना गजभीर रहस्य भरा है! यह तो सत् की प्रसिद्धि है, इसकी समझ में तो मुक्तिरमा के वरण करने का श्रीफल है अर्थात् समझनेवाले को मोक्ष ही है।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, दृष्टि ना निधान, बोल १२१

संवर की कारण : बारह भावना

अध्रुवभावना — द्रव्यार्थिकनय से देखा जाए तो आत्मा टंकोत्कीर्ण ज्ञायक एकरूप स्वभाववाला है, अविनाशी है, एक है, ध्रुव है और रागादि परिणाम अध्रुव हैं। अशुद्धनिश्चयनय से आत्मा की पर्याय में होने से रागादि अपने हैं परन्तु अध्रुव हैं। जिस भाव से तीर्थङ्कर नामकर्म बँधता है, वह भाव भी अध्रुव है; आत्मा के साथ कायम नहीं रहता, इसलिए अध्रुव है।

अनुपचरित-असद्भूतव्यवहारनय से ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म, शरीरादि नोकर्म और स्व-स्वामी सम्बन्ध से अपनत्व किये गये परपदार्थ — स्त्री, पुत्र, कुटुम्बीजन आदि चेतनद्रव्य तथा सोना, चाँदी, मकान आदि अचेतनद्रव्य तथा चेतन व अचेतन से मिले हुए मिश्र पदार्थ इत्यादि सभी अध्रुव हैं।

अज्ञानी जीव, गाय, भैंस, मकान आदि को अपना मानता है परन्तु वे आत्मा के नहीं हैं तथा आत्मा ने भी इन्हें ग्रहण नहीं किया, किन्तु अज्ञानी मानता है कि 'ये मेरे हैं।' भगवान आत्मा तो ज्ञानस्वभावी एक ध्रुव वस्तु है; दूसरी चीजें अध्रुव हैं। इस प्रकार अन्य चीजों की अध्रुवता का विचार करने पर स्व-तरफ ढलान होता है, एकाग्रता होती है; वही संवर की कारणरूप अध्रुव / अनित्यभावना है।

आत्मा के आश्रय से उत्पन्न होनेवाली निर्विकारी पर्याय एक समय की है; अतः क्षणिक है — ऐसा होने पर भी उसे अध्रुवता में नहीं लिया गया है क्योंकि वह शुद्ध आत्मा के साथ अभेद की गणना में आ जाती है।

वास्तव में ज्ञानी को अविनाशी निज परमात्मा का परिचय होने से अर्थात् आश्रय होने से, बाह्य पदार्थों की अनित्यता भासित होती है; इसलिए उन पदार्थों में ममत्व नहीं

होता तथा अपने अविनश्वर आत्मा की भावना होने से वह अक्षय अविनाशी सुखरूप मुक्तदशा को प्राप्त करता है ।

जब श्रीकृष्ण-वासुदेव का पुण्य क्षीण हुआ, तो भाग्य पलट गया । द्वारिकानगरी भट्टी के समान जलने लगी, पानी तेलरूप हो गया, अग्नि जोर से धधकने लगी, सारा संयोग पलट गया । भाई ! ये सारे पदार्थ अध्रुव हैं, अनित्य हैं । शुद्ध चैतन्यस्वभावी आत्मा ही ध्रुव है — ऐसी भावना भाने से, कभी नाश न होनेवाला अविनाशी सुख प्राप्त होता है ।

अशरणभावना — अपने आश्रय से प्रगट हुई सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की परिणतिवाला आत्मद्रव्य निश्चय से शरणरूप है और बहिरङ्ग सहकारी कारण पञ्च परमेष्ठी की आराधना व्यवहार से शरणरूप है । सम्यग्दृष्टि को विकल्प के समय पञ्च परमेष्ठी के प्रति लक्ष्य जाता है । अशुभ से बचने के लिए शुभभाव आता है; इसलिए व्यवहार से उन्हें शरण कहा है ।

इन्द्र, चक्रवर्ती, सुभट, पुत्र आदि चेतन पदार्थ तथा पर्वत, किला, मणि, मन्त्र, भवन, औषध आदि अचेतन पदार्थ तथा मिश्र पदार्थ — ये सब जीव के शरणभूत नहीं हैं । अरे ! ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती को भी मरते समय १६ हजार देव, ९६ हजार स्त्रियाँ इत्यादि कोई शरण नहीं हुए ।

जिस प्रकार महाभयानक जङ्गल में बाघ के द्वारा पकड़े गये हिरण को बचाने के लिए कोई शरण नहीं है तथा महासमुद्र में जहाज से उड़े हुए पक्षी को कहीं शरण नहीं है; उसी प्रकार इस जगत में रोग मिटाने के लिए अथवा मृत्यु से बचाने के लिए कोई शरण नहीं है ।

अहाहा ! धर्मी जीव ऐसी भावना भाते हैं कि जगत में कोई शरण नहीं है । अखण्ड आत्मा की भावना करने के अलावा अन्य सभी पदार्थ अशरणरूप हैं । अन्य वस्तु को अशरण जानकर, भोगों की वांछारूप निदानबन्ध आदि से रहित होकर तथा अपने आत्मज्ञान से उत्पन्न सुखरूप अमृत का धारक सम्यग्दृष्टि जीव, निज शुद्ध आत्मा का अवलम्बन लेकर ऐसी भावना भाते हैं । जो जीव अपने आत्मा को शरणभूत जानकर भावना भाते हैं, वे जीव वज्र की दीवाल के समान सुरक्षित शुद्ध आत्मा को प्राप्त करते हैं अर्थात् पूर्ण सिद्धदशा को पाते हैं ।

संसारभावना — जीव के संसार-परिभ्रमण का वर्णन पाँच रूपों में करते हैं — द्रव्यसंसार, क्षेत्रसंसार, कालसंसार, भवसंसार तथा भावसंसार। इनमें सर्व प्रथम द्रव्य संसार का वर्णन करते हैं।

(क) **द्रव्यसंसार** — आत्मा, शुद्ध निर्मलानन्द है तथा ग्रहण किये हुए, ग्रहण नहीं किये हुए और मिश्र — ऐसे समस्त पुद्गल परमाणु आत्मा से भिन्न हैं। जीव के द्वारा ग्रहण किये हुए परमाणुओं से, ग्रहण नहीं किये हुए परमाणु अनन्तगुने हैं, जिन्हें जीव ने आज तक न तो ग्रहण किया है और न ही ग्रहण करेगा।

जीव ने ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म तथा शरीरादि के पोषण के लिए भोजन-पानी आदि पाँच इन्द्रियों के विषयरूप अनन्त पुद्गल परमाणुओं को अनन्त बार ग्रहण किया है। अपने स्वभाव का सम्बन्ध छोड़कर पुद्गल परमाणुओं से सम्बन्ध किया, परन्तु स्वभाव का सम्बन्ध नहीं किया — ऐसे जीवद्रव्य के संसार परिभ्रमणरूप संसारभावना का विचार ज्ञानी करते हैं।

(ख) **क्षेत्रसंसार** — स्व-आत्मा के असंख्य प्रदेश अपना क्षेत्र है। उसमें अनन्त गुण विद्यमान हैं। उसकी भावना छोड़कर, इस जीव ने चौदह ब्रह्माण्ड के क्षेत्र में अनन्त बार परिभ्रमण किया है। इस लोक के असंख्य प्रदेश हैं, यह जीव उसके एक-एक प्रदेश में जन्मा और मरा। कोई भी प्रदेश खाली नहीं है, जिसमें यह अनन्त बार जन्म या मरण को प्राप्त न हुआ हो।

अज्ञानी जीव को परक्षेत्र की महिमा आती है। महाविदेह की महिमा आती है, क्योंकि वहाँ से मोक्ष जाते हैं और पञ्चम काल होने से भरतक्षेत्र से नहीं जाते, परन्तु भाई! महाविदेहक्षेत्र में भी अनन्त बार जन्म लिया है, इसलिए परक्षेत्र की महिमा छोड़कर जो तेरा असंख्यप्रदेशी आत्मा है, उसकी महिमा कर।

(ग) **कालसंसार** — अपने शुद्ध आत्मा के अनुभवरूप निर्विकल्प समाधिकाल, वह स्वकाल है। इस स्वकाल की प्राप्ति के बिना जीव दश कोड़ाकोड़ी सागरप्रमाण उत्सर्पिणी काल और दश कोड़ाकोड़ी सागरप्रमाण अवसर्पिणी काल में अनन्त बार जन्मा तथा मरा है। इस प्रकार के अनेक परावर्तन काल में ऐसा कोई समय नहीं है, जिसमें यह

जीव अनन्त बार जन्मा और मरा न हो; इसलिए बाह्य काल की दृष्टि छोड़कर अपना स्वकाल ही वास्तविक काल है, उस पर दृष्टि करना चाहिए।

(घ) भवसंसार — अपने शुद्ध आत्मा की श्रद्धा तथा स्वसंवेदन ज्ञानपूर्वक ध्यान के बल से निज आत्मा की प्राप्तिरूप लक्षणवाली सिद्धगति प्राप्त होती है। किसी व्यवहार या क्रियाकाण्ड से सिद्धगति की प्राप्ति नहीं होती तथा उस गति को प्राप्त किये बिना अर्थात् 'अपना आत्मा शुद्ध चैतन्यमय भगवान है' — ऐसी भावना किये बिना, भव का अभाव नहीं हो सकता, सच्चा सुख प्राप्त नहीं हो सकता।

अहो! अपने शुद्ध आत्मा की भावना ही भव का नाश करनेवाली है। इस जीव ने उस भावना से रहित होकर मिथ्यात्व राग-द्वेष आदि भाव करके मनुष्य, तिर्यञ्च आदि भव अनन्त बार धारण किये; इसलिए भव के अभाव के लिए निज शुद्धात्मा की भावना करना योग्य है।

(ङ) भावसंसार — जो कषाय और योग, बन्ध के कारण हैं, आत्मा उनसे रहित शुद्ध है; उसका ज्ञान तथा श्रद्धान नहीं किया। जिससे कर्म बँधते हैं — ऐसे भाव अनन्त बार किये हैं। पुण्यभाव, व्यवहाररत्नत्रय के भाव, दया-दान के भाव, मुनि को आहार देने के भाव तथा जिस भाव से भोगभूमि में उत्पन्न हो — ऐसे भाव अनन्त बार किये। फलस्वरूप उत्कृष्ट देव भी हुआ, परन्तु ये सभी भाव, संसार के कारण हैं।

संसारभावना का विचार करनेवाला निजशुद्धात्मा की भावना भाता है क्योंकि अपने शुद्ध आत्मा का श्रद्धान-ज्ञान करना ही संसार के नाश का कारण है। ऐसी सम्यक्श्रद्धा एवं सम्यग्ज्ञान के नाश करनेवाले अर्थात् संसार की वृद्धि के कारणभूत मिथ्याश्रद्धान; अशुभभाव, स्वरूप की असावधानी के भाव, क्रोध, मान, माया, लोभ और योग के परिणाम, धर्मी जीव नहीं करता है। वह संसार-सुख से विलक्षण अपने आत्मा के आनन्द और सुख में तत्पर होकर निज शुद्ध आत्मा के ज्ञान के बल से संसार का नाश करनेवाली अपने परमात्मस्वरूप आत्मा की भावना करता है और उससे परमात्मदशा प्राप्त करता है अर्थात् वह संसारदशा से विलक्षण मोक्षदशा में अनन्त कालपर्यन्त निवास करता है।

गोम्मटसार में आता है कि ऐसे अनन्त जीव हैं, जिन्होंने अभी तक त्रसपर्याय

अर्थात् द्वि-इन्द्रिय से पञ्चेन्द्रियपना प्राप्त किया ही नहीं है, वे जीव तीव्र अशुभभाव कर रहे हैं, इस कारण निगोद से बाहर निकले ही नहीं हैं। कर्म के उदय के कारण जीव, निगोद में रहते हों — ऐसा नहीं है परन्तु तीव्र अशुभपरिणाम की प्रचुरता के कारण निगोद में रहते हैं।

वस्तु में प्रत्येक समय अपनी योग्यता के अनुसार परिणमन होता है। वस्तु त्रिकाल है, उसमें प्रत्येक समय परिणमन होता है; परिणमन बिना वस्तु नहीं रहती है। निगोद में अधिक-हीन परिणमन अपने कारण से है। भरत चक्रवर्ती के पुत्र पूर्वभव में इन्द्रगोप हुए तो अपने कारण से हुए एवं राजकुमार हुए तो अपने कारण से हुए।

वे राजकुमार मिथ्यात्वसहित अवतरित हुए, परन्तु जन्म के बाद बोले ही नहीं; मूक ही रहे। पुत्रों के मूक होने के कारण भरत ने भगवान से पूछा — 'हे भगवान! ये मेरे पुत्र मूक क्यों हैं? मैं इतना पुण्यशाली और मेरे पुत्र मूक क्यों हैं?' भगवान की ओंकारध्वनि में जवाब के रूप में पिछले भव का वृत्तान्त आया कि पूर्व में ये पुत्र नित्यनिगोद में थे, वहाँ से निकलकर इन्द्रगोप हुए और तुम्हारे हाथी के पैर के नीचे कुचलने पर भी कषाय की मन्दतापूर्वक मरण को प्राप्त हुए, वहाँ से चयकर तुम्हारे यहाँ राजकुमार हुए हैं और इसी समय ये सभी 'हमें दीक्षा दीजिये' — ऐसा शब्द कहेंगे।

इस प्रकार भगवान की दिव्यध्वनि के तत्पश्चात् ही वर्धनकुमार आदि सभी पुत्रों ने भगवान से प्रार्थना की कि — 'हे प्रभु! हमें दीक्षा दीजिये' — ऐसा कहकर भगवान के समक्ष दीक्षा धारण की, मुनिपना अङ्गीकार किया और बाह्य-अभ्यन्तर निर्ग्रन्थदशा प्रगट करके अल्पकाल में केवलज्ञान प्राप्त किया तथा शीघ्र ही मोक्षदशा भी प्राप्त कर ली।

देखो, परिणामों की विचित्रता! अनादि निगोद से निकले, इन्द्रगोप होकर राजकुमार हुए तथा उसी भव से मोक्षदशा प्राप्त की।

इनके अलावा भरत के ही बत्तीस हजार पुत्र पिछले भव में निगोद में थे। वहाँ कषाय की मन्दतारूप परिणामों से मरकर राजकुमार हुए और उसी भव में मुनिपना धारण करके केवलज्ञान प्राप्त कर मोक्ष गये। अहाहा! ये सभी दृष्टान्त अपने परिणामों की स्वतन्त्रता बताते हैं।

इस प्रकार ज्ञानी संसार भावना का विचार करते हैं कि संसार की पर्याय क्षणिक है, मैं तो असंयोगी, नित्य, ज्ञानस्वभावी पदार्थ हूँ — ऐसी भावना करने से अल्पकाल में मुक्ति प्राप्त होती है।

एकत्वभावना — निश्चयरत्नत्रय ही जिसका एक लक्षण है, ऐसी एकत्वभावना से परिणमित इस जीव को निश्चयनय से सहजानन्द सुखादि अनन्त गुण का आधारभूत केवलज्ञान ही एक सहज शरीर है। यहाँ शरीर का अर्थ स्वरूप है; सात धातुमय औदारिक शरीर नहीं।

उसी प्रकार आर्त और रौद्ररूप कुध्यानों से विलक्षण परम सामायिकरूप एकत्वभावना है। स्त्री-पुत्रादि सभी परपदार्थ संयोगी और नाशवान हैं; भगवान आत्मा अकेला ध्रुव, अविनाशी और हितकारी है — ऐसा चिन्तवन करना एकत्वभावना है। इसको समझे बिना अर्थात् ऐसी भावना हुए बिना वैराग्य आ जावे तथा दीक्षा लेवे तो भी व्यर्थ है। पुत्र, मित्र, स्त्री, कुटुम्ब, शरीर, हीरा, माणिक, हाथी, घोड़ा आदि किञ्चित् भी हित करनेवाले नहीं हैं; एकमात्र अपना शुद्ध आत्मा ही हितकारी है।

उपरोक्त परम-उपेक्षा संयमरूप एकत्वभावना से सहित शुद्ध आत्मा ही एक, अविनाशी और हितकारी परमपदार्थ है, परमधन है। इसके अतिरिक्त सोना, चाँदी, रुपया आदि सभी वस्तुएँ परम अर्थ नहीं हैं। शुद्ध आत्मा के अलावा अन्य सभी वस्तुएँ उपेक्षा करने योग्य हैं। अपना शुद्ध आत्मा ही स्वधन है; अन्य नहीं। इसी प्रकार निर्विकल्प समाधि से उत्पन्न निर्विकार परमानन्द जिसका लक्षण है — ऐसे अनाकुल स्वभावयुक्त आत्मसुख ही एक सुख है; आकुलता का उत्पादक इन्द्रियसुख, सुख नहीं है।

शङ्का — शरीर, बन्धुजन, सुवर्णादि तथा इन्द्रियसुख जीव को निश्चय से सुख के कारण कैसे नहीं ?

समाधान — जब जीव एक गति में से दूसरी गति में जाए तो शरीर आदि उसके साथ नहीं जाते, परन्तु यहीं के यहीं रह जाते हैं; इसलिए सिद्ध होता है कि वास्तव में शरीर आदि परपदार्थ जीव के नहीं हैं तथा ये समस्त पदार्थ सुख के कारण भी नहीं हैं। यह समझाने के लिए आचार्य भगवान ने सभी के जीवन में आनेवाला सरल उदाहरण दिया है

कि जब यह जीव आकुलता उत्पन्न करनेवाले रोग आदि से घिर जाता है तो उस समय शरीर, बन्धुजन, सुवर्णादि पदार्थ और पञ्चेन्द्रियों को अच्छे लगनेवाले समस्त पदार्थ तथा उनसे उत्पन्न इन्द्रियसुख आदि सभी दुःख दूर करने में अथवा सुख की प्राप्ति में बिल्कुल भी सहायक नहीं होते। इन सभी से सुख उत्पन्न होता है — यह बात तो दूर रही, परन्तु ये तो सुख-प्राप्ति में सहायक भी नहीं हैं।

अन्यत्वभावना — देह, बन्धुजन, सुवर्ण आदि तथा इन्द्रियसुख आदि सभी पदार्थ कर्मों के आधीन हैं; अतः ये सभी विनाशीक स्वभाववाले हैं और चैतन्यमूर्ति ज्ञायक एकरूप आत्मा स्वभाव से नित्य है, उसमें प्रमत्त और अप्रमत्तदशा के भेद नहीं हैं तथा उस शुद्धात्मस्वरूप की भावना से विकार का विनाश होकर परमात्मपद प्रगट होता है; अतः एक आत्मा ही उपादेय है।

अहाहा! निश्चयनय से अर्थात् वास्तव में विकार से रहित परम चैतन्य-चमत्कार स्वभाव के धारक निज परमात्मा से शरीर, कर्म इत्यादि अत्यन्त भिन्न हैं। भगवान् आत्मा के आश्रय से जो केवलज्ञान प्रगट हुआ है, वह उसका चैतन्य-चमत्कार है। परपदार्थों में कोई सार नहीं है तथा वे परपदार्थ आत्मा के नहीं हैं। अरे! बन्धुजन तो प्रत्यक्ष भिन्न हैं ही, परन्तु यहाँ तो ऐसा कहते हैं कि संसार अवस्था भी आत्मा के त्रिकाली स्वभाव से अन्य अर्थात् अलग ही है।

इस प्रकार अन्यत्वभावना का विचार करने पर स्वभाव के आश्रय से श्रद्धा, ज्ञान और वीतरागता प्रगट होती है, वह धर्म है और वह ही संवर है। एकत्वभावना में विधि अर्थात् अस्तिरूप कथन था और यहाँ अन्यत्वभावना में 'यह मैं नहीं, यह मैं नहीं' — इस प्रकार निषेधात्मक कथन है।

अशुचिभावना — शरीर को अशुचि कहना व्यवहार है। वास्तव में तो वह आत्मा का ज्ञेय है और आत्मा उसका ज्ञाता है। जिस जीव की ऐसी पवित्र दृष्टि हुई हो, उसे यदि विकल्प उठे तो वह विचार करता है कि 'अहो! यह शरीर तो पिता के वीर्य और माता के रुधिर से उत्पन्न हुआ है, यह मेरी चीज नहीं है; मैं तो ज्ञानमात्र आत्मा हूँ, मैं किसी से उत्पन्न नहीं हुआ हूँ, यह शरीर सप्त धातुमय होने से अशुचि (अपवित्र) है।'

अज्ञानी तो शरीर को रूपवान तथा उत्तम इन्द्रियोंवाला देखकर मोहित हो जाता है। मृतक शरीर में उसका अमृतस्वभावी आत्मा मूर्छित हो गया है; इसलिए उसको शरीर से भिन्न आत्मा की भावना नहीं होती है।

यहाँ तो मुनि भावना भाते हैं कि शरीर के नव छिद्र द्वारा जो मल झरता है, वह जड़ है परन्तु चिदानन्द आत्मा में रमणता होने पर तो ज्ञान-दर्शन की पवित्रता का झरना झरता है। यहाँ मुख्यरूप से मुनि की प्रधानता से कथन है। ज्ञानी गृहस्थ भी ऐसी भावना भाते हैं, तीर्थङ्कर भी गृहस्थ अवस्था में ऐसी ही भावना भाते हैं परन्तु मुनियों की भावना विशेष प्रकार की होती है।

पेशाब, विष्टा आदि अशुचि पदार्थों का स्थान होने से देह अशुचि है। आत्मा के भान बिना मात्र शरीर को अपवित्र कहना और ऐसा मलिन शरीर मिला है—इस प्रकार द्वेष करना, सच्ची भावना नहीं है। आत्मा शरीर से भिन्न है, ज्ञानानन्द स्वभाव है—ऐसे भाववाला ज्ञानी विचार करता है कि यह शरीर अशुचि है, वह अशुचिभावना संवर का एक भेद है।

देखो! ज्ञानी अशुचिभावना को किस रीति से भाते हैं? आत्मा स्वभाव से ही पवित्र है, स्नानादि से पवित्र नहीं हुआ, क्योंकि जो काम-क्रोधादि विकारों में मग्न हैं, उनकी मलिनता स्नान करने पर दूर नहीं होती। अहाहा! 'मैं ज्ञायक हूँ' - ऐसी अन्तर्दृष्टि ही वास्तव में पवित्रता है।

आस्रवभावना — जिस प्रकार छिद्रवाली नौका समुद्र में डूब जाती है; उसी प्रकार इन्द्रियों के माध्यम से की गयी कषायों से जीव भवसागर में डूबता है तथा अतीन्द्रिय आत्मस्वभाव के आश्रय से पार होता है। पाँच इन्द्रियों से निजशुद्धात्मा का ज्ञान नहीं होता, अपितु आस्रव ही होता है।

संसार के अशुभभाव तो आस्रव के कारण हैं ही, परन्तु आँख से जिनेन्द्र भगवान के दर्शन करना, जीभ से भगवान के गुण गाना, कान से भगवान की दिव्यध्वनि सुनना, आदि जो शुभभाव हैं, वे सभी आस्रव के कारण हैं, दुःख के कारण हैं, संसार के कारण हैं। जैनधर्म का यह कठोर, किन्तु गजब का सत्य है।

परमात्मस्वरूप इस आत्मा का स्वभाव, मात्र अकषायी, पुण्य-पापरहित उपशम

स्वरूप का धारण करनेवाला है; उसमें क्रोध, मान, माया और लोभ आदि के परिणाम, क्षोभ अथवा अस्थिरता उत्पन्न करते हैं; अतः क्रोध, मान, माया और लोभ को आस्रव कहा जाता है तथा आस्रव से संसार में डूबते हैं।

इस प्रकार धर्मी जीव विचार करते हैं कि आस्रव से विकार होता है। आस्रवभावना का अर्थ आस्रव करना चाहिए — ऐसा नहीं है परन्तु आस्रव से दोष उत्पन्न होता है — इसका विचार करना आस्रवभावना है। धर्मी जीव तो सदा स्वभाव में रमना चाहते हैं परन्तु सदा स्वभाव में स्थिर न हो पाने के कारण शुभभाव आता है, तब ऐसा विचार करते हैं कि यह शुभभाव भवसागर में डुबानेवाला है, मात्र शुद्धात्मभावना ही भवसागर से पार करानेवाली है, मोक्षनगरी में प्रवेश करानेवाली है; इसलिए आत्मा का आश्रय ही त्रिकाल उपादेय है।

संवरभावना — जिस प्रकार जहाज का स्वभाव पार होने का है; उसी प्रकार आत्मा का स्वभाव भी भवसागर से पार होने का है। आस्रव के कारण मिथ्यात्व, कषाय, अव्रत तथा योग को शुद्ध आत्मज्ञान के बल से ढँक देना अर्थात् आस्रव को उत्पन्न ही नहीं होने देना, जिससे कर्म का आना रुक जाना संवर है। कर्मों का अभाव होने पर केवलज्ञानादि अनन्त गुणों से परिपूर्ण मुक्तिरूपी नगरी को निर्विघ्नरूप से प्राप्त करना इसका फल है।

इस प्रकार संवरगत गुणों के चिन्तनरूप संवरानुप्रेक्षा जानना चाहिए।

निर्जराभावना — अहो! संवरपूर्वक निर्जरा होती है और निर्जरा की भावना से संवर होता है। मिथ्या मान्यता के वशीभूत होकर उल्टा आचरण करके जिन कर्मों को बाँधा था, वे कर्म, आत्मा के भानपूर्वक रमणता करने पर खिर जाते हैं — इसको निर्जरा कहते हैं। कर्म अपनी स्थिति पूर्ण करके खिर जाते हैं, उसे सविपाक निर्जरा कहते हैं, इसकी मोक्षमार्ग में महत्ता नहीं है लेकिन जब जीव ज्ञानानन्दस्वभाव के भानपूर्वक कर्मों की तरफ झुकाव नहीं करता, मात्र स्वभाव की एकाग्रता से कर्म फल दिये बिना खिर जाते हैं, उसे अविपाक निर्जरा अर्थात् वास्तविक निर्जरा कहते हैं क्योंकि यही निर्जरा, संसार को काटनेवाली है।

यहाँ पर ज्ञानी, निर्जराभावना के बारे में विचार करते हैं। 'दुःखी मनुष्य धर्म में तत्पर हैं' — टीका का उक्त कथन व्यवहारनय का कथन है। कोई जीव दुःख के संयोगों के समय में तत्त्वविचार करता है और धर्म प्राप्त करता है, इस अपेक्षा से उपरोक्त कथन किया है। जिस जीव को नरक का संयोग प्राप्त है, अगर उस समय वह जीव यह विचार करे कि ऐसी महाभयङ्कर वेदना का कहीं अभाव है या नहीं? और फिर इसी विचार से कोई जीव तत्त्वज्ञान प्राप्त कर लेता है क्योंकि सम्यग्दर्शन में जिन-प्रतिमा, शास्त्र-श्रवण, जातिस्मरण इत्यादि निमित्त कहे हैं, उनमें वेदना को भी निमित्तकारण कहा है।

'अहो! ऐसे दुःख में कौन शरण है? मात्र आत्मा की शरण में जाने से ही दुःखों का नाश होता है', इस प्रकार बारम्बार उस दुःख को याद करके धर्मी जीव वैराग्यभाव में निमग्न रहते हैं तथा वीतरागता में वृद्धि करते हैं।

ज्ञानी जीव अपने परम आत्मा के अनुभव के बल से ही वैराग्य परिणाम लाते हैं। पूर्व में जो भोग-वाञ्छादि परिणाम जाने थे, सुने थे तथा अनुभव किये थे, उनका त्याग करके वैराग्य परिणाम लाते हैं एवं ऐसा निश्चित जानते हैं कि मात्र आत्मा में ही आनन्द और सुख है; बाहर में कहीं सुख नहीं है।

लोकभावना — भाई! यह सत्य है कि शास्त्रों में लोक का वर्णन अतिविस्तार से है परन्तु उस सबमें सारभूत एक आत्मा ही है क्योंकि आत्मा आदि, मध्य तथा अन्त से रहित है, निर्मल ज्ञान तथा एकरूप स्वभाव का धारक है; उसमें पूर्णरूप से स्वच्छ केवलज्ञान नाम का नेत्र है, जिसके द्वारा दर्पण के प्रतिबिम्ब की तरह शुद्धात्मा आदि समस्त पदार्थ दिखाई देते हैं। प्रत्येक पदार्थ के द्रव्य-गुण-पर्याय भिन्न-भिन्न जानने में आते हैं। आत्मा में समस्त लोक को जानने की शक्ति है, इसलिए शुद्धात्मा ही निश्चय लोक है अथवा निश्चय लोक के धारक निज शुद्ध परमात्मा को देखना ही निश्चय लोकभावना है।

आहार, भय, मैथुन और परिग्रह — ये चार प्रकार की संज्ञाएँ; कृष्ण, नील, कापोतरूप अशुभ लेश्याओं के परिणाम; पाँच इन्द्रियों की अशुभ में प्रवृत्ति; आर्त और रौद्रध्यान; मिथ्याज्ञान तथा मोह के परिणाम पाप को लाते हैं। इन सभी विकारी परिणामों

से लेकर सम्पूर्ण शुभ तथा अशुभभावरूप सङ्कल्प-विकल्पों का त्याग करके, निजशुद्धात्मा में श्रद्धा-ज्ञान तथा रमणता से उत्पन्न हुई परमानन्दामृत के आस्वादनरूपी भावना को निश्चय से लोकभावना कहा है। इसके अतिरिक्त जिनागम कथित लोक का विचार करना, व्यवहार से लोकभावना है, वह पुण्यबन्ध का कारण है।

बोधिदुर्लभभावना — यहाँ बोधिदुर्लभभावना का स्वरूप बताया गया है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की दशा प्राप्त करना दुर्लभ है; धर्मी जीव इस दुर्लभता का विचार करते हैं।

पेड़ से कोई फल गिरे और अकस्मात् वह फल उसी समय पेड़ के नीचे से उड़ते हुए कौवे की चौंच में आ जावे — यह घटना जिस प्रकार महादुर्लभ है, उसी प्रकार निर्मल धर्मध्यान तथा शुक्लध्यानरूप परमसमाधि महादुर्लभ है।

जीव ने बहुत समय तो एकेन्द्रिय पर्याय में बिताया है। उसमें से निकलकर दो इन्द्रियादि हुआ, परन्तु मनुष्यभव की प्राप्ति दुर्लभ है। इस जगत में अशुभभाव करनेवाले तथा मिथ्याश्रद्धा-ज्ञान से विषय-कषाय का परिणाम करनेवालों की संख्या अधिक है। जिस शुभभाव से मनुष्यभव मिलता है, उस भाव को करनेवाले संख्यात जीव ही होते हैं। जिस प्रकार हीरे को खरीदनेवाले कम होते हैं; उसी प्रकार मनुष्यभव पानेवाले भी बहुत थोड़े हैं। तीनों काल मनुष्य संख्यात ही होते हैं।

ऐसा दुर्लभ मनुष्यभव भी अनन्त बार धारण किया, तथापि सच्चे देव-शास्त्र-गुरु का योग मिलना तथा उनकी श्रद्धा करना दुर्लभ है। आत्मा अखण्ड चिदानन्दमूर्ति है — इसकी पूर्वापरविरोधरहित बात कान में पड़ना दुर्लभ है। ऐसा सुनने को ही न मिला हो तो ज्ञान कहाँ से हो ? बात सुनने को मिली तो अपनी आत्मा का श्रद्धान-ज्ञान-आचरण दुर्लभ है। सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धारूप व्यवहारश्रद्धा तो अनन्त बार की है, तथापि रागरहित आत्मा की प्रतीति, स्वसंवेदनज्ञान और वीतरागता — इन तीन की एकतारूप बोधि की प्राप्ति होना बहुत दुर्लभ है।

जिस प्रकार बालक के पास जेवर हो तो वह पेड़ा (मिठाई) की लालसा से जेवर छोड़ देता है; उसी प्रकार अज्ञानी जीव, शुभभावरूपी व्यवहार की लालसा में अथवा बाह्य

अनुकूलताओं की लालसा में चैतन्यहीरे को खो बैठता है और अन्तर्श्रद्धा नहीं करता है; इसलिए बोधि प्राप्त करना दुर्लभ है।

अब कहते हैं कि ऐसे सम्यग्ज्ञानरूपी बोधि को सारी जिन्दगी टिकाये रखना और अप्रतिहतभाव से दूसरे भव में साथ ले जाना तो और भी दुर्लभ है। अतिचाररहितपने आराधक होकर अन्यभव में बोधिपना साथ में ले जाना समाधि है और वह दुर्लभ है। जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकता हुई, उसे साथ ले जाना दुर्लभ है। देवगति में चारित्र छूट जाए तो भी सम्यग्दर्शन और ज्ञान तो साथ लेकर जाता है और उसके बाद दूसरे भव में चारित्र धारणकर पूर्णदशा को प्राप्त करता है।

पहले नहीं प्राप्त किये — ऐसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का मिलना बोधि है और सम्यग्दर्शन-ज्ञानादि को निर्विघ्नतापूर्वक दूसरे भव में साथ ले जाना समाधि है लेकिन ये दुर्लभ हैं। देह छूटने का समय हो, व्याधि का पार न हो — ऐसे समय में भी आत्मा शुद्ध आनन्दकन्द है, उसमें निर्विकल्पक भाव से बने रहना, समाधि है। शुभाशुभभाव से रहित आत्मा शुद्ध चिदानन्दमूर्ति है, ऐसे आराधकभाव से देह छूटना समाधिमरण है — ऐसा विचार करनेवाले जीव को राग की उत्पत्ति नहीं होना तथा स्वभाव की जागृति रहना, बोधिदुर्लभभावना है और वह संवर का भेद है।

धर्मभावना — अब, अन्तिम अनुप्रेक्षा कहते हैं। जो परिणाम, जीव को संसार परिभ्रमण से निकालकर स्वभाव में धरे-रखे, उसे धर्म कहते हैं। जिस जीव को धर्मदशा प्रगट हुई, उसी जीव के एक-दो भव बाकी हों तो वह स्वर्ग में उत्पन्न होकर, फिर वहाँ से मनुष्य होकर मोक्ष जाता है अथवा कोई सीधा मोक्ष जाता है।

धर्म तो एक प्रकार का है, पर उसे भिन्न-भिन्न प्रकार से कहा है। शुद्ध आत्मा के परिणाम को अहिंसा कहते हैं, उसी को निश्चयधर्म कहते हैं, उसी को गृहस्थों और मुनियों का धर्म कहते हैं, उसे ही क्षमादिधर्म कहते हैं — इस प्रकार एक धर्म में सभी धर्म आ जाते हैं।

धर्म, आत्मा की रागरहित पर्याय है। शरीर की क्रिया अथवा पुण्य परिणाम में धर्म नहीं है। इस धर्म की प्राप्ति हुए बिना पूर्व में अनन्तकाल तक जीव ने चौरासी लाख योनियों

में जन्म-मरण किया है।

जब जीव को पूर्वकथित धर्म की प्राप्ति होती है, तब यदि वह उस भव में पूर्णदशा प्राप्त न करे तो देवादि गति प्राप्त करता है। पूर्ण शान्ति की आराधना करने पर भी यदि थोड़ा-बहुत राग शेष रह जावे तो राजाधिराज, महाराज, अर्धमण्डलेश्वर, महामण्डलेश्वर, बलदेव, नारायण, कामदेव, चक्रवर्ती, देवेन्द्र, गणधरदेव या तीर्थङ्कर पद को प्राप्त करता है।

पश्चात् वह धर्मी जीव, राग छोड़कर, अपने स्वरूप में अभेद रत्नत्रय की भावना के बल से अक्षय और अनन्त गुणों के स्थानभूत अरहन्त और सिद्धपद को प्राप्त करता है। आत्मा की आराधना करने पर भी यदि थोड़ा राग शेष रह जाता है तो उपरोक्त पदवियों को प्राप्त करता है और उस राग का अभाव होने पर अरहन्त और सिद्धपद की प्राप्ति करता है।

विशेष क्या कहना ? जो जिनेन्द्रदेव द्वारा कथित धर्म को प्राप्त कर दृढ़ श्रद्धावान हुए हैं, वे ही धन्य है। कहा भी है —

धन्या ये प्रतिबुद्धा धर्मे खलु जिनवरैः समुपदिष्टे ।

ये प्रतिपन्ना धर्म स्वभावानोपस्थितमनीषाः ॥

अर्थात् जिनवरों द्वारा सम्यक् प्रकार से उपदेशित धर्म से जिन्होंने प्रतिबोध प्राप्त किया है, वे वास्तव में धन्य हैं और जिन्होंने स्व भावना में अपनी बुद्धि लगाकर धर्म प्राप्त किया है, वे धन्य हैं।

बारह भावनाओं का संक्षिप्त वर्णन — सच्चिदानन्द आत्मा ध्रुव है, ऐसी दृष्टि में राग अनित्य है - ऐसा विचार करना, अध्रुवभावना है।

ज्ञान और आनन्द शरणभूत हैं; पुण्य-पाप शरणभूत नहीं है - ऐसा बार-बार विचार करना, अशरणभावना है।

द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भावरूप संसार में जीव भटकता है। भटकने की दशा पर्याय में होती है — ऐसा विचार करते-करते रागभाव का टूट जाना, संसारभावना है।

में अकेला हूँ, विकार का और मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है - ऐसी दृष्टिपूर्वक अन्तर में स्थिर हो जाना, एकत्वभावना है।

शरीर, कर्म इत्यादि मुझसे जुदा हैं, अन्य हैं; राग व पुण्यादि भी अन्य हैं, मेरी चीज नहीं है - ऐसा विचार करना, **अन्यत्वभावना** है।

मैं शुचि हूँ और पुण्य-पाप-शरीरादि अपवित्र हैं - ऐसी स्वभावसन्मुख भावना करना, **अशुचिभावना** है।

पुण्य-पाप आस्रवभाव हैं और आत्मा आस्रवों से रहित है - ऐसा विचार करने पर निर्मलता का प्रगट होना, **आस्रवभावना** है।

शुभ और अशुभभाव दोनों हिंसा हैं और मैं ज्ञानानन्दस्वभावी हूँ - इस प्रकार के ज्ञान द्वारा राग की उत्पत्ति न होना, **संवरभावना** है।

आत्मा के आश्रय से शुद्धि की वृद्धि निर्जरा है - ऐसा विचारना, **निर्जराभावना** है।

स्वभावसन्मुख रहकर, लोक के स्वरूप का विचार करना, **लोकभावना** है।

आत्मा का सम्यग्ज्ञान ही दुर्लभ है, बाकी तो सब सुलभ है। एकेन्दिय से त्रसपना इत्यादि उत्तरोत्तर दुर्लभ बताये गये हैं, पश्चात् आत्मस्वभाव को समझने के निमित्त को दुर्लभ बताया है, पश्चात् रागरहित आत्मा का ज्ञान करना अर्थात् सम्यक्-बोधि की प्राप्ति होना दुर्लभ है - ऐसा विचार करना, **बोधिदुर्लभभावना** है।

अपने स्वरूप को समझे बिना अधर्म के कारण जीव भटकता है, अपने स्वरूप को समझना ही धर्म है - ऐसे धर्म का विचार करना, **धर्मभावना** है।

रागादि की वृत्ति का लक्ष्य छोड़कर, रागरहित आत्मा में एकाग्र होना, संवर है, इसमें सामायिक आदि सब आ जाते हैं। अन्तर-अवलम्बन से अशुद्धता का रुकना और शुद्धता का होना, सो संवर है।

उक्त बारह भावनाएँ संवर की कारणरूप हैं। ●

(- वृहद्द्रव्यसंग्रह प्रवचन, भाग-२, गाथा ३५ पर हुए प्रवचनों से सङ्कलित अंश)
(बारह भावनाओं का आध्यात्मिकस्वरूप दर्शानेवाला
पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के भाववाही प्रवचन)

पञ्चाचार का परमार्थ स्वरूप

पञ्चाचारों में प्रधान दर्शनाचार और ज्ञानाचार कहे हैं क्योंकि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान बिना चारित्र नहीं होता एवं अत्यधिक तपश्चर्या करने से भी चारित्राचार नहीं होता है। ऐसे पञ्चाचारयुक्त तपोधन, शुभभाव में ध्यान करने योग्य हैं।

आचार्य को दर्शनाचार होता है, यह समयसार की शैली का कथन है। भाई! आत्मा ध्रुव, शुद्ध, नित्यानन्द प्रभु है। उसे जो अपने ज्ञान का विषय बनाता है, उसे भूतार्थनय कहते हैं। भूतार्थ = विद्यमान पदार्थ अर्थात् एकरूप स्वभाव की यहाँ बात करते हैं। भूतार्थनय का ध्येय, शुद्ध समयसार है अर्थात् परमस्वभावभाव सम्यग्दर्शन का ध्येय है। शुद्ध समयसार शब्द, वाचक और उसका वाच्य शुद्धात्मा है। वह शुद्धात्मा, संसारपर्याय, पुण्य-पापरूप भावकर्म, दया-दान व्यवहाररूप रत्नत्रय और शरीरादि से रहित है। भाई! संसार, शुद्धद्रव्य में नहीं है क्योंकि वह एक समय का है। द्रव्यकर्म और नोकर्म से रहित शुद्ध चैतन्यद्रव्य को ध्येय में लेना सम्यग्दर्शन है। एकमात्र परमपारिणामिकभाव ही भूतार्थ दृष्टि का विषय है। भाई! देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति तथा व्यवहाररत्नत्रय से भी आत्मा भिन्न है।

अब, क्रमशः पञ्चाचार का स्वरूप बताते हैं —

(१) दर्शनाचार — परम चैतन्य विलासरूप स्वभाव को धरनेवाला स्वभाववान निज शुद्धात्मा उपादेय है, उसकी रुचि होना सम्यग्दर्शन है। जिनमें दर्शन-ज्ञान-आचार मुख्य हैं तथा जो चारित्र, तप और वीर्य में परिणत हैं, वे आचार्य हैं।

मुनियों को पञ्च महाव्रतादि का आचार होता है परन्तु वह परद्रव्य है। परद्रव्य से स्वद्रव्य नहीं टिकता। भाई! विकाररहित स्वद्रव्य के आश्रय से प्रकट हुई निर्मलपर्याय का

शुद्धात्मा के साथ अभेद होना, स्वद्रव्य है।

त्रिकालीस्वभाव की दृष्टि में, एक समय की पर्याय भी अभूतार्थ है क्योंकि वह क्षणिक है। त्रिकालीस्वभाव की रुचि करना, सम्यग्दर्शन है एवं सम्यग्दर्शनरूप परिणमन करना, निश्चय दर्शनाचार है। इसके साथ जिनके अन्य चार आचार होते हैं, वे आचार्य हैं।

(२) ज्ञानाचार — शुद्धात्मा उपाधिरहित है। ज्ञान, स्व को ज्ञेय बनाये — ऐसे भेदज्ञान के द्वारा, भ्रान्ति तथा राग-द्वेष से आत्मा को भिन्न जानना निश्चयसम्यग्ज्ञान है एवं आगमज्ञान, व्यवहार से सम्यग्ज्ञान है। आत्मा का स्वसंवेदन ज्ञान, निश्चय है। अपने निज ज्ञायकस्वभाव का निर्णय करते ही शरीर, कर्म, राग इत्यादि कोई भी मुझमें नहीं है — ऐसा नास्तिरूप परिणमन सहज ही हो जाता है; मैं इनसे भिन्न हूँ — ऐसा भेदरूप विकल्प करना नहीं पड़ता है। मैं अपने से हूँ — ऐसा अभेदरूप परिणमन होते ही पर से नास्तिरूप परिणमन होता है; इसलिए यहाँ भेदज्ञान द्वारा कहा है। शास्त्रों का ज्ञान भी शुद्धात्मा के लक्ष्यपूर्वक होना चाहिए। मात्र शास्त्रज्ञान यथार्थ नहीं है। वास्तव में तो अपने ज्ञायकस्वभाव का स्वसंवेदनरूप परिणमन, निश्चय ज्ञानाचार है।

(३) चारित्राचार — द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म से रहित चैतन्यविलास को धारण करनेवाले आत्मा के आश्रय से निरुपाधिक सुख होता है। पञ्च महाव्रत के परिणाम उपाधि और दुख हैं। अधूरी दशा में वे परिणाम आते हैं; इसलिए निश्चय के भानवाले के लिए उन्हें व्यवहार से साधन कहा जाता है।

विहार करना, एक बार भोजन करना, नग्न रहना, ज्येष्ठ माह की गर्मी में ध्यान में खड़े रहना, चमड़ी जले — ऐसी भीषण गर्मी में भी पर्वत पर जाकर ध्यान करना — इत्यादि प्रतिकूल संयोगों में भी मुनिराज को खेद या दुःख नहीं होता है।

भाई! चारित्र दुखदायक नहीं है, बल्कि चारित्रधर्म तो आनन्ददायक है। मुनिराज तो शुद्धात्मा के आनन्दमय स्वाद में रम गये हैं। चैतन्यज्योति की रुचि और परिणमन में आनन्द ही आनन्द है। लौकिकजन इसे कष्टदायक मानते हैं परन्तु मुनिराज तो आनन्द के उछालों में रमते हैं। भाई! अखण्ड ज्ञायकस्वभाव की रुचि और लीनता में जो झूलते हैं, उन्हें चारित्र होता है।

पहले पहिचान तो करो कि चारित्र किसे कहते हैं ? भाई! वास्तविक तत्त्व बिना कोई शरणभूत नहीं है। मुनियों को किसी प्रकार का दुःख नहीं होता है। जगत ने मुनिपद के स्वरूप के बारे में सुना नहीं है; अतः उसे उस दशा में दुःख भासित होता है। आत्मा के आश्रय से अमृत की डकार आना चारित्र है एवं उससे सुख उत्पन्न होता है। उसके आस्वाद से जो चित्त की स्थिरता होती है, वह वीतरागी चारित्र है। ऐसे चारित्र में आचरण करना, निश्चय चारित्राचार है।

(४) तपाचार — ज्ञायकस्वभाव में प्रतपन से, शोभा से, विजयरूप परिणति वर्तना, तप है। भाई! अनाकुल चिदानन्द ज्ञायकस्वभाव में लीन होने से इच्छा उत्पन्न ही नहीं होती; अतः परद्रव्यों की इच्छा रोकना, व्यवहार से तपाचार है। स्वाभाविक आनन्द के झरने में मस्त आचार्यों को परद्रव्य की इच्छा होती ही नहीं है – इसी का नाम इच्छा का रोकना है। पहले इच्छा के समय पर परद्रव्य निमित्त थे, अब स्वभाव में लीन होने से इच्छा टूटते ही परद्रव्य छूट जाते हैं। आहार आदि की ओर वृत्ति ही नहीं गई; अतः अनशन, अवमोदर्य आदि १२ तप सहज ही पल गये। इन्हें बहिरङ्ग तप कहा है, जिसकी ओर लक्ष्य था, जब उसका लक्ष्य छूट गया, तब उसकी अपेक्षा से इन्हें बहिरङ्ग सहकारीकारण कहा है।

अनादि से इच्छा की विजय थी, अब उसकी विजय समाप्त हो गयी और शुद्ध अनाकुल आत्मा की विजय हुयी और इच्छारहित साम्राज्य हो गया। जिस प्रकार सोने में गेरु लगने से सोना और अधिक शोभायमान हो जाता है; उसी प्रकार आत्मा इच्छारहित तप से शोभायमान हो गया। यह इच्छारहित तप ही निश्चय तप है और इसमें विशेषरूप से प्रतपन निश्चय तपाचार है।

(५) वीर्याचार – उपरोक्त दर्शनाचार, ज्ञानाचार, चारित्राचार और तपाचार को टिका रखने के लिए अन्तरङ्ग में अपने वीर्य / बल को स्फूर्ति करना, निश्चय वीर्याचार है। स्वभाव की रक्षा के लिए वीर्य स्फूटित करना इसका आशय है। आत्मा के वीर्य से शरीर की क्रिया नहीं होती, राग की क्रिया नहीं होती, किन्तु चार प्रकार के आचारों की रक्षा के लिए मुनिराज वीर्य प्रस्फूटित करते हैं। ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार और तपाचार

की रक्षा करनेवाले को वीर्याचार कहते हैं। राग अथवा व्यवहार से इन चार प्रकार के आचरणों की रक्षा नहीं होती है।

श्री प्रवचनसार के चरणानुयोग में कहा है कि व्यवहार के प्रसाद से निश्चय को नहीं प्राप्त करूँ, तब तक तेरा पालन करूँगा। वहाँ हे ज्ञानाचार! हे दर्शनाचार! इत्यादि को लक्ष्य करके कहते हैं कि मैं जानता हूँ, तू मेरा स्वरूप नहीं है परन्तु स्वरूप में स्थिर नहीं रह सकूँ, तब तक शुभभाव होता है और अशुभ का अभाव होता है; इसलिए तेरे प्रसाद से मैं निश्चय प्राप्त करूँगा। प्रवचनसार के इस व्यवहार कथन का यथार्थ आशय समझना चाहिए। आशय यह है कि निमित्त है, व्यवहार है परन्तु वस्तु के भान बिना अज्ञानी जीव निश्चय-व्यवहार और निमित्त इन तीनों की खिचड़ी बना देता है। अपना शुभराग अन्दर स्वभाव की रक्षा नहीं करता, तो फिर शारीरिक सँहनन, गुरु अथवा अन्य बाह्य वस्तु, स्वभाव की रक्षा करे, यह तो हो ही नहीं सकता।

उपसंहार - चरणानुयोग के शास्त्रों में विस्तार से पञ्चाचार को बहिरङ्ग सहकारी कारण कहा गया है। इन निश्चय तथा व्यवहार पञ्चाचार में अपने को और पर को लगानेवाले आचार्य होते हैं। ● (वृहद्द्रव्यसंग्रह प्रवचन, भाग २ से सङ्कलित)

मुनिराज को कोई जिम्मेदारी नहीं

मुनि को कर्म-प्रक्रम नहीं होता। मुनि अपने जिम्मे कोई कार्य नहीं लेते, पाठशाला का ध्यान रखना पड़ेगा, रकम उगाहने हेतु तुम्हें जाना पड़ेगा, तीर्थ हेतु रकम उगाहना पड़ेगा — ऐसे किसी भी कार्य को मुनि अपने जिम्मे लेते ही नहीं। मुनि किसी भी प्रकार की जिम्मेदारी रखते ही नहीं।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, जिणसासणं सव्वं, २७२, पृष्ठ १६

सम्यग्दर्शन सार है

णाणं णरस्स सारो सारो वि णरस्स होइ सम्मत्तं ।
सम्मत्ताओ चरणं चरणाओ होई णिव्वाणं ॥

अर्थात् पहिले तो इस पुरुष के लिए ज्ञान, सार है क्योंकि ज्ञान से सब हेय-उपादेय जाने जाते हैं, फिर उस पुरुष के लिए सम्यक्त्व निश्चय से सार है क्योंकि सम्यक्त्वरहित ज्ञान, मिथ्या नाम पाता है; सम्यक्त्व से चारित्र होता है क्योंकि सम्यक्त्वरहित चारित्र भी मिथ्या ही है; चारित्र से निर्वाण होता है।

(-दर्शनपाहुड़, गाथा ३१)

अब, ज्ञान आदि के उत्तरोत्तर सारपना कहते हैं।

प्रथम तो सम्यग्ज्ञान, मनुष्य की शोभा अथवा सार है; हीरा-माणिक से शोभा नहीं है। आत्मा शुद्ध चिदानन्द है, उसका ज्ञान करना ही सार है।

प्रश्न - आत्मा तो दिखता नहीं है न ?

उत्तर - घट पटादि तू जानता, उनकी थिति को मान।
जाननहार न मानता, कहिए कैसा ज्ञान ॥
आत्मा की शङ्का करे, आत्मा स्वयं ही आप।
शङ्का का करनार खुद, अचरज यही अमाप ॥

- श्रीमद् राजचन्द्र, आत्मसिद्धि

शरीर है, कुटुम्ब है - ऐसा किसने जाना ? किसमें जाना ? आत्मा जानता है, पुण्य

-पाप नहीं जानते हैं। आत्मा जाननहार है; इसलिए ज्ञान को सार कहते हैं। ग्रहण करने योग्य क्या है और छोड़ने योग्य क्या है? - इसे ज्ञान जानता है। रागादि छोड़ने लायक हैं और स्वभाव अङ्गीकार करने लायक है; निमित्त भिन्न है - इस प्रकार ज्ञान से हेय-उपादेय का पता पड़ता है। आत्मा, विकार और संयोग से रहित है - ऐसा ज्ञान करना, सम्यग्ज्ञान है।

सम्यक्त्व, निश्चय से आत्मा का सार है; कारण कि सम्यग्दर्शन के बिना ज्ञान, मिथ्या नाम पाता है। आत्मा स्वयं शुद्ध चिदानन्द है - ऐसी स्वभाव सन्मुख दृष्टि ही सार है। मेरी प्रभुता मुझ में पड़ी है। पर्याय में पामरता क्षणिक है, निमित्त प्रथक् ही काम करता है। आत्मा ज्ञानानन्द स्वरूप है - ऐसी प्रतीति ही सार है। समकितरहित ज्ञान, मिथ्याज्ञान है। निज स्वभाव में अन्तर्मुख ढलने से कल्याण होता है - ऐसी प्रतीति और दृष्टि के बिना ज्ञान व्यर्थ है। पाँच-पचास लाख रुपये इकट्ठे करना, प्रतिष्ठा बनाना, अथवा साधु होकर बड़ी इज्जत जमाना, बहुत मनुष्यों को मदद करता हूँ - ऐसा मानना इत्यादि में कुछ सार नहीं है। मैं वर्तमान निमित्त नहीं, वर्तमान पुण्य-पाप नहीं, वर्तमान अल्पज्ञता नहीं; मैं तो त्रिकाल ज्ञानस्वरूप हूँ। जो शान्ति, सुख और स्वतन्त्रता प्रगट करना चाहता हूँ, वह अन्तर में भरी है। आत्मा पूर्ण शुद्धकारण है, उससे सम्यग्दर्शनरूप कार्य प्रगट होता है। ऐसे कारणस्वभाव के सन्मुख हुए बिना प्रतीति / सम्यग्दर्शन नहीं होती।

सम्यक्त्व से चारित्र होता है। अमुक आहार-पानी छोड़े तो चारित्र होता है - ऐसा नहीं है। आत्मा 'स्वयं परमात्मा है' - उसे कारण बनावे तो सम्यग्दर्शन प्रगटने से चारित्र प्रगट होता है। शुभराग को कारण बनाओ, ज्ञान का उघाड़ प्रगट करो तो कार्य होगा - ये सब बातें निरर्थक हैं। मेरा शुद्धस्वभाव उपशान्तरस का सागर है - ऐसी प्रतीति के बिना सम्यग्दर्शन नहीं होता और न चारित्र होता है। बाहर की मुद्रा चारित्र का कारण नहीं है और न अट्टाईस मूलगुणों का पालन चारित्र का कारण है; इसलिए सम्यक्त्व के बिना चारित्र मिथ्या है। अट्टाईस मूलगुणों का पालन करने पर भी यथार्थ प्रतीति के बिना चारित्र नहीं होता।

चारित्र से निर्वाण होता है। चारित्र, सम्यग्दर्शन से होता है और सम्यग्दर्शन, स्वभाव

के आश्रय से होता है। शुभरागरूप व्यवहार आदि, सम्यक्त्व के साधन नहीं हैं। स्वभाव सन्मुख दृष्टि हुए बिना समकित नहीं होता और समकित के बिना चारित्र नहीं होता तथा चारित्र के बिना मोक्ष नहीं होता; इसलिए स्वभाव सन्मुख झुकाव करके सम्यग्दर्शन प्रगट करना ही सार है।

चारित्र से निर्वाण होता है और चारित्र, ज्ञानपूर्वक सत्यार्थ होता है। ज्ञान, सम्यक्त्वपूर्वक सत्यार्थ होता है – ऐसा विचारने पर सम्यक्त्व सार है। समकित बोधिबीज है, उसका कारण आत्मा है। उसमें से वृद्धिगत होकर केवलज्ञान होता है। इसलिए प्रथम समकित सार है; पश्चात् ज्ञान, चारित्र सार है।

भगवान आत्मा पूर्ण शुद्ध चिदानन्द है – ऐसी दृष्टि के बिना ध्यान नहीं होता। शरीर, संयोग, राग और अल्पज्ञपर्याय में लाभ नहीं है; लाभ अन्तर में है – ऐसी प्रतीति के बिना ध्यान नहीं होता। पहले सम्यग्दर्शन सार है, पश्चात् ज्ञान-चारित्र सार है; इसलिए प्रथम, अपने में विशेषता है, रागादि में लाभ नहीं है – ऐसी स्वरूप की महिमा आवे तो सम्यग्दर्शन प्राप्त करने का ध्यान प्रगट होता है। निमित्त, राग और अल्पज्ञता में परिपूर्णता नहीं है, परिपूर्णता स्वभाव में है – इस प्रकार स्वभाव की तरफ एकता हुए बिना सम्यग्दर्शन नहीं होता और सम्यग्दर्शन के बिना चारित्र नहीं होता।

लोग कहते हैं कि कञ्चन, कामिनी और कुटुम्ब को छोड़े तो चारित्र होता; वस्तुतः यह कथन अज्ञानी का है।

क्रमबद्धपर्याय का नियम तो यह है कि वर्तती पर्याय की दृष्टि, निमित्त की तरफ है, उसकी दिशा बदलकर, स्वभाव की तरफ झुकाव कर कि मैं ज्ञानानन्द स्वभाव हूँ – ऐसा निर्णय करना ही पुरुषार्थ है, इसमें सन्देह नहीं है। स्वभाव सन्मुख होने पर ही यह निर्णय होता है कि सभी पदार्थों की पर्याय क्रमसर होती हैं, यही समकित है। इस प्रकार सम्यग्दर्शन होने के बाद चारित्रदशा होती है – अज्ञानी कहता है कि पहले दीक्षा लो, फिर समकित हो जाएगा। जबकि यहाँ कहते हैं कि समकित होने पर सम्यग्ज्ञान होगा और चारित्रदशा होगी। पहले सम्यक्त्व, सार है फिर ज्ञान और चारित्र, सार है।

प्रश्न – क्या अशुभभाव में से शुद्धदशा आती है ? शुद्धदशा तो शुभभाव में से

आती है; अतः पहले तो शुभभाव चाहिए न ?

समाधान - नहीं; पहले सम्यक्त्व, सार है। आत्मा त्रिकाल ज्ञानस्वरूप है, उसका ज्ञान करना वह विद्या 'शा विद्या या विमुक्तये' है। जिस विद्या से मुक्तदशा मिलती है, उसे विद्या कहते हैं। अज्ञानी बाहर से विद्या हुई मानता है। आत्मा का सम्यग्दर्शन होने पर ज्ञान, सच्ची विद्या नाम पाता है। प्रथम ज्ञान से पदार्थ का ज्ञान होता है; निश्चय-व्यवहार, द्रव्य-गुण-पर्याय का ज्ञान होता है परन्तु सम्यक्त्व के बिना उसमें सारपना नहीं है - ऐसा जानना चाहिए। ●

(- अष्टपाहुड़ प्रवचन भाग १ से साभार)



धन्य वह अद्भुत मुनिदशा!

अहाहा! मुनि किसे कहते हैं? कि जो शीघ्र-शीघ्र निज शुद्धात्मा में डुबकी लगाकर अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन करते हों, वे मुनि हैं। उनकी दशा अद्भुत है, जगत से न्यारी है। मुनि को अन्तर में अतीन्द्रिय आनन्द का ज्वार आता है। जिस प्रकार पूर्णमासी के पूर्णचन्द्र के योग से समुद्र में ज्वार आता है; उसी प्रकार मुनिराज को पूर्ण चैतन्यचन्द्र के एकाग्र अवलोकन से आत्मसमुद्र में ज्वार आता है, वैराग्य उमड़ता है, आनन्द उछलता है, सर्व गुण-पर्यायों में यथासम्भव वृद्धि होती है। अहा! मुनिराज का वैराग्य, राग के रसरहित उग्र विरक्तभाव कोई और ही है। धन्य वह मुनिदशा!

पञ्च परमेष्ठी में जिनका स्थान है, उन मुनिराज का अन्तर वैराग्य कोई अद्भुत है। वे स्वरूपानन्द में इतने लीन हुए हैं कि भूमिकानुसार जो महाव्रतादि का शुभराग आता है, वह भी दोष लगता है। यह सूक्ष्म बात है भाई!

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, वचनामृत प्रवचन, २/१९८

शील का परिवार

जीवदया दम सच्चं अचोरियं बंभचेरसंतोसे ।
सम्महंसण णाणं तओ य शीलस्स परिवारो ॥

अर्थ - जीवदया, इन्द्रियों का दमन, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, सन्तोष, सम्यग्दर्शन, ज्ञान, तप — ये सब शील के परिवार हैं ।

- शीलपाहुड़, गाथा १९

अब, कहते हैं कि जो भले अर्थात् उत्तमकार्य हैं, वे शील का परिवार है ।

जीवदया शील का परिवार है। जीवदया माने क्या? परजीव को जिलाना या मारना तो अपने अधिकार की बात नहीं है। उनकी पर्याय जिस समय जो होनी है, वह होती है। अपने स्वभाव में राग की उत्पत्ति नहीं होना और ज्ञानस्वभाव की उत्पत्ति होना, वह जीवदया है। मैं किसी परजीव की पर्याय को नहीं बदल सकता। उसे उसकी आयु अनुसार शरीर का संयोग रहता है। मैं तो अखण्डानन्द स्वरूप हूँ - ऐसे भानपूर्वक राग की उत्पत्ति नहीं होना, जीवदया है और वह शील का परिवार है।

इन्द्रियदमन शील का परिवार है। पाँच इन्द्रियों के विषय - प्रतिमा, वाणी इत्यादि; पाँच द्रव्येन्द्रियों तथा भावेन्द्रियों की रुचि छोड़कर, अतीन्द्रिय आत्मस्वभाव में लीन होना, इन्द्रियदमन है।

इन्द्रियाँ / द्रव्येन्द्रियाँ जड़ हैं; भावेन्द्रियाँ खण्ड-खण्ड हैं — क्या उनका दमन करना है? नहीं, खण्ड-खण्डरूप भावेन्द्रियों की रुचि छोड़कर, मति-श्रुतज्ञान में अतीन्द्रिय आनन्द का प्रत्यक्ष वेदन करना ही इन्द्रियदमन है और वह शील का परिवार है।

सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, सन्तोष, सम्यग्दर्शन, ज्ञान और तप - ये सब शील का परिवार है।

शीलस्वभाव का तथा प्रकृति का नाम प्रसिद्ध है। वहाँ मिथ्यात्वसहित कषायरूप ज्ञान की परिणति कुशील है। पुण्य से कल्याण होगा — ऐसे मिथ्या अभिप्रायसहित ज्ञान की परिणति, कुशील है।

अहो ! पण्डित जयचन्दजी ने बहुत सरस भावार्थ लिखा है।

तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् — यह निश्चयसम्यग्दर्शन है - ऐसे ज्ञान के साथ शुद्धता होना सुशील है। यह अविरत सम्यग्दृष्टि की बात है। तत्पश्चात् (श्रावकदशा में) प्रतिमाँ होती हैं। श्रावक को अतीन्द्रिय आनन्द वर्तता है। मन-वचन-काया से पार और राग से भी पार, अतीन्द्रिय आनन्द की वृद्धि होना, प्रतिमा और चारित्र है।

ज्ञान की परिणति का विपरीतभाव होना, कुशील है। ज्ञान, ज्ञाता-दृष्टारूप परिणति का परित्याग करके, निमित्त अथवा राग का अवलम्बन करता है, वह कुशील है, वह मिथ्यादृष्टि है, उसे मिथ्याचारित्र कहते हैं। मिथ्यात्वसहित परिणति को संसारप्रकृति कहते हैं।

- कर्म की एक सौ अड़तालीस प्रकृतियों में संसार नहीं है।

- स्त्री, परिवार, शरीर में संसार नहीं है।

- विकल्प से लाभ, राग से लाभ और राग तथा स्वभाव को भिन्न नहीं माननेवाली अज्ञानपरिणति ही संसार है।

लोग कहते हैं कि स्त्री, परिवार आदि का परित्याग कर दो, परन्तु भाई! वे तो छूटे हुए ही पड़े हैं। मैं ज्ञायक नहीं, किन्तु दया, दान, व्रत का कर्ता हूँ; निमित्त को मिलानेवाला हूँ - यह मान्यता संसार है। वह संसारप्रकृति आत्मा से दूर नहीं है क्योंकि वह आत्मा की ही विपरीत अवस्था है। संयोगी पदार्थ, आत्मा के साथ नहीं रहते; अतः वे संसार नहीं हैं। वस्तुतः तो ज्ञातास्वभाव को छोड़कर, पुण्य का ही अनुभव और निमित्त को मिलाने का अभिमान - यह ज्ञान का दुष्कर्म है, संसारप्रकृति है।

ज्ञाता-दृष्टास्वभावी आत्मा का भान न करके, दया, दान, व्रत का अर्थात् शुभराग

का कर्ता होना, संसारप्रकृति है, वह कुशील है। इस प्रवृत्ति के बदलने पर सुशील होता है। राग के काल में राग है, किन्तु स्वभाव में राग नहीं है। निमित्त से मुझे लाभ नहीं होता — यह ज्ञान की सम्यक्प्रकृति है।

भगवान आत्मा एक समय की पर्याय जितना नहीं है। दया, दानादि के भाव का मुझ में अर्थात् आत्मस्वभाव में अभाव है और परवस्तु का तो मुझ में अत्यन्त अभाव है; इस प्रकार सच्ची समझ करके, संसारप्रकृति को बदलना चाहिए।

ज्ञान का कार्य जानना है; राग अथवा संयोग को मिलाना ज्ञान का कार्य नहीं है। कर्मप्रकृति जड़ है, वह तो उसके कारण पलटती है। तुझे तो अपना लक्ष्य बदलना है। जो लक्ष्य संयोग, निमित्त अथवा अंश के प्रति है, वह कुशील अर्थात् संसारप्रकृति है। निमित्त, राग और अंशबुद्धि का परित्याग करके, मैं सर्वज्ञ होने योग्य हूँ — ऐसी दृष्टि करने से संसारप्रकृति पलट जाती है। ज्ञानानन्दस्वभाव की दृष्टि होने पर संसारप्रकृति पलट जाती है।

जड़ कर्म के कारण राग नहीं होता, कर्म तो कर्म के कारण आते-जाते हैं; इस प्रकार स्वभावदृष्टि होने पर संसारप्रकृति पलट जाती है।

सम्यक्दृष्टि को सुशील कहते हैं। जीव ने अनन्त बार मुनिव्रत धारण किया, अट्टाईस मूलगुण पालन के विकल्प किये, किन्तु स्वभाव का भान नहीं किया। अज्ञानी जीव, इनसे स्वभाव को लाभ होगा — ऐसी राग की रुचि को नहीं छोड़ता, स्वभाव की रुचि नहीं करता, इस कारण उसे संसार प्रकृति नहीं पलटती अर्थात् सुशील नहीं होता। उसने विपरीत अभिप्राय को पकड़ रखा है।

मुनिराज तो ज्ञानानन्दस्वरूप में लीनता करते हैं। उन्हें वस्त्र, पात्र आदि नहीं होते। मुनिराज को संयोग के क्रम में वस्त्र नहीं होते और राग के क्रम में भी निर्दोष आहार ग्रहण करने का ही राग होता है, तथापि उस राग से छूटकर स्वभाव में एकाग्र होना ही संसारप्रकृति का पलटना है। कोई कहता है कि वस्त्र, पात्र रहने और सदोष (उद्दिष्ट) आहार ग्रहण करने पर भी हमारे मुनिपना रहता है? इसका समाधान यह है कि यह बात मिथ्या है अर्थात् यह सम्भव ही नहीं है।

सम्यग्दर्शन होने पर कुदेवादि की मान्यता नहीं रहती और अनन्तानुबन्धी तीव्र राग भी नहीं होता। मुनि की दशा तो उच्च होती है, उन्हें वस्त्र-पात्र नहीं होते; वे सदोष आहार नहीं लेते, उन्हें एक घण्टे की निद्रा भी नहीं है क्योंकि छठवें गुणस्थान में वे एक घण्टे नहीं रहते। उनको बारम्बार छठा-सातवाँ गुणस्थान आता है। उनकी दशा सहज ही नग्न दिगम्बर हो जाती है। शरीर की नग्नदशा करना नहीं पड़ती। राग भी निर्दोष आहार ग्रहण करने का ही होता है। उन्हें, अजीव और राग से आत्मा भिन्न है - ऐसा भान है। पूर्णानन्दस्वभाव की रुचि में निमित्त और पुण्य की रुचि छूट जाती है; अतः संसारप्रकृति पलट जाती है।

सम्यग्दृष्टि को छियानवें हजार स्त्रियाँ होने पर भी, संसारप्रकृति पलट गयी है और वह मोक्ष के सन्मुख प्रवृत्ति कर रहा है। सर्व प्रथम पर को तथा राग को जाननहार हुआ; इसलिए प्रकृति पलट गयी है। देखो! कर्म पलटे तो संसारप्रकृति पलटती है — ऐसा नहीं है; संसारप्रकृति पलटने पर कर्म, कर्म के कारण पलट जाते हैं। पहले निमित्त और राग के प्रति लक्ष्य था, वह छूट गया। ज्ञानस्वभाव का ध्येय हुआ, इसलिए संसारप्रकृति पलट गयी है। जिस ज्ञान का कार्य जानना-देखना है, वह आ गया है; पर का कुछ भी करना नहीं रहा।

ज्ञान, कर्ता है और जानना, उसका कार्य है; ज्ञान, साधन है, ज्ञान का कार्य करके अपने को शुद्धता का दान देना, सम्प्रदान है; अपने में से ज्ञान निकालता है, वह अपादान है; अपने आधार से ज्ञान करता है, वह अधिकरण है; इस प्रकार ज्ञान में ही ज्ञान के षट्कारक है। अपने स्वभाव को साधन बनाने पर ज्ञान हुआ; इसलिए संसारप्रकृति का पलटना हुआ। इस प्रकार आत्मा के भान बिना श्रावक अथवा मुनिपना नहीं होता।

ज्ञानी को मैं निमित्त अथवा राग को लाता हूँ — ऐसी मिथ्यादृष्टि छूटकर स्वभाव की दृष्टि हुई है; इसलिए वह मोक्ष-सन्मुख हुआ है। **कर्म विचारे कौन, भूल मेरी अधिकाई** अर्थात् कर्म तो जड़ है, तू स्वयं बदल तो सब बदल जाएगा। हमारे कर्म का विपाक बहुत है — ऐसा अज्ञानी कहता है परन्तु कर्म तो अजीव हैं, वे तुझ में प्रविष्ट नहीं हुए हैं और आस्रव भी तेरे त्रिकालीस्वभाव में नहीं हैं - ऐसे भेदज्ञान के बिना सम्यग्दर्शन नहीं होता।

जो ज्ञान पुण्य-पाप, व्यवहार और निमित्त के सन्मुख होकर कार्य करता है, वह संसारप्रकृति, बन्ध का कारण है। स्वभाव के सन्मुख होना मोक्ष का कारण है। सम्यग्दृष्टि को राग का अभाव और शान्ति की वृद्धि होती है, वह दशा, स्वभाव सन्मुख क्रम-क्रम से बढ़कर पूर्ण होगी।

प्रकृति अर्थात् प्र - विशेष, कृति - कार्य। आत्मा का कार्य क्या है ? क्या जड़ को छोड़ना, आत्मा का कार्य है ? नहीं। जो राग होता है, उसे छोड़ना क्या ? दूसरे समय तो वह राग टल ही जाता है, उसे छोड़ना कैसा ? परन्तु आत्मस्वभाव रागरहित है - ऐसी श्रद्धा-ज्ञान करना ही आत्मा का ज्ञान है, यही करना है। आत्मा क्या करता है ? राग की विपरीत-दशा अथवा सम्यग्दशा करता है; अन्य कुछ नहीं करता। यहाँ जीवदया आदि कहे हैं, वे सब शील का परिवार हैं।

जड़ विषयों से भिन्न, ज्ञानस्वभाव में एकाग्र होना इन्द्रियदमन है। पाँच इन्द्रियाँ और इन्द्रियों के विषय तथा भावइन्द्रियों की दृष्टि छोड़कर, ज्ञानस्वभाव में एकाग्र होना ही इन्द्रियदमन है। इसका नाम सदाचरण है। मैं निमित्त और विकल्प से भिन्न हूँ — ऐसे निर्णयपूर्वक, ज्ञानस्वभाव में स्थिर रहना और राग के अभावरूप होना सदाचरण है, वह शील का परिवार है।

यहाँ परवस्तु के ग्रहण की तो बात ही नहीं है किन्तु मैं परवस्तु का ग्रहण न करूँ — यह भाव भी राग है। उस राग से पृथक् होकर स्वभाव में जुड़ान करना अचौर्य है। आत्मा सच्चिदानन्दस्वरूप है, उसमें रमना ब्रह्मचर्य अर्थात् सुशील है। शारीरिक ब्रह्मचर्य पालन करना तो राग है।

सन्तोष अथवा परिग्रह में भी मात्र वस्त्र-त्याग की ही बात नहीं है, अपितु अन्तरङ्ग में राग की उत्पत्ति नहीं होना और स्वभाव में अरागी परिणति उत्पन्न होना सन्तोष है। मैं परवस्तु का ग्रहण-त्याग करनेवाला नहीं हूँ। इस प्रकार जानकर, ज्ञानस्वभाव में एकाग्र रहना सन्तोष है, वह शील का परिवार है।

सम्यग्दर्शन होने पर वैराग्य होता है। जिसे पाप और पुण्य अच्छा लगता है, उसको वैराग्य नहीं होता। पुण्य-पाप से हटकर, ज्ञानस्वभाव में रहना वैराग्य है। पर्यायबुद्धि

छोड़कर, व्यवहाररत्नत्रय की बुद्धि छोड़कर, निमित्त के अवलम्बन की बुद्धि छोड़कर, स्वभाव के अवलम्बन की रुचि होने पर निर्मल पर्याय प्रगट होती है और संसार का अभाव होता है। अब तक जीव, संसार की वृद्धि और मोक्ष की हानि करता आया है। अब सम्यग्दर्शन होने पर संसार की हानि होती है।

मैं भव्य हूँ अथवा अभव्य, जिसको यह भी पता नहीं पड़ता, वह मूढ़ है। मुझ में संसार नहीं है, जिसको ऐसा निश्चय हुआ, उसको भव्य-अभव्य की शङ्का नहीं रहती। जिसके संसार का किनारा निकट आया है, उसको सुशील प्रवृत्ति होती है। आत्मा ज्ञानदर्शन की निधि है — ऐसे ज्ञानस्वभाव में एकाग्र होनेवाले को संसार का अन्त आ जाता है। उसको निश्चय हो जाता है कि मैं भव्य ही हूँ; इसलिए मेरा अनन्त संसार नहीं है। आत्मस्वभाव में राग नहीं है और राग में स्वभाव नहीं है। ज्ञानी को विभाव से हटकर स्वभाव में आने से संसार का अभाव हुआ है, स्वभाव अभिव्यक्त हुआ है।

मैं भव्य हूँ या अभव्य; भगवान् कहे तो हमें पता पड़े — ऐसी शङ्कावाले को तत्त्व की शङ्का है। केवलज्ञानी ने मेरे अनन्त भव देखें होंगे तो ? ऐसी शङ्का करनेवाला मिथ्यादृष्टि है। एक समय का विकार, संसार है, शरीर, कर्म तो पर हैं, उनका आत्मा में अत्यन्त अभाव है। विकार आत्मा की एक समय की पर्याय में है। मिथ्याश्रद्धा, ज्ञान तथा राग-द्वेष, आत्मा की विकारी पर्याय में है। विकार की रुचि पलटकर ज्ञाता-दृष्टा होने से भव्य-अभव्य की शङ्का का नाश होना सुशील है।

तत्त्वार्थश्रद्धान में यही बात आती है कि मैं ज्ञायक हूँ, मुझ में संसार नहीं है, आस्रव ज्ञेय है, ज्ञायकस्वभाव में विभाव का प्रवेश नहीं है — ऐसी श्रद्धावाले को सुशील कहते हैं, उसे अल्पकाल में मुक्ति प्राप्त होगी। जिसे यह शङ्का है कि मेरा अनन्त संसार है, उस जीव को तत्त्वश्रद्धान नहीं है। नवतत्त्वों में आत्मा चैतन्यस्वभावी है। आस्रव एक समय की पर्याय है, चैतन्यस्वभाव में आस्रव का अभाव है; मेरे अनन्त भव नहीं हैं — ऐसी श्रद्धा-ज्ञानवाले को सुशील कहते हैं। जीवदया आदि उसका परिवार है।

जिसे सुशील प्रवृत्ति न हो, उसे संसार का परिभ्रमण होता है। मुझे विकार होता है; इसलिए विकार में अनन्त संसार रहेगा — ऐसी श्रद्धावाले को संसार-परिभ्रमण रहता है।

जिसे एक समय के विकार का तो आदर हुआ, किन्तु अनादि-अनन्त विद्यमान चैतन्यस्वभाव का अनादर हुआ, वह संसार में परिभ्रमण करता है। भाई! एक बार सुन तो सही!! तेरा स्वभाव तो ज्ञान-दर्शन है, परिपूर्ण है और विकार से शून्य है; स्वभाव निमित्त के संयोग से शून्य है। अन्तर्मुख होकर ऐसे स्वभाव का कार्य दृष्टि में आनेवाले को शङ्का नहीं रहती, भगवान से पूछना नहीं पड़ता। मेरा स्वभाव, ज्ञान-आनन्द से परिपूर्ण है — ऐसी श्रद्धा नहीं होनेवाले को स्वभाव की शङ्का रहती है कि आत्मा अरूपी है अथवा रूपी, इसका अपने को कुछ भी पता नहीं पड़ता — ऐसा जीव प्रकटरूप से मिथ्यादृष्टि है, उसे तत्त्वार्थश्रद्धान का पता नहीं है। जीवस्वभाव में आस्रव नहीं है, राग की एकता नहीं है। ऐसे ज्ञानस्वभाव में एकता किए बिना संसारप्रकृति रहती है; इसलिए संसार परिभ्रमण रहेगा — ऐसा जानना।

शील में पाँच महाव्रत निश्चयरूप जानना चाहिए। पुण्य-पाप से रहित और ज्ञान-स्वभाव में एकाग्रता होना तप है और वह भी शील का परिवार है। ●

(- सदगुरु प्रवचन प्रसाद, वर्ष १९५६)

अहो! ऐसी दशा का नाम चारित्र या मुनिपना

अहो! जिन्होंने आत्मा को हथेली की रेखा के समान अन्दर में देखा है, वे मुनि हैं। उन्होंने सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान होने पर पहले से ही 'आत्मा ऐसा है' — यह देखा और जाना था; इसलिए उन धर्मात्माओं को आगे बढ़कर स्वरूप में स्थिर होने में कोई आश्चर्य की बात नहीं है, यह तो उनका स्वरूप ही है। अहो! उनका अवतार धन्य है न!

भगवान आत्मा सच्चिदानन्द स्वरूप है। सत् + चित् + आनन्द अर्थात् शाश्वत ज्ञान और आनन्द का सागर है। उसमें शरीर, वाणी और मन तो नहीं; परन्तु दया, दान, व्रत का राग / विकल्प भी नहीं है। उस आत्मा में बसना, अतीन्द्रिय आनन्द में स्थिर होना सत्पुरुषों के लिए आश्चर्यकारी बात नहीं है, क्योंकि वह धर्मात्मा की स्थिति ही है, वैसी ही उनकी दशा है, वैसा ही उनका स्वरूप है। अहो! ऐसी दशा का नाम चारित्र और मुनिपना है।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, प्रवचन-रत्न चिन्तामणि, ३/५६

अहो! मुनिराज की समता और समाधि

सहज वैराग्यपरिणतिवाले मुनिवरो को मृत्यु का भय नहीं है। मैं तो देह से भिन्न ज्ञानानन्दस्वभावी हूँ - ऐसे भान में मरण का भय नहीं होता; वहाँ आत्मा के आनन्द में लीन होने से चैतन्य समाधि का महोत्सव होता है.... अहो! मुनि तो आनन्दसागर में निमग्न हैं; आनन्दसागर से बाहर निकलकर परलक्ष्य करने का उन्हें अवकाश ही कहाँ है ?

देखो, यह वीतरागमार्ग के मुनियों की समाधि! ऐसी दशा में वर्तते हुए मुनिराज कहते हैं कि हम तो साक्षीस्वरूप चैतन्यमूर्ति हैं। अपने ज्ञानानन्दस्वभाव के साथ सम्बन्ध जोड़कर हमने जगत् का सम्बन्ध तोड़ दिया है; इसलिए हमारे कोई आशा नहीं है, किन्तु स्वभाव की समाधि वर्त रही है। जगत् के जीवों में हमें समता है। आत्मा में ऐसी दशा प्रगट हो, वही शान्ति और शरणरूप है।

अहो! ऐसे निर्ग्रन्थ महात्माओं के वीतरागमार्ग में हम कब विचरेंगे? हम कुन्दकुन्दाचार्यादि दिगम्बर सन्तों के पद चिह्नों पर विचरें - ऐसा धन्य अवसर कब आयेगा!!

यह नियमसार की १०४वीं गाथा है। अन्तर्मुख परम तपोधन की भावशुद्धि कैसी होती है? अर्थात् मोक्षमार्ग के साधक मुनिवरो को समता तथा समाधि कैसी होती है? वह इसमें कहते हैं -

सम्मं मे सव्वभूदेसु वेरं मज्झं ण केणवि।

आसाए वोसरित्ता णं समाहि पडिवज्जए ॥ १०४ ॥

जिसे सर्व प्राणियों के प्रति समभाव हो, किसी के साथ वैरभाव न हो, उस जीव की दशा कैसी होती है ? वह यहाँ बताते हैं। चैतन्य में एकाग्रता होने पर, यह मेरे मित्र और यह शत्रु – ऐसी राग-द्वेषरूप परिणति ही जिसे नहीं होती, उस जीव का किसी के प्रति बैर नहीं होता। परजीव तो मुझसे भिन्न ही है और ये पाँच जड़ इन्द्रियाँ भी मुझसे पृथक् हैं; इन्द्रियों की ओर के खण्ड-खण्ड ज्ञान जितना भी मैं नहीं हूँ; मैं तो अखण्ड ज्ञायकतत्त्व हूँ – ऐसा जिसे भान हुआ हो, उसे किसी पर को शत्रु या मित्र मानकर राग-द्वेष नहीं होता और फिर स्वरूप में विशेष लीनता होने पर रागपरिणति का ही अभाव हो जाने से किसी के प्रति शत्रुता या मित्रता का भाव नहीं होता; इसलिए वास्तव में उसे सर्व जीवों के प्रति समभाव है, मुनिवरों को ऐसा समभाव होता है।

यहाँ मुनिराज कहते हैं कि हमने अपना उपयोग तो अतीन्द्रिय आत्मा में लगाया है और समस्त इन्द्रियों का व्यापार छोड़ दिया है; अतीन्द्रियस्वभाव के वेदन में हमें दूसरे धर्मात्मा अथवा ज्ञानी – सभी के प्रति समता है। देखो, इसमें दूसरे जीवों को क्षमा करने की बात नहीं ली है, क्योंकि दूसरों को क्षमा करने का विकल्प भी राग है। यहाँ तो कहते हैं कि अतीन्द्रिय चैतन्य की ओर के उपयोग के कारण हमें समता है और समता होने से किसी के प्रति वैरभाव नहीं है। एक का आदर और दूसरे का अनादर – ऐसा राग-द्वेष का भाव ही हमें नहीं होता। देखो, यह विकल्प की बात नहीं है, किन्तु मुनियों के अन्तर में ऐसी सहजपरिणति हो जाती है।

चैतन्य की साधना करनेवाले धर्मात्मा हमारे साधर्मी हैं; इसलिए हमें उनके प्रति प्रेम रखना चाहिए और अमूक जीव, धर्म के विरोधी हैं; इसलिए उनके प्रति द्वेष रखना चाहिए – ऐसा तो सम्यक्त्वी भी नहीं मानते। सम्यक्त्वी को भूमिकानुसार साधर्मी धर्मात्मा के प्रति उल्लास एवं वात्सल्य का भाव आता है, किन्तु वह पर के कारण नहीं आता और सदैव वह भाव करता रहूँ – ऐसी भी उनकी बुद्धि नहीं है।

मुनियों को इन्द्रियों की ओर का व्यापार छूट गया है; इसलिए उन्होंने ऐसा जाना है कि मेरा ज्ञान, इन्द्रियों के आलम्बन से रहित है। जिसके इन्द्रियविषयों की आशक्ति दूर गयी है, उसे कोई भी जीव, शत्रु या मित्ररूप दिखायी नहीं देता। मैं तो ज्ञान हूँ; धर्मात्मा हो

या मिथ्यादृष्टि हो, किन्तु वह कोई मुझे राग या द्वेष के कारण नहीं है - ऐसी बुद्धि होने से धर्मात्मा को पर के प्रति मित्र या शत्रु की बुद्धि से राग-द्वेष नहीं होते।

यहाँ तो मुनिदशा के समभाव की बात है। मुनिराज कहते हैं कि मैं तो ज्ञानरूप ही रहना चाहता हूँ। मैंने समस्त इन्द्रियविषयों का व्यापार छोड़ दिया है, पर के प्रति मेरी परिणति नहीं जाती; इसलिए जगत् के सर्व जीवों के प्रति मुझे समता है। परमात्मा हो अथवा पामर हो, सर्व जीवों के प्रति मुझे समता है। भगवान के प्रति अथवा गुरु के प्रति भक्ति का प्रमोद आये, उसका सम्यक्त्वी ज्ञाता ही है। यह प्राणी मेरे लिए अच्छा और यह बुरा - ऐसा सम्यक्त्वी की दृष्टि में नहीं है।

मुनियों को भी कभी-कभी ऐसा खेद होता है कि अरे रे! अज्ञानी जीव, आत्मा के हित की ऐसी बात क्यों नहीं समझते! ऐसा विकल्प आये, वह भी साधकभाव में बाधकरूप है; मुनियों को उससे भिन्नत्व का भान वर्तता है। अज्ञानी जीव, भेदज्ञान के बिना समता रखे और कोई जला दे, तब भी क्रोध न करे; तथापि वास्तव में उसके समभाव का अंशमात्र भी नहीं है क्योंकि समभाव करनेवाला जो ज्ञानस्वरूप आत्मा है, उसकी तो उसे खबर ही नहीं है और इन्द्रियविषयों का व्यापार छोड़ा नहीं है। अतीन्द्रिय आत्मा के लक्ष्य बिना इन्द्रियविषयों का व्यापार नहीं छूटता और इन्द्रियविषयों को आलम्बन छूटे बिना पर के प्रति राग-द्वेष दूर नहीं होते; इसलिए उसके समता हो ही नहीं सकती। वह 'महावीर' का नाम लेते हुए शरीर त्याग करे, तथापि उसके समभाव नहीं है। मुनियों ने तो भेदज्ञान करके इन्द्रियों का व्यापार छोड़ दिया है और परिणति को आत्मा में जोड़ दिया है; इसलिए उनके समभाव ही है, उन्हें किसी के प्रति राग-द्वेष की परिणति नहीं होती है।

जो स्वयं तो अपने ज्ञान में लीन हैं, परिणति को आनन्द के ही वेदन में लगा दिया है, वहाँ जगत् में कौन मित्र और कौन शत्रु? कोई वीतरागशासन का महान शत्रु हो, तथापि उसके प्रति शत्रुता या वैरभाव नहीं होता और महान धर्मात्मा के प्रति मित्रता का रागभाव नहीं होता। आत्मा तो ज्ञायक है, उसका स्वभाव ज्ञाता है, वह किसे नहीं जानेगा? सबके जानने का स्वभाव है, किसी के प्रति राग-द्वेष की वृत्ति करने का ज्ञान का स्वभाव नहीं है; इसलिए जिसने ज्ञानस्वभाव में उपयोग को लगाया है, उसे किसी के प्रति राग-द्वेष नहीं

होते - इसी का नाम सर्व जीवों के प्रति समभाव है ।

मुनियों के ऐसी राग-द्वेषरहित वैराग्यपरिणति होती है, इसलिए कोई आशा नहीं वर्तती । यह वस्तु ऐसी हो तो ठीक और यह वस्तु ऐसी न हो तो ठीक - ऐसी किसी भी परपदार्थ की आशा मुनियों के नहीं होती, क्योंकि उन्हें चैतन्य की परिणति में सहज वैराग्य वर्तता है । भगवान से साक्षात् भेंट हो तो ठीक और शत्रु दूर हो तो ठीक - ऐसी आशा, मुनिवरो के सहज वैराग्य परिणति में नहीं होती; उनके तो परम समरसी भाव के वेदन में परम समाधि का ही आश्रय वर्तता है । सम्यक्त्वी के अभी अल्प राग-द्वेषपरिणति होने पर भी, उसकी अन्तरदृष्टि में चैतन्यस्वभाव का आश्रय वर्तता है और पर के प्रति राग-द्वेष का अभिप्राय छूट गया है ।

यहाँ तो सम्यग्दर्शन के पश्चात् मुनिदशा में शुद्धपरिणति होने पर कैसी समाधि वर्तती है ? उसकी बात है । ऐसे मुनिवर और धर्मात्माओं को मृत्यु भी महोत्सव है... वहाँ चैतन्य की समाधि का महोत्सव होता है; उन्हें मृत्यु का भय नहीं है । जगत् के मूढ़ जीवों को मृत्यु का डर है, किन्तु मैं तो ज्ञानानन्दस्वभावी हूँ - ऐसे स्वभाव के भान में धर्मात्मा को मृत्यु के समय भी शान्ति और समाधि का महोत्सव है, उसे मरण का भय नहीं है । देखो, सुकोशल मुनि के शरीर को व्याघ्री फाड़ खाती है, किन्तु उन मुनिराज को किसी के प्रति बैरभाव नहीं है, आत्मा के स्वभाव में लीन होने से उनके अतीन्द्रिय आनन्दमय परम समरसीभाव झरता है, उसमें सर्व जीवों के प्रति समभावरूप परम समाधि वर्तती है । ऐसी सहज वैराग्यपरिणति में कोई मित्र या शत्रु है ही नहीं ।

आत्मा की समाधि में मुनिवरो को अनाकुल आनन्द का ही वेदन है, अन्य कोई विकल्प या चिन्ता की आकुलता उसमें नहीं है । शरीर को फाड़ खानेवाले सिंह-व्याघ्र पर द्वेष नहीं है । यह मेरा शत्रु - ऐसी द्वेष की वृत्ति भी उत्पन्न नहीं होती है । अरे ! आत्मा के आनन्द में ऐसी लीनता हो गयी है कि 'यह सिंह मेरे शरीर को खा रहा है' - इतना भी परलक्ष्य जहाँ नहीं होता - ऐसी उत्तम समाधि है और उसका फल मोक्ष है । इसका नाम-

**शत्रु-मित्र के प्रति वर्ते समदर्शिता,
मान-अमान में वर्ते वही स्वभाव जब ।**

जन्म-मरण में हो नहिं न्यून-अधिकता,
भव-मुक्ति में भी वर्ते समभाव जब ॥

समस्त आत्माएँ ज्ञानस्वभावी ही है - ऐसी दृष्टि में किससे राग अथवा द्वेष होगा ? समस्त आत्माएँ ज्ञानस्वभावी परिपूर्ण भगवान हैं; कौन किसके साथ वैर करे ? और कौन किसके साथ मित्रता ? योगीन्दु मुनिराज कहते हैं कि कौन किसकी समता-स्थिरता करे ? कौन किसकी सेवा-पूजा करे ? कौन किसका स्पर्श करे या छोड़े -

‘कौन किसके मैत्री करे, किसके साथ कलेश;
जहाँ देखूँ वहाँ जीव सब, शुद्ध बुद्ध ज्ञानेश।’

अहो ! शुद्धस्वभाव की दृष्टि से देखने पर सर्व आत्मा शुद्ध ज्ञान की ही मूर्ति है। स्वभाव में बड़प्पन और हीनता है ही नहीं। ऐसे शुद्ध आत्मस्वभाव की दृष्टि में ज्ञानी को राग-द्वेष का अभिप्राय नहीं है। चौथे गुणस्थान में भी सम्यक्त्वी को ऐसा वीतराग अभिप्राय तो हो गया है, तथापि अस्थिरता के कारण अभी राग-द्वेष की अल्प वृत्ति होती है और मुनियों के तो अभिप्राय के उपरान्त ऐसी रागरहित स्थिरता हो गयी है कि किसी के प्रति शत्रु-मित्रता की वृत्ति उत्पन्न ही नहीं होती है। उनके समीप अन्य जीव, वैरभाव छोड़ें या न छोड़ें, किन्तु उन्हें किसी के प्रति वैरभाव नहीं होता है, इसका नाम वीतरागी अहिंसा है। उसका फल बाह्य में नहीं आता, किन्तु अन्तर में अनाकुल शान्ति का वेदन होता है; यही उसका फल है, फिर वहाँ समीप ही दूसरे जीव, हिंसा के परिणाम करें तो उससे कहीं मुनिराज की वीतरागी अहिंसा में दोष नहीं है।

मुनिराज को शरीर को फाड़ खानेवाले सिंह के प्रति द्वेष नहीं है, यह मेरा शत्रु — ऐसी द्वेष की वृत्ति भी उत्पन्न नहीं होती है। अरे ! समाधि में स्थित मुनियों को इतना भी परलक्ष्य कहाँ है कि यह सिंह है और शरीर को खा रहा है ? तथा चक्रवर्ती राजा आकर चरणों में नमस्कार करते हों तो वहाँ राग की वृत्ति नहीं होती - ऐसी वीतरागपरिणति का नाम समाधि है। इसके अतिरिक्त आत्मा के भान बिना हठयोग ले अथवा जीवित धरती में गड़ा रहे, वह कहीं समाधि नहीं है; उसमें तो आत्मा की अनन्त असमाधि है। यहाँ तो ज्ञान में एकाग्र होकर आनन्द के वेदन में पड़े हैं - ऐसे मुनिवरो की समाधि की बात है।

ऐसी परिणति में मुनियों को कोई आशा नहीं है, किन्तु परम उदासीनतारूप समाधि अर्थात् आत्मा के शान्तरस में लीनता वर्तती है।

आधि, व्याधि और उपाधि से रहित आत्मा की परिणति, वह समाधि है। शरीर सम्बन्धी; मन सम्बन्धी अथवा स्त्री-पुत्रादि भिन्न पदार्थों की चिन्ता - इन तीनों प्रकार की चिन्ताओं से पार ज्ञानस्वभाव का चिन्तवन अर्थात् एकाग्रता का नाम समाधि है, उस समाधि में अनाकुल आनन्द का ही वेदन है; अन्य कोई विकल्प अथवा चिन्ता की आकुलता उसमें नहीं है।

जगत् में दूसरा कोई इस आत्मा का शत्रु या मित्र नहीं है। आत्मा का मित्र - ऐसा जो परम स्वभाव, उसमें जो लीन हो गये हैं; इसलिए बाह्य में किसी के प्रति 'यह मेरा मित्र' - ऐसा राग का विकल्प मुनियों को नहीं होता और आत्मा के शत्रुरूप मोहभाव का तो नाश हो गया है; इसलिए बाह्य में किसी के प्रति 'यह मेरा शत्रु' - ऐसी द्वेष की वृत्ति भी नहीं होती, ऐसी मुनियों की दशा है। सिंह आकर शरीर को फाड़ खाते हों, वहाँ मुनि ऐसा विचार करते हैं कि मुझे शरीर की आवश्यकता नहीं है और यह सिंह आकर उसे लिये जा रहा है तो यह मेरा मित्र है - ऐसा समझाने के लिए कहा जाता, वरना देह के प्रति या सिंह के प्रति इतना शुभविकल्प उठे तो वह भी वास्तव में समाधि का भङ्ग है। समाधि में लीन मुनियों को तो इतना शुभविकल्प भी उत्पन्न नहीं होता।

अहो! मुनि तो आनन्दसागर में निमग्न हैं, उन्हें आनन्दसागर से बाहर निकलकर परलक्ष्य करने का अवकाश ही कहाँ है? देखो, यह वीतराग मार्ग के मुनियों की समाधि! 'यह शरीर तथा कुटुम्ब, पुत्रादि सब जीव के शत्रु हैं, इसलिए इनका त्याग करो' - इस प्रकार पर को शत्रु मानकर छोड़ना चाहे, वह तो मिथ्यादृष्टि है; उसे समभाव नहीं, किन्तु पर के प्रति महान् द्वेषभाव है। पुनश्च, 'राजा अत्याचारी हो तो उसका विरोध करना ही चाहिए' - ऐसी जिसकी मान्यता है, उसे जहाँ-जहाँ और जब-जब अत्याचारी राजा होगा, वहाँ-वहाँ और तब-तब द्वेषभाव करने का ही अभिप्राय हुआ; वीतरागता का अभिप्राय तो नहीं हुआ, उसे तो किञ्चित् भी समभाव नहीं होता। ज्ञानी को कभी-कभी द्वेषभाव हो जाए, किन्तु अभिप्राय ऐसा नहीं होता कि वहाँ द्वेष करना ही चाहिए अथवा राजा अत्याचारी

है; इसलिए मुझे द्वेष करना पड़ता है - ऐसा अभिप्राय भी नहीं है, इसलिए उन्हें दृष्टि में तो समभाव ही वर्तता है, तदुपरान्त यहाँ तो राग-द्वेषरहित वीतरागी समभाव की बात है।

सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक वीतराग समाधिरूप परिणमित मुनि कहते हैं कि इस जगत् में हमारा कोई मित्र अथवा शत्रु नहीं है; इसलिए हमें किसी की आशा नहीं है। श्रद्धा से ऐसा स्वीकार किया है कि 'मैं तो परिपूर्ण ज्ञायकमूर्ति ही हूँ' - उसमें अन्य किसी की आशा नहीं है। ज्ञान से ऐसा भेदज्ञान किया है कि 'जगत् के समस्त पदार्थों से मेरा ज्ञानानन्दस्वभाव भिन्न है', इसलिए उसमें भी किसी की आशा नहीं है और चारित्र से अन्तरस्वरूप में लीन होकर राग-द्वेष की वृत्ति ही तोड़ दी है; इसलिए उसमें भी किसी की आशा नहीं है। इस प्रकार मुनि, आशारहित होकर रत्नत्रय की एकतारूप समाधि में परिणमित हो गये हैं।

किसी भी प्रकार की इच्छा, आत्मा की पवित्रता को / वीतरागता को रोकनेवाली है। जो इच्छा, आत्मा की वीतरागता न होने दे, उसकी इच्छा ज्ञानी क्यों करेंगे? आत्मा की इच्छा से बाह्य में शरीर की निरोगता आदि कुछ नहीं हो जाता, इसलिए इच्छा, पर में भी व्यर्थ है और स्वयं की पवित्रता को रोकनेवाली है तो ज्ञानी उसकी इच्छा क्यों करेंगे? मेरा ज्ञानस्वभाव इच्छा से पृथक् ही है - ऐसे भेदज्ञानपूर्वक ज्ञान में एकाग्र होकर मुनियों ने इच्छा को छोड़ दिया है - उसका नाम समाधि है। इसलिए कहा है कि - 'आशा को छोड़कर समाधि की प्राप्ति करता हूँ' - ऐसी मुनियों की अन्तरदशा होती है। अभी तो जिसे ऐसा अभिमान हो कि मैं अपनी इच्छा से देहादि की क्रिया करता हूँ, वह जीव, पर के अहङ्कार में रुका है, वह तो मिथ्यादृष्टि है; उसे आशा नहीं छूटती और न समाधि होती है।

समता मुझे सब जीव प्रति वैर न किसी के प्रति रहा।

मैं छोड़ आशा सर्वतः धारण समाधि कर रहा ॥ १०४ ॥

देखो, यह मुनियों के भाव की शुद्धता! 'मुझे सर्व जीवों के प्रति समता है, मेरा किसी के साथ बैर नहीं है। सचमुच आशा को छोड़कर मैं समाधि की प्राप्ति करता हूँ' - ऐसी परिणति, मुनियों के हो जाती है।

अहो! मैं तो नित्य ज्ञानस्वभावी चैतन्यवस्तु हूँ, मैं किसी का मित्र या शत्रु नहीं हूँ और कोई मेरा मित्र या शत्रु नहीं है; पर के साथ का सम्बन्ध तोड़कर मैंने अपने स्वभाव के साथ

सम्बन्ध जोड़ा है; इसलिए मुझे किसी की आशा नहीं है, मैं सर्व प्रकार की आशा छोड़कर चैतन्य में लीन होता हूँ। श्रीकुन्दकुन्दाचार्यदेव कहते हैं कि हम राग-द्वेषरहित परमसमाधि में स्थिर हुए हैं और हे जगत् के जीवो! जो हमने किया है, वह तुम भी करो।

मुनिराज कहते हैं कि अज्ञानी हो अथवा भेदज्ञानी हो, मुझे उनके प्रति समता है; इसलिए वास्तव में तो वृत्ति बहिर्मुख जाती ही नहीं। बहिर्मुख वृत्ति छोड़कर, मैं तो अपने चैतन्य में ही अन्तर्मुख होता हूँ, इसलिए बाह्य में मुझे किसी के प्रति राग या द्वेष नहीं है। 'अपूर्व अवसर' में ऐसा कहा है कि - 'शत्रु मित्र के प्रति वर्ते समदर्शिता...' और यहाँ कहते हैं कि ज्ञानी अथवा अज्ञानी के प्रति समता है। जगत् के जीव अपने-अपने परिणमन प्रवाह में बह रहे हैं, अपने परिणमन से बाहर निकलकर दूसरों का कुछ बिगाड़ने या सुधारने में कोई समर्थ नहीं है। मैं तो अपने वीतरागी आनन्द के प्रवाह में लीन होता हूँ; इसलिए मुझे किसी के साथ शत्रुता या मित्रता नहीं है। मैं ज्ञायक, ज्ञायकरूप ही रहता हूँ; राग-द्वेषरूप परिणमित नहीं होता; इसलिए ज्ञेय में भी एक इष्ट और दूसरा अनिष्ट - ऐसे भाग नहीं करता।

मुनि जहाँ निर्विकल्प समाधि में स्थिर होते हैं, वहाँ केवलज्ञानी भगवान के प्रति वन्दनादि का विकल्प भी नहीं रहता और शासन के विरोधी मूढ़ जीवों के प्रति द्वेषादि का विकल्प भी नहीं होता - ऐसी तो छद्मस्थ मुनि की दशा है। तब फिर केवलज्ञान होने के पश्चात् भगवान किसी को वन्दनादि करें, यह बात तो रही ही कहाँ? यह तो महान विपरीत बात है।

कोई दुष्ट जीव आकर बैरभाव से महान उपसर्ग करे अथवा चक्रवर्ती राजा आकर भक्तिपूर्वक चरणों में गिरे, तथापि समाधिवन्त मुनियों को दोनों में समता है, किन्तु उन्हें द्वेष या राग नहीं होता; एक मेरा शत्रु और दूसरा मित्र - ऐसी वृत्ति नहीं होती। शरीर में महान रोग हो अथवा महान ऋद्धियाँ प्रगट हों, तथापि मुनियों को समभाव है; एक अनिष्ट और दूसरा इष्ट - ऐसा राग-द्वेष नहीं है। हम तो अपने चैतन्य की केवलज्ञान ऋद्धि के साधक हैं, वहाँ इस जड़ ऋद्धि का आदर कैसे हो सकता है? अशरीरी सिद्धपद के साधक हैं, वहाँ इस शरीर के प्रति राग कैसे हो सकता है? इस प्रकार मुनियों को समभाव होता है।

बहु उपसर्ग कर्ता के प्रति भी क्रोध नहीं,
वन्दे चक्री तो भी मान न होय जब।
देह जाय पर माया नहीं हो रोम में,
लोभ नहीं हो प्रबल सिद्धि निदान जब ॥

अहो ! ऐसे निर्ग्रन्थ महात्माओं के वीतरागमार्ग में हम कब विचरेंगे ! वह धन्य अवसर हमारे जीवन में कब आयेगा !! - इस प्रकार श्रीमद् राजचन्द्रजी ने भावना भायी है। 'विचरूँगा कब महत्पुरुष के पन्थ जब'.... उन महान पुरुषों के पन्थ में अर्थात् कुन्दकुन्दाचार्यादि दिगम्बर सन्तों के पदचिह्नों पर हम कब विचरेंगे ! - ऐसी भावना भायी है। जबकि यह शास्त्रकार तथा टीकाकार मुनिवर तो उसी दशा में वर्त रहे हैं, इसलिए कहते हैं कि अहो ! हम तो चैतन्यमूर्ति साक्षीस्वरूप हैं। अपने ज्ञानानन्दस्वभाव के साथ सम्बन्ध जोड़कर, हमने जगत् के साथ का सम्बन्ध तोड़ दिया है; इसलिए हमें कोई आशा नहीं है, किन्तु स्वभाव की समाधि वर्तती है। हमें जगत् के सर्व जीवों के प्रति समता है। देखो, यह दशा ! आत्मा में ऐसी दशा प्रगट हो, वही शान्ति और शरणरूप है, इसके अतिरिक्त जगत् में अन्य कोई शरणभूत नहीं है। भाई ! जगत् के जड़ या चेतन समस्त पदार्थ अपने परिणामन प्रवाह से परिवर्तित होते रहेंगे, तू उसमें क्या करेगा ? तू अपने ज्ञानस्वभाव को सम्हालकर ज्ञातारूप रहे, तो तुझे समता और शान्ति होगी। ●

- आत्मधर्म, वर्ष 12, फरवरी 1975, अंक-10
(श्री नियमसार गाथा 104 पर पूज्य गुरुदेवश्री का प्रवचन)



समाधि परिणत : वीतरागी सन्त

मुनिराज समाधिपरिणत हैं।

निज शुद्धात्मद्रव्यस्वभाव के आश्रय से सम्यग्दर्शन होने पर प्रथम शुद्धोपयोग होता है। उपयोग के तीन भेद हैं – शुभ, अशुभ और शुद्ध। शुभ और अशुभ – यह दोनों उपयोग रागस्वरूप होने से आस्रव-बन्ध का कारण हैं और शुद्ध-उपयोग अरागस्वरूप होने से संवर-निर्जरा का कारण है। चतुर्थगुणस्थान अर्थात् सम्यग्दर्शन तो निज शुद्ध चैतन्यघन ज्ञायकवस्तु को शुद्धोपयोगपूर्वक ग्रहण करने से, प्रतीति में लेने से, प्रगट होता है। ३८९ वें बोल में आ गया है न! कि सम्यग्दर्शन 'ज्ञायक ऊँचे चढ़कर-ऊर्ध्वरूप से विराजता है, दूसरा सब नीचे रह गया होता है।' पर्याय में अस्थिरताजनित रागादि होते हैं परन्तु वे सदा गौणरूप रहते हैं, आत्मा ही सदा ऊर्ध्वरूप से रहता है, रागादि अन्य सब नीचे रह जाता है।

सम्यग्दर्शन और स्वानुभूति सहित आत्मा के अवलम्बन से अन्तर में विशेष स्वरूपस्थिरता प्रगट होने पर मुनिपना प्रगट होता है। अहा! मुनिराज तो समाधिपरिणत होते हैं। आधि, व्याधि और उपाधि से त्रिकाल मुक्त, शान्त एवं वीतराग समाधिस्वरूप निज ज्ञायकस्वभाव के आश्रयरूप परिणति में आधि, व्याधि और उपाधिरहित जो निराकुल शान्त और वीतरागदशा हुई उसे 'समाधि' कहते हैं। अन्यमती साधु-बाबा कहते हैं, वह कोई समाधि नहीं है। आत्मा की प्रतीति के बिना समाधि कैसी है? मन में होनेवाले सङ्कल्प-विकल्प वह आधि, शरीर में होनेवाले रोग वह व्याधि और स्त्री-पुत्र अथवा व्यापार-धन्धे का जञ्जाल वह उपाधि – इन तीनों से रहित आत्मा की जो आनन्दमय दशा वह समाधि। मुनिराज ऐसी समाधिरूप परिणत हैं। बाहर से मात्र नग्नपना या पञ्च

महाव्रतादि के शुभपरिणाम वह कोई परमार्थ मुनिपना नहीं है। जो सहजरूप से समाधिपरिणत हों वे ही मुनि कहलाते हैं।

वे ज्ञायक का अवलम्बन लेकर विशेष-विशेष समाधिसुख प्रगट करने को उत्सुक हैं।

मुनिराज समाधिकपरिणत तो हैं परन्तु सनातन शुद्ध निज ज्ञायक द्रव्यसामान्य का अवलम्बन लेकर विशेष-विशेष समाधिसुख प्रगट करने के लिए वे अति आतुर हैं। जैसे, पाँच लाख का आसामी पच्चीस लाख कमाने की भावना करे, वैसे ही मुनिराज निजज्ञायक के उग्र अवलम्बन से प्रचुर समाधिसुख प्रगट करने को अति उत्सुक हैं।

मुनिवर श्री पद्मप्रभमलधारिदेव कहते हैं कि मुनि 'सकलविमल केवलज्ञानदर्शन के लोलुप' हैं।

अज्ञानी मनुष्य पैसा, प्रतिष्ठा और वैभव का लोलुपी-तृष्णातुर होता है, धर्मी जीव आत्मसाधना के लोलुपी-आसक्तिवान हैं। मुनिराज तो विशेष आत्मसाधना के लोलुपी अर्थात् परिपूर्ण निर्मल केवलज्ञान तथा केवलदर्शनादि अनन्त क्षायिक लब्धियाँ प्रगट करने के लोलुपी हैं।

मुनिराज निज ध्रुव ज्ञायकस्वभाव का अवलम्बन लेकर विशेष-विशेष समाधिसुख प्रगट करने को अति आतुर हैं। पर्याय-अपेक्षा से अभी जो राग-द्वेषरूप असमाधि है वह कहीं चारित्रमोहनीय कर्म के कारण नहीं है, अपनी निर्बलता से है। जड़कर्म का तो आत्मा में अभाव है; आत्मा और कर्म दोनों बिलकुल पृथक् हैं; सब द्रव्य अपने-अपने गुण-पर्यायों को चूमते हैं, परस्पर एक-दूसरे के गुण-पर्याय को कभी नहीं चूमते। अनुकूल तथा अनुरूपपने का परस्पर निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध पर्याय-अपेक्षा से होने पर भी वे एक-दूसरे में जबरदस्ती कोई हस्तक्षेप नहीं कर सकते। राग-द्वेषरूप असमाधि के परिणाम अपनी परिणति में जीव स्वयं स्वतन्त्ररूप से करता है, कर्म की जबरदस्ती से नहीं। जड़कर्म का सम्बन्ध तो द्रव्यसंसार है, भावसंसार तो कर्मोदय के अनुरूप होनेवाली आत्मा की अमूर्तिक विकारी पर्याय है।

जीव को संसार से मुक्त होने की अभिलाषा होती है परन्तु संसार कहना किसे ?

क्या स्त्री, पुत्र और परिवार ही संसार है ? क्या उनसे मुक्त होना है ? मरने पर तो वह सब अज्ञानी जीव को भी छूट जाता है, तो उसे जीव की मुक्ति हुई कहा जाए ? वास्तव में यह संसार है ही नहीं; संसार तो जीव की अपनी मोह-रोग-द्वेषमय विभावपरिणति है; उसका अभाव होने पर जीव की मुक्ति होती है। स्वभाव से तो जीव कर्म से और विभाव से सदा मुक्त ही है परन्तु पर्याय में अपने अपराध से जो विकृति हुई है उससे स्वभाव का आश्रय लेकर मुक्त होना है।

प्रश्न : कर्म और आत्मा का कितना सम्बन्ध है ?

उत्तर : परमार्थ से कोई सम्बन्ध नहीं है। कर्म का सब - प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभाग आदि सब कर्म में है और आत्मा का सब - गुण, स्वभावपर्याय, विकारी पर्याय आदि सब आत्मा में हैं। जिस प्रकार कर्म में उसके प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभाग आदि हैं, वैसे ही उन प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभाग के अनुरूप योग्यता-विभाव परिणमन-जीव में है। जीव की वह योग्यता जीव के अपने कारण है, कर्म के कारण नहीं; क्योंकि एक द्रव्य के परिणाम अन्य द्रव्य के परिणामों को स्पर्श नहीं करते, प्रत्येक द्रव्य अपने ही परिणामों को चूमता है।

मिथ्यात्व और राग-द्वेषरूप जो भाव है वही असमाधि, दुःख और संसार है। स्व के आलम्बन से भ्रान्ति का नाश करके जिसने सम्यग्दर्शन और अनन्तानुबन्धी कषाय के अभावस्वरूप स्वरूपाचरण चारित्र प्रगट किया वह मिथ्यात्वरूपी संसार से मुक्त हो गया। स्वरूप में स्थिरतारूप पूर्व चारित्र प्रगट होने से वह अचारित्ररूप संसार से मुक्त होता है। मुनिराज तो विकार से अति भिन्न हो गये हैं, इसलिए प्रचुररूप से समाधिपरिणत हैं; मिथ्यात्व और अविरतिरूप संसार से मुक्त हो गये हैं। जितना असमाधि का नाश हुआ, उतनी समाधि प्रगट हुई है। 'लोगस्स' के पाठ में आता है न! कि 'समाहिवर मुक्तमं दिन्तु'; वह कौनसी समाधि? ज्ञायक आत्मा में शक्तिरूप से जो आनन्द, शान्ति और समाधि भरी पड़ी है, उसके अवलम्बन से पर्याय में जो आनन्द एवं शान्तिरूप निर्मलता प्रगट हो, उसे समाधि कहते हैं। जिस प्रकार लड्डुओं के भोजन से लोगों की तृप्ति होती है, उसी प्रकार साधक जीव को अन्तर में स्वभाव के आश्रय से आनन्द के भोजनरूप

समाधि से तृप्ति होती है, समाधिपरिणत मुनिवर तो निज ज्ञायक के उग्र अवलम्बन द्वारा विशेष-विशेष समाधि सुख प्रगट करने के लिए अत्यन्त लालायित हैं, सकलविमल केवलज्ञान-दर्शन के लोलुपी हैं।

स्वरूप में कब ऐसी स्थिरता होगी जब श्रेणी लगकर वीतरागदशा प्रगट होगी ? कब ऐसा अवसर आएगा जब स्वरूप में उग्र रमणता होगी और आत्मा का परिपूर्ण स्वभावज्ञान-केवलज्ञान प्रगट होगा ? कब ऐसा परम ध्यान जमेगा कि आत्मा शाश्वतरूप से आत्मस्वभाव में ही रह जाएगा ? ऐसी भावना मुनिराज को वर्तती है।

मुनिराज अभी साधकदशा में-अपूर्ण शान्ति एवं समाधि में वर्त रहे हैं परन्तु स्वरूपस्थिरता उग्र करके पूर्व परमात्म दशा प्रगट करने हेतु वे अति उत्सुक हैं, लालायित हैं। अहा! देखो यह मुनिदशा! अनाकुल आनन्द के सागरस्वरूप ज्ञायकप्रभु में-निज चैतन्यस्वरूप में ऐसी अति प्रचुर स्थिरता कब होगी कि जिससे श्रेणी लगाकर पूर्ण वीतरागदशा प्रगट हो ? मुनिराज को तीन कषाय के अभाव जितनी स्वरूपस्थिरता तो है परन्तु पूर्ण वीतरागदशा प्रगट हो ऐसी धारावाही शुद्धि की श्रेणी के कारण स्वरूप उग्र स्वरूपस्थिरता कब होगी ? जिसके फल में केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनन्तसुख तथा अनन्तवीर्य आदि क्षायिक लब्धियाँ प्रगट हों ऐसी बारहवें गुणस्थान की पूर्ण वीतरागता, निजज्ञायक स्वरूप में उग्र स्थिति होकर, कब प्रगट होगी ? ऐसी भावना मुनिराज को वर्तती है। मुनिराज कहते हैं कि हमारा आत्मा अनन्तगुण से भरपूर अनन्त अमृतरस से भरपूर, अक्षय घट है। उस घट की पतली धार से अल्प अमृत का पान हो ऐसे स्वसंवेदन से हमें सन्तोष नहीं होता। हमें तो ऐसी पूर्ण दशा चाहिए कि प्रतिसमय पूर्ण अमृत का पान करते रहें। कब प्रगट होगी ऐसी पूर्ण दशा ? - ऐसी भावना के समय भी मुनिराज की दृष्टि तो सदा शुद्ध आत्मद्रव्य पर ही है।

अहा! वीतरागता ही मोक्ष का मार्ग है। जीव का निज स्वरूप वीतराग है.... वीतराग है..... वीतराग है - ऐसा जो बारम्बार कहते हैं, वही गुरु पदवी को शोभा देता है, वही मुनिराज का उपदेश है। व्रतादि का-व्यवहार का जो उपदेश है, वह तो भूमिकानुसार कैसा राग तथा कैसा आचरण होता है ? उसका ज्ञान कराने के लिये है परन्तु प्रगट करने योग्य

तो त्रैकालिक शुद्ध ज्ञायकस्वभाव के अवलम्बन से होनेवाली वीतरागता ही है। चौथे, पाँचवें और छठवें गुणस्थान में भूमिकानुसार व्यवहार का विकल्प होने पर भी अन्तर में अपनी-अपनी दशा के अनुसार सम्यग्दर्शन-ज्ञान तथा अंशतः स्वरूपस्थिरतारूप वीतरागता होती है। वीतरागी साधनारूप परिणत मुनिराज, सकल विमल केवलज्ञान दर्शन के लोलुपी हैं; व्रत, तप, भक्ति, स्वाध्यायादि विकल्पों के लोलुपी नहीं हैं, ज्ञाता हैं और ज्ञान की-साधना की पर्याय को पूर्ण करने के लोलुपी हैं। सहज ज्ञानसागर निज ज्ञायक वस्तु के आलम्बन से अन्तर में-पर्याय में ज्वार आया है, सम्यक् मति-श्रुतज्ञान की मौजें उछल रही हैं परन्तु प्रति समय में परिपूर्ण ऐसा जो केवलज्ञान, उसके मुनिराज अभिलाषी हैं।

अहा! ऐसी स्वरूपस्थिरता कब होगी कि श्रेणी लगकर पूर्ण वीतरागदशा प्रगट हो? कब ऐसा अपूर्व अवसर आये कि सहजस्वरूप में उग्र रमणता हो और आत्मा का परिपूर्ण स्वभाववान-क्षायिक केवलज्ञान प्रगट हो? — ऐसी भावना मुनिराज को वर्तती है। शास्त्रों में आता है न! कि व्रतों की रक्षा हेतु पाँच-पाँच भावनाएँ, अर्थात् पाँच महाव्रतों की पच्चीस भावनाएँ करना परन्तु वे तो भूमिकानुसार अशुभभावों से बचने के लिए, शुभविकल्प की बात है; वास्तव में अवयवरूप सम्यक्मति-श्रुतज्ञानरूप से परिणत मुनिराज को सहजस्वरूप में उग्र रमणता साधकर अवयवी ऐसा पूर्ण केवलज्ञान प्रगट करने की लोलुपता-आतुरता है। मति-श्रुतज्ञान, वह अंश है और केवलज्ञान, वह अंशी है। पूर्ण अंशी को प्राप्त करने की मुनिराज को अभिलाषा है। अहा! ऐसी बात है।

जैन मुनिदशा वह कोई अलौकिक वस्तु है; वह दशा कहीं मात्र शुभविकल्प में या बाह्य क्रियाकाण्ड में नहीं है। वन में वास करना, नग्नरूप से रहना, एक-एक महिने के उपवास करना, वह कोई अन्तरङ्ग मुनिदशा नहीं है। मुनिराज तो भीतर अपने स्वरूप में निवास करते हैं; जङ्गल में रहते हैं — ऐसा कहना तो बाह्य व्यवहार है; वे तो अन्तर में अतीन्द्रिय आनन्द का आहार करते हैं। उन्हें रोटी के त्यागरूप उपवासी कहना तो व्यवहार का कथन है। मुनिराज को तो सहज ज्ञानानन्दस्वरूप में उग्र रमणता द्वारा क्षायिक ज्ञान / केवलज्ञान प्रगट करने की भावना वर्तती है।

कब ऐसा परम ध्यान लगेगा कि आत्मा शाश्वतरूप से आत्मस्वभाव में ही रह

जाए ? – ऐसी भावना मुनिराज को वर्तती है। सहज ज्ञानस्वरूप तथा सहज आनन्दस्वरूप ऐसा निज भगवान आत्मा जहाँ दृष्टि एवं ज्ञानपूर्वक अनुभव में आया, उसके अवलम्बन से प्रगट होनेवाले अतीन्द्रिय आनन्द का अंशतः स्वाद आया, वहाँ वह पूर्णानन्द का नाथ पर्याय में पूर्णानन्दरूप से कब प्रगट होगा, पूर्णानन्द के साधनरूप वह परम ध्यान कब लगेगा कि जिससे आत्मा शाश्वतरूप से आत्मस्वभाव में ही रह जाए – ऐसी भावना मुनियों को होती है।

दुनिया को मैं समझाऊँ, दुनिया मुझसे समझे; मैं कब शास्त्रों की रचना करूँ ? आदि भावना मुनिराज को नहीं होती। अरे ! विकल्पमात्र की या अपूर्णदशा की भावना भी उनको नहीं होती; उनको ऐसी भावना रहती है कि कब ऐसा परम ध्यान लगेगा कि जिससे आत्मा शाश्वतरूप से आत्मस्वभाव में-सादि अनन्त-अनन्त समाधिसुख में समा जाए ?

नियमसार के टीकाकार श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव ने टीका के प्रारम्भ में कहा है न ! कि गुणों के धारी गणधरों द्वारा रचित और श्रुतधरों की परम्परा के भलीभाँति व्यक्त किये गये इस परमागम के अर्थसमूह का कथन करनेवाले हम मन्दबुद्धि कौन होते हैं ? तथापि अभी हमारा मन परमागम के सार की पुष्ट रुचि से पुनः पुनः अत्यन्त प्रेरित होता है। उस रुचि से प्रेरित होने के कारण 'तात्पर्यवृत्ति' नाम की यह टीका रची जा रही है। टीकाकार मुनिराज कहते हैं कि नियमसार में प्ररूपित गूढ़ भाव तो गणधरों तथा श्रुतधरों की परम्परा से चले आ रहे हैं; उन भावों को टीका में भरनेवाले हम मन्दबुद्धि कौन होते हैं ?

अहा ! जिन्होंने पञ्चम परमपारिणामिकभाव-त्रिकालशुद्ध कारणपरमात्मा-टीका में खूब गाया है, वे टीकाकार मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव अपनी लघुता व्यक्त करते हुए कहते हैं कि नियमसार की टीका रचनेवाले हम मन्दबुद्धि कौन होते हैं ? उन्होंने परमपारिणामिकभाव को 'स्वभाव' रूप से ऐसा दीपित किया है, जमाया है, शोभित किया है कि उनके समक्ष क्षायिकभावरूप पूर्ण पर्याय भी 'परभाव' है। शुद्ध निश्चयनय से औपशमिक, क्षायोपशमिक, क्षायिक तथा औदयिक – यह चारों भाव परभाव हैं, एक परमपारिणामिकभाव ही आश्रय करने योग्य होने से स्वभाव हैं। ज्ञानी को आलम्बनरूप से क्षायिकभावरूप पूर्ण पर्याय की भावना नहीं है; क्योंकि क्षायिकभावरूप पर्याय के अवलम्बन

से नवीन निर्मल पर्याय प्रगट नहीं होती। जिसमें अनन्तानन्त गुणरत्न भरे पड़े हैं ऐसे त्रिकालशुद्ध परम पारिणामिकभाव-स्वरूप भगवान ज्ञायक आत्मा के अवलम्बन से, उसके आश्रय से, उसकी भावना से मोक्षमार्ग तथा मोक्षमार्गरूप निर्मल पर्याय प्रगट होती है। ज्ञानी ऐसा भाता है कि 'जो सकलनिरावरण-अखण्ड-एक-प्रत्यक्षप्रतिभासमय-अविनश्वर-शुद्धपारिणामिकपरम-भावलक्षण निज परमात्म द्रव्य वही मैं हूँ' परन्तु ऐसा नहीं भाता कि 'खण्डज्ञानरूप मैं हूँ।' अरे! व्यवहार-रत्नत्रय के शुभराग की भावना तो नहीं, परन्तु सम्यक्त्व का जो क्षायिकभाव प्रगट हुआ उसकी भावना नहीं, क्योंकि वह तो पर्याय की भावना है; पर्याय की भावना से क्या होगा? त्रैकालिक परमभाव की भावना से, उसके अवलम्बन से ही धर्म की समस्त पर्यायें प्रगट होती हैं। यहाँ तो यह बात चलती है कि 'कब स्वरूप में ऐसी लीनता हो कि श्रेणी लगकर पूर्ण वीतरागदशा प्रगट हो? कब ऐसा अवसर आये कि स्वरूप में उग्र रमणता हो और आत्मा का परिपूर्ण स्वभावज्ञान-केवलज्ञान प्रगट हो? कब ऐसा परम ध्यान लगे कि आत्मा शाश्वतरूप से आत्मस्वभाव में ही समा जाए?' – ऐसी भावना मुनिराज को वर्तती है।

आत्मा के आश्रय से एकाग्रता करते-करते वे केवलज्ञान के समीप जा रहे हैं।

प्रगट हुई निर्मल पर्याय के आश्रय से नहीं; अपितु परमज्ञायकभावरूप आत्मा के आश्रय से, एकाग्रता करते-करते श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव, अमृतचन्द्राचार्य आदि मुनिवर केवलज्ञान के समीप जा रहे हैं। अहा! पञ्चम काल के सन्त भी ऐसी भावना करते हैं। यह तो पञ्चम काल के मुनियों की बात है न? सच्चे वीतरागी सन्त ऐसी भावना करते-करते केवलज्ञान के समीप जा रहे हैं।

प्रचुर शान्ति का वेदन होता है।

प्रचुर स्वसंवेदन ही मुनिराज का निजवैभव है। निरन्तर जिसका आस्वादन हो रहा है – ऐसा सुन्दर जो अतीन्द्रिय आत्मिक आनन्द, उसकी मुद्रावाला जो प्रचुर संवेदनस्वरूप स्वसंवेदन, वही मुनिराज का अन्तरङ्ग लक्षण है। वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा श्री जिनेन्द्रदेव के पथ पर चलनेवाले मुनि वे कहलाते हैं कि जिनको स्वभाव के आलम्बन से परिणति में प्रचुर शान्ति का वेदन हो। अरे! वर्तमान में तो कितने ही नामधारी दिगम्बर साधु भी ऐसा

कहते हैं कि छठवें गुणस्थान तक अकेला शुभराग, अर्थात् व्यवहार ही होता है; तो क्या चौथे, पाँचवें और छठवें गुणस्थान में अन्तरस्वभाव के आश्रय से प्रगट होती शुद्धिरूप निश्चयपरिणति नहीं है ? यदि निश्चयपरिणति नहीं है तो धर्म काहे का ? श्रद्धागुण की सम्यग्दर्शनरूप निश्चयपरिणति तो चौथे गुणस्थान में प्रारम्भ हो जाती है, उसकी क्षायिकरूप पूर्णता भी कितने ही जीवों को वहीं हो जाती है। मुनिराज को तो सम्यक् श्रद्धा और ज्ञान के अतिरिक्त स्वरूपस्थिरता भी बहुत बढ़ गयी है, इसलिए उनको अन्तरङ्ग में प्रचुर शान्ति का वेदन होता है।

कषाय बहुत मन्द हो गये हैं।

मुनिराज को त्रिकालशुद्ध अकषायस्वभावी ज्ञायकतत्त्व के श्रद्धान, ज्ञान तथा स्थिरताभाव के प्रचुर अवलम्बन से अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरणीय सम्बन्धी कषायों की तीन चौकड़ी का अभाव तो हो गया होता है और संज्वलन कषाय का उदय वर्तता है परन्तु वह भी अति मन्द। पञ्च महाव्रतादि अट्ठाईस मूलगुण के जो विकल्प आते हैं, उनके भी वे ज्ञाता हैं, कर्ता नहीं हैं। प्रचुर स्वसंवेदन के कारण, कषायें अत्यन्त मन्द हो गयी हैं।

कदाचित् कुछ ऋद्धियाँ-चमत्कार भी प्रगट होते होते हैं परन्तु उनका उनके प्रति दुर्लक्ष है।

किन्हीं-किन्हीं मुनिराज को शुद्धात्म साधना की पवित्रता के साथ कदाचित् कोई ऋद्धि-लब्धि-चमत्कार भी प्रगट हो जाता है। आहारग्रहण के अवसर पर श्रावक के घर थाली में रखे हुए दो लड्डुओं पर मुनिराज की दृष्टि पड़े तो उनकी लब्धि के प्रताप से चक्रवर्ती की सारी सेना खा ले, तथापि लड्डू कम न हों – ऐसी मुनिराज को ऋद्धि प्रगट हुई हो, परन्तु उसका उसके प्रति लक्ष्य नहीं है।

विष्णुकुमार मुनिराज को विराट और वामनरूप धारण करने की ऋद्धि प्रगट हुई थी परन्तु उन्हें स्वयं को खबर नहीं थी। हस्तिनापुर के उपवन में अकम्पनाचार्य आदि सात सौ मुनिवरों पर बलिराजा ने अग्नि का उपसर्ग किया। दूरवर्ती क्षेत्रस्थित किन्हीं मुनिराज को अपने अवधिज्ञान के द्वारा उसका ख्याल आया। उन्होंने पुष्पदन्त क्षुल्लक को विष्णुकुमार मुनिराज के पास भेजा कि वे अपनी ऋद्धि के द्वारा इस महान अनर्थ को रोके। विष्णुकुमार

मुनि तो अपनी स्वरूपसाधना में मग्न थे, अपने को प्रगट हुई लब्धि की भी उन्हें खबर नहीं थी। क्षुल्लक ने कहा – ‘प्रभो! आपको छोटा-बड़ा रूप धारण करने की लब्धि प्रगट हुई है। आप अपना हाथ लम्बा कीजिए।’ विष्णुकुमार ने हाथ लम्बा किया तो मानुषोत्तर पर्वत तक पहुँच गया।

अहा! मुनिराज को आत्मा के ज्ञानानन्दमय चैतन्यचमत्कार के समक्ष बाह्य चमत्कारों के प्रति किञ्चित् लक्ष्य नहीं है। जो चमत्कार प्रगट हुआ उसे दुनिया को बतलाऊँ तो मुझे सम्मान मिले, मेरी प्रसिद्धि हो, लोग मेरी पूजा करें – ऐसी हीन भावना तो दूर रही परन्तु जो ऋद्धि या चमत्कार प्रगट हुआ हो, उसके प्रति लक्ष्य ही नहीं है। उनको तो एकमात्र केवलज्ञान और पूर्णानन्दस्वरूप अन्तरङ्ग स्वभावऋद्धि शीघ्र प्रगट करने की भावना है।

‘हमें ये चमत्कार नहीं चाहिए। हमें तो पूर्ण चैतन्यचमत्कार चाहिए। उसके साधनरूप, ऐसा ध्यान-ऐसी निर्विकल्पता – ऐसी समाधि चाहिए कि जिसके परिणाम से असंख्य प्रदेशों में प्रत्येक गुण उसकी परिपूर्ण पर्याय से प्रगट हो, चैतन्य का पूर्ण विलास प्रगट हो।’ इस भावना को मुनिराज आत्मा में अत्यन्त लीनता द्वारा सफल कहते हैं।

मुनिराज को ऐसी लब्धि प्रगट हो कि उनके शरीर का स्पर्श करके आयी हुई वायु रोगी के शरीर को छू ले तो उसका चाहे जितना भयङ्कर असाध्य रोग मिट जाए परन्तु उससे क्या? वह तो पुण्यप्रकृति का फल है, उसमें आत्मा कहाँ आया? मुनिराज कहते हैं हमें यह बाहरी चमत्कार नहीं चाहिए; हमें तो पूर्ण ज्ञानानन्दस्वरूप चैतन्यचमत्कार की आवश्यकता है। केवलज्ञान के लोलुपी को ऐसे बाह्य चमत्कारों से क्या साध्य है? मुझे अभी बहुत मार्ग काटना है, इसलिए मैं ऐसे चमत्कारों में नहीं रूकूँगा। अपने गाँव जानेवाले यात्री को कोई अच्छा स्वागत-सम्मान करके रोकना चाहे तो वह रुकता नहीं है, अन्धेरा होने से पहले वह अपने गाँव पहुँच जाता है; वैसे ही मुनिराज, मोक्षमार्ग में प्रयाण करते हुए मार्ग में बीच में अनेक लब्धियाँ प्रगट हों, तब भी उनमें रुकते नहीं हैं, शेष बचा मार्ग काटकर शीघ्र केवलज्ञान में-मोक्षनगरी में पहुँच जाते हैं। हमारा आत्मा पूर्णानन्द से भरपूर है; वह पर्याय में प्रगटरूप से हमें अन्तर में जो वीतराग शिक्षण चल रहा है, वह वृद्धिज्ञत होकर पूर्ण वीतरागरूप हो जाओ!

उसके साधनरूप से, ऐसा ध्यान-पूर्णानन्द ज्ञायक में लीनता होना चाहिए कि जिसके परिणामरूप आत्मा के प्रत्येक प्रदेश में केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनन्तसुख, अनन्तवीर्य आदि परिपूर्ण गुणपर्यायें प्रगट हों। केवलज्ञान एवं पूर्णानन्द आदि पूर्ण पर्यायें प्रगट करने का साधन क्या? पञ्च महाव्रतादि विकल्प या दृढ़ संहनन आदि पर वस्तुएँ साधन नहीं हैं परन्तु निजशुद्धात्मा के अवलम्बन से प्रगट हुई स्वरूपलीनता, स्वरूपमग्नतारूप ध्यान, निर्विकल्प स्थिरता, स्वरूपसमाधि वह केवलज्ञानादि पूर्ण चैतन्यत्रयद्वियाँ प्रगट होने का साधन है। केवलज्ञान एवं पूर्णानन्दस्वरूप चैतन्य चमत्कार प्रगट होने के साधनरूप से ऐसी समाधि चाहिए कि जिसके परिणाम में निज असंख्य प्रदेशों में परमानन्द का सुकाल हो जाए, सर्व गुण अपनी-अपनी परिपूर्ण पर्याय से विकसित हो उठें। इस भावना को मुनिराज आत्मा में अत्यन्त लीनता द्वारा सफल करते हैं। अहा हा! भाषा तो देखो! कितनी सरल, सरस और सुगम है!

मुनिराज भावना करते हैं कि केवलज्ञानादि पूर्णदशा के साधनरूप से ऐसा ध्यान – ऐसी निर्विकल्पता – ऐसी समाधि चाहिए कि जिससे असंख्य प्रदेशों में प्रत्येक गुण उसकी पूर्ण पर्याय से प्रगट हो। अहो! जीव के असंख्य प्रदेश भी सिद्ध किये; असंख्य प्रदेशों की बात वीतरागसर्वज्ञ के सिवा अन्यत्र कहीं है ही नहीं। आत्मा के असंख्यप्रदेशों में उसका प्रत्येक गुण व्याप्त होता है। ध्यान के परिणामरूपी असंख्य प्रदेशों में सर्वगुण अपनी-अपनी परिपूर्ण पर्यायरूप से-परिपूर्ण विकसित होकर प्रगट होओ। ऐसा कहकर जीव को असंख्यप्रदेशी 'द्रव्य' सिद्ध किया। असंख्यप्रदेश में प्रत्येक गुण उसकी परिपूर्ण पर्याय से प्रगट हो – ऐसा कहकर यह सिद्ध करना है कि एक गुण की पर्याय के परिपूर्ण परिणमन में अन्य गुण की पर्याय का पूर्ण परिणमन साधन नहीं है परन्तु अनन्त गुण स्वयं अपनी-अपनी पूर्ण पर्याय से प्रगट होते हैं। ऐसी पूर्णदशा प्रगट करने की मुनिराज की भावना होती है।

प्रत्येक गुण पर्याय में पूर्ण प्रगट होओ – ऐसी मुनिराज की भावना होती है। प्रत्येक गुण, पर्याय में अंशतः तो चौथे गुणस्थान से प्रगट होता है, मुनिराज को तो उसके बहुत अंश प्रगट हुए हैं – पर्याय में प्रगट हुए हैं हाँ! 'श्रीमद्' में आता है न! कि 'सर्वगुणांश सो

सम्यक्त्व ।' पण्डित टोडरमलजी की रहस्यपूर्ण चिट्ठी में कहा है कि 'चौथे गुणस्थान में ज्ञानादि गुण एकदेश प्रगट होते हैं ।' प्रत्येक गुण पर्याय में पूर्ण प्रगट हो उसका अर्थ यह कि 'चैतन्य का पूर्ण विलास प्रगट हो ।' क्या कहा ? कि असंख्यप्रदेशी भगवान आत्मा जो ज्ञानादि अनन्त गुणों से भरा है, उसका पूर्ण विलास प्रगट हो । अहा ! पञ्चम काल के सन्त भी ऐसी भावनावाले होते हैं ।

इस भावना को मुनिराज आत्मा में अत्यन्त लीनता द्वारा सफल करते हैं । मुनिराज को आत्मा में लीनता तो है परन्तु उसमें अत्यन्त लीनता करके वे भावना को सफल करते हैं । अहा ! कितने सरस पैरे हैं ! मुनिराज आत्मा में लीनता द्वारा अपनी भावना को सफल करते हैं, किसी निमित्त या राग द्वारा नहीं । अहा ! ऐसी बात है ! इसे सिद्धान्त कहा जाता है । ●

(वचनमृत प्रवचन, भाग-4, पृष्ठ-171)

ऐसे मुनिराज दुर्लभ हैं

मुनिजन अन्तरङ्ग में किञ्चित् भी छिपाये बिना, सरलता से पात्र जीवों को सर्व रहस्य का उपदेश करते हैं । उपदेश के विकल्प को भी वे अपना नहीं मानते । जिनको शरीर और विकल्प का ममत्व नहीं है तथा जो आहार एवं उपदेशादि के विकल्प को तोड़कर वीतरागस्वभाव में स्थित हैं — ऐसे उत्तम आकिञ्चन्यधर्म में रत मुनिगण, इस संसार में धन्य हैं । उनके चारित्रदशा विद्यमान है, केवलज्ञान प्राप्त करने की पूरी तैयारी है । बारह अङ्ग का ज्ञान होने पर भी उसमें आसक्ति नहीं है । किसी समय किञ्चित् उपदेशादि की वृत्ति उठती है, उसे छोड़कर स्वभाव में एकदम सम्पूर्ण स्थिरता द्वारा केवलज्ञान प्रगट करने के अभिलाषी हैं — ऐसे मुनिजन दुर्लभ हैं ।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, दशधर्म प्रवचन, पृष्ठ ९२